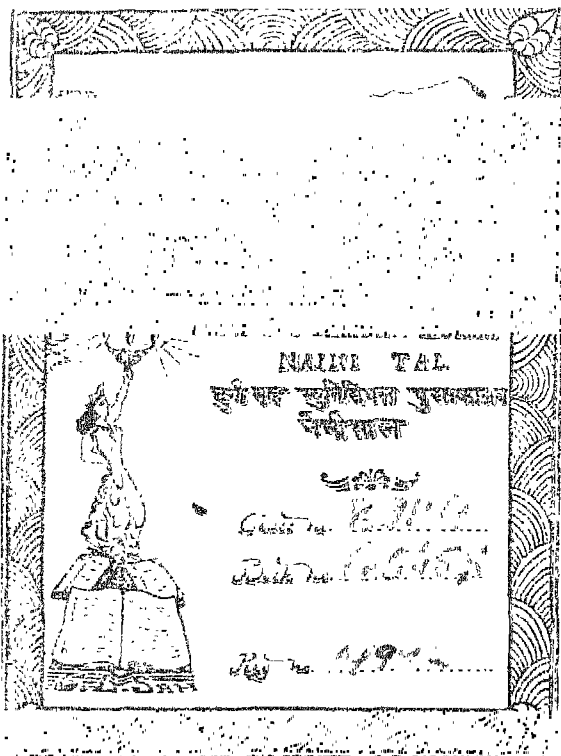

NAINI TAL
दुर्गासाह म्युनिसिपल पुस्तकालय
नैनीताल
Class No.
Book No.
Reg No.

साहित्य सरोवर

[मौलिक एवं समीक्षात्मक निबन्ध संग्रह]

लेखक

डा० गोपीनाथ तिवारी, एम० ए०, पी-एच० डी०

हिन्दी विभाग

गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

प्रकाशक

गयाप्रसाद एण्ड संस : आगरा

प्रकाशक : प्रकाशन-विभाग
गयाप्रसाद एण्ड संस
बाके विलास, सिटी स्टेशन रोड, आगरा



मुख्य विक्रेय-केन्द्र : गयाप्रसाद एण्ड संस, हॉस्पीटल रोड, आगरा
ऑरियंटल पब्लिशर्स, परेड, कानपुर
श्री अलमोड़ा बुक डिपो, गांधी मार्ग, अलमोड़ा
पॉपुलर बुक डिपो, चौड़ा रास्ता, जैपुर
लॉयल बुक डिपो, पाटनकर बाजार, गवालियर
कैलाश पुस्तक सदन, हमीदिया रोड, भोपाल



पुस्तक का मूल्य :
८ रुपया



पुस्तक का संस्करण : अक्टूबर १९६०



मुद्रक :
जगदीशप्रसाद, एम० ए०
एज्यूकेशनल प्रेस, आगरा

समर्पित

श्रद्धेय श्री भैरवनाथ झा

उपकुलपति गोरखपुर विश्वविद्यालय

को

लेखक की कुछ अन्य कृतियाँ

भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य (उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत)

हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार

ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा

नेताजी एवं अन्य एकांकी

प्रभापुंज (कहानी संग्रह)

कुछ कहना तो है ही

पुस्तकों के भण्डार का नाम ही साहित्य है। पुस्तक या कृति है क्या ? जब कवि या लेखक विशिष्ट शब्दों में अपने जीवन के सार को लिखता है, तब पुस्तक या कृति का जन्म होता है। जीवन का सार क्या है ? भिन्न-भिन्न मनीषी भिन्न-भिन्न दृष्टि से इसका उत्तर देंगे। हमारी समझ में जीवन का अनुभव ही सार है। जैसे-जैसे मनुष्य ऊँची नीची सीढ़ियों को लांघता हुआ आगे बढ़ता है, वह अनुभव की दीर्घ भूमिका में प्रवेश करता जाता है। बालपन, युवावस्था और प्रौढ़ काल, ये अनुभव के उत्तरोत्तर विकसित द्वार हैं। मनुष्य जैसे-जैसे एक द्वार को छोड़ कर दूसरे द्वार तक गतिमान होता है, उसका अनुभव अधिक घना, गहरा और दृढ़ होता है। शब्दों के द्वारा यही अनुभव मौखिक एवं लिखित रूप में प्रकट हुआ करता है। अनुभव की प्रौढ़ता निर्भर है एक ही मार्ग पर निरन्तर बढ़ने में। दो युग के अध्यापकी जीवन ने कुछ सोचा और विचारा है, कुछ चिन्तन और मनन किया है, जीवन और ग्रन्थों से पढ़ा है और छात्रों तक उसे पहुँचाया है। इसी जीवन का सार इस पुस्तक में आ बैठा है। भाव, ही विचार और स्वभाव का रूप अपना लेते हैं। जो आज भाव हैं, कुछ समय बाद वे पुष्ट विचार बन जाते हैं और कालान्तर में वे स्वभाव का रूप धारण लेते हैं। आज दया के भाव उठे हैं। धीरे-धीरे वे इस विचार परम्परा की शृङ्खला बना देते हैं कि दया करना जीवन का आवश्यक धर्म है। फिर दयालु प्रकृति बन जाती है। जो कभी भाव थे आज विचारों का रूप पा चुके हैं। वे भाव एवं विचार पुस्तक पंक्तियों में बोल रहे हैं।

एक एम० ए० का छात्र खड़ा होकर बोला—श्रीमान्‌जी ! तुलसी ने जब सब कुछ संस्कृत ग्रंथों से ही लिया है, निगमागम सम्मतम् ही वे लिखने पर कमर कसे हुए हैं तो उनमें मौलिकता क्या रही ? तुलसी की विशेष कृपा है। उनके ग्रंथों में विशेष रुचि है। अध्ययन करते ध्यान आया—तुलसी ने पशु-पक्षी और कीटों का वर्णन किया है। यह विस्तृत-ज्ञान तुलसी को कहाँ से मिला होगा ? उस समय प्राणी एवं वनस्पति विज्ञान की कक्षाएँ न चलती थीं। एक छात्र ने प्रश्न किया—केशवदास महाकवि भी हैं और पं० रामचन्द्र शुक्लजी के शब्दों में 'हृदय हीन' भी। क्या यह विरोध नहीं ? फलतः इन दोनों दृष्टियों से रामचन्द्रिका पर विचार करके एक प्रवचन का सूत्रपात किया जिसका फल है इस पुस्तक का एक पाठ—"केशवदास की रामचन्द्रिका।" रामचरित मानस के बाद मुझे बिहारी सतसई बहुत रुचिकर प्रतीत होती है। मतिराम का अध्ययन करते हुए सोचा—दोनों की समानताएँ देखी जायँ।

बिहारी की विरहिनी यदि ध्रुव प्रदेश मे चली जाय तो क्या हो, यह ध्यान आते ही "बिहारी की विरहिनी" नामक निबंध लिखा गया था। भूषण पर एक बार बड़ा प्रहार हुआ था और प्रस्ताव हुआ था कि इसे साहित्यरत्न के पाठ्यक्रम से हटा दिया जाय, तभी राष्ट्रीय महाकवि भूषण लिखा गया था। घनानन्द रीति मुक्त कवि था, रीतिकाल के इस दृष्टिकोण को अपनाते हुए भी एक व्याख्यान माला मे मैने प्रतिपादित किया था कि कवि अपने युग से अछूता नही रहता है। प्रसादजी के नाटकों की नारियों का अध्ययन करते हुए "कामायनी की नारी" ने जन्म लिया था। नाटक पर शोध करते हुए कुछ तथ्य सामने आये थे जिनका कुछ प्रतिबिंब नाटक घाट में है। एकांकी का जन्म (१८८४) ब्रजभाषा नाटक युग, नाटक में अनुकरण, भारत दुर्दशा नाट्य रासक नहीं है, प्रसाद का नाट्य विधान पश्चिमी शैली का है—ऐसे कुछ प्रश्न इस नाटक घाट में मुखरित है। बी० ए० एवं एम० ए० के छात्रों को समझने और समझाने के अवसरों पर कुछ कहना पड़ा है। फलतः ऐसे निबंध भी जन्मे, जैसे हिन्दी का नाटक साहित्य, उपन्यास साहित्य, एकांकी का विकास, निबंध का विकास, दो झांसी की रानी, मृगनयनी, प्रेमाश्रम की समस्या इत्यादि। 'तुलसी का जीवन घोर दुःखान्त नाटक' इस पर विचार करते हुए "निराश हृदय का उद्गार-गोदान" अवतरित हो गया था। शोध छात्रों के कारण कुछ पुस्तकें पढ़ी गईं और फलतः कुछ निबंध लिखे गए जैसे कि ऐतिहासिक उपन्यास, चन्द्रगुप्त नाटक की परम्परा इत्यादि।

यह है कहानी इन निबन्धों के जन्म की। वैसे इनमें से कई हिन्दी की मासिक पत्रिकाओं (अनुशीलन, समालोचक, अजंता, अवन्तिका, साहित्य संदेश, माधुरी, सरस्वती, वासंती, सरस्वती संवाद इत्यादि) मे प्रकाश और चर्चा भी पा चुके है।

जो जिससे पाया है, उसे उन्हें लौटाने में संकोच कैसा ?

विषय-सूची

कविता घाट

नाटक घाट

कथा घाट

निबन्ध घाट

कविता घाट

कबीर पर सिद्धों और नाथों का प्रभाव

मनुष्य के ज्ञानार्जन के दो मार्ग हैं। वह पुस्तकों से ज्ञान प्राप्त करता है एवं मनुष्य-जीवन से। कबीर ने दूसरा मार्ग अपनाया, क्योंकि पहला मार्ग उसके लिए बन्द था। कबीरदास ने स्वयं कहा है—

"मसि कागद छुयो नहीं, कलम गही नहीं हाथ।"
"मसि बिनु द्वात कलम बिनु कागज बिनु अच्छर सुधि होई"

फलतः उन्होंने साधुओं से ज्ञान की प्राप्ति की। इस क्षेत्र में वे सिद्धों और नाथों से विशेष प्रभावित हुए। प्रकृति का सर्वमान्य सिद्धान्त है कि प्रत्येक व्यक्ति, भूत का फल होता है और भविष्य के लिये फूल बनता है। प्रत्येक कवि, नेता या सुधारक अपने से पूर्व के विचारों को ग्रहण कर अपना व्यक्तित्व बनाता है। कबीर ने भी सिद्धों और नाथों के विचारों को अपनाया। इनमें भी वह नाथों से विशेष प्रभावित थे। यह प्रभाव दो प्रकार का है—शैली का और विचार का।

शैली का प्रभाव

सिद्धों और नाथों का क्षेत्र, विशेषतया मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग था। उनके चमत्कार भरे व्यक्तित्व एवं अटपटे उपदेशों से मध्यम एवं निम्न श्रेणी के नारी-नर बहुत प्रभावित थे। फलतः उन्होंने पंडितों की संस्कृत का मोह छोड़ कर जनभाषा को अपनाया। कबीरदासजी के सामने भी यही समस्या थी। उनके श्रोता भी निम्न वर्ग और मध्यम वर्ग के थे। अतः उन्होंने प्रचलित जनभाषा में अपना उपदेश-कोष लुटाया और कहा—

संस्कृत है कूप जल, भाषा बहता नीर।

सिद्धों और नाथों ने व्याकरण, छन्द, अलङ्कार एवं अन्य काव्य-शास्त्र के नियमों को दूर ही खड़ा रक्खा था। जो मन में आता था, कह डालते थे। कबीर ने भी यही मार्ग ग्रहण किया। फलतः उनकी भाषा व्याकरण, एवं काव्यशास्त्र के अंकुश की चिन्ता न कर आगे भागती है। सिद्धों और नाथों की नाईं कबीरदासजी ने भी सरल और सर्वजन बोधगम्य प्रतीकों का प्रयोग किया। उन्होंने सिद्धों और नाथों के शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग किया। शून्य, करुणा, समरस, अगमजाप, सबद, सहज, निरंजन, अलख, ऐसे ही शब्द हैं। ऐसी अनेक उक्तियां कबीर साहित्य में मिलती हैं जो सिद्धों और नाथों से बहुत थोड़े हेर-फेर से ले ली गई हैं। सिद्ध कण्हपा का एक दोहा है—

जिम लोण विलिज्जइ पाणिएइ
पाणिएहि तिम घरिणिलइ चित्त
समरस जाइ तक्खणे,
जइ पुणु, ते सम णित्त॥

—दोहा कोष, दोहा ३२

कबीरदास ने बहुत थोड़े से परिवर्तन के साथ इसे अपनाया है। केवल चित्त को मन कर दिया है और घरिणि को उनमन बना दिया है। कबीरदास का दोहा इस प्रकार है :—

मन लागा उनमन सौं, उनमन मनहि बिलग।
लूँण बिलगा पांणिया पांणी लूंण बिलग॥

सिद्ध ढेण्ढणपा की दो पंक्तियाँ हैं—

बलद बिआअल गविया बांझे।
पिटता दुहिए ए तिना सांझे।

कबीरदास में ये पंक्तियाँ इस रूप में प्राप्त होती हैं—

बैल बियाइ गाइ भई बाँझ
बछरा दूहैं तीन्यू साँझ।

कबीरदास ने केवल पिटा के स्थान पर "बछरा" बाँध दिया है, अन्यथा कुछ अन्तर नहीं है। इसी प्रकार नाथों की वाणियों को भी कबीरदास ने शब्दशः उधार लिया है। गोरखनाथ जी कहते हैं :—

चंद बिहूंणा चांदिणा तहाँ देख्यां श्री गोरख राइ

कबीर ने इसे इस प्रकार प्रकट किया :—

देख्या चंद बिहूँणा चांदिणा तहां अलख निरंजनराइ

गोरखनाथ का एक दोहा है :—

हिन्दु आषै राम कों मुसलमान षुदाइ
जोगी आषै अलष कौं, तहां राम अछै न षुदाय।

कबीरदास ने इस दोहे को फरमाया :—

हिन्दू मुये राम कहि मुसलमान खुदाइ
कह कबीर सो जीवता, दुहु मैं कदे न जाइ।

सिद्धों ने दोहे और पद लिखे, कबीरदास ने भी। नाथों ने सबदियाँ और जोगेसुर बानियाँ कहीं, कबीर ने भी सबद और बानी का प्रकाश किया। कबीरदास की उलटबासियाँ या विपर्जय प्रसिद्ध हैं। इन उटलबासियों की परम्परा पुरानी है। सिद्धों की "संध्या भाषा" में ऐसी ही उक्तियाँ प्राप्त होती हैं। धम्मपद की एक उक्ति ब्राह्मणों के प्रति है—

मातरं पितरं हंत्वा राजानो द्वे अ खत्तिये
रट्ठं सानुचरं हंत्वा अनिघो याति ब्राह्मणो

—धम्मपद, पृष्ठ १३१

अर्थात् कौनसा ब्राह्मण निष्पाप होता है? जो अपने माता पिता एवं दो क्षत्रिय राजाओं को मार डालता है और अनुचरों सहित राष्ट्र की हत्या कर डालता है। और उलटबासियों के समान इसका मुख्यार्थ प्रधान नहीं है। ब्राह्मण यहाँ ज्ञानी है। ज्ञानी को तभी शुद्धता प्राप्त होती है जब वह "तृष्णा, अहंकार, आत्मादि की नित्यता का सिद्धान्त, जड़वाद एवं रागयुक्त उपादान पदार्थों को नष्ट कर देता है"।[1] संध्या भाषा द्वारा या प्रतीक प्रणाली पर सिद्धों ने जो कुछ कहा, उसमें लक्ष्यार्थ प्रधान था। किन्तु अनेक अनपढ़ों ने शब्दार्थ ग्रहण किया और जीवन में पतन आया। राष्ट्र एवं माता पिता की हत्या की कल्पना भी उचित न थी। नाथों में संध्या भाषा के स्थान पर "उलटी चरचाएँ" हुई—

गगन सिषर महिं बालक बोलै ताका नांव धरहुगे कैसा

—गोरखनाथ

यही उलटी चर्चा कबीर-काव्य में उलटबाँसी या विपर्जय बन गई।

विचारों का प्रभाव

मनुष्य मूलतः अनुकरणात्मक विचारों की प्रवृत्ति रखता है। वह केवल बाह्य

१. पं० परशुराम चतुर्वेदी द्वारा दिया अंश, कबीर साहित्य की परख, पृ० १६।

वेश या शैली का ही अनुकरण करता है। स्त्रियां प्रायः किसी आकर्षक साड़ी या ब्लाउज को देख वैसा ही खरीदने का प्रयास किया करती हैं। किन्तु समझदार व्यक्ति अकारण ही अनुकरण नहीं करते। वे किसी के विचारों से प्रभावित होकर ही उसकी शैली को अपनाते हैं। अंग्रेजों के विचारों से प्रभावित होकर अनेक भारतीय मित्रों ने अंग्रेजी शैली का अनुकरण किया था। कबीरदास जी में सिद्धों और नाथों की शैली का अनुकरण मिलता है, क्योंकि वे सिद्धों और नाथों के विचारों से प्रभावित थे। वास्तव में सिद्धों और नाथों की परम्परा में संत ही हुए हैं। कबीरदास के व्यक्तित्व के पीछे सिद्ध और नाथों के विचारकोष संचित दिखाई पड़ते हैं। इनमें भी वे गुरु गोरखनाथ जी से विशेष प्रभावित थे।

सिद्धों और नाथों ने हिन्दुओं के तीर्थस्थानों और वेदशास्त्रों की निन्दा की। कबीरदास जी भी इसी दृष्टिकोण के थे। तिलोपा ने कहा है कि तीर्थों में डुबकी मारने से देह में पवित्रता नहीं आती है। तीर्थों में जाना एवं देवताओं की सेवा करना व्यर्थ है—

तीर्थ तपोबन न करहु सेवा। देहि शुचि न होवै पावा॥
देव न पूजहु तीर्थ न जावा। देव पूजतें मोक्ष न पावा॥

कबीर ने भी इसी प्रकार तीर्थों की निन्दा करते हुए कहा—

'तीरथ करि करि जग मुआ, डूँधै पाणी न्हाई।'
'अंतरि मैल जे तीरथ न्हावे, तिसु बैकुण्ठ न जाना।
लोक पतीणे कछू न होवै नाही राम अयाना,
जल कै मज्जन जे गति होवै नित नित मेंडुक न्हावई।
जैसे मेंडुक तैसे ओइनर फिरि फिरि जोनी आवहि।'

कण्हपा ने हिन्दू शास्त्रों के पाठकों एवं श्रोताओं को मूर्ख बताया है—

शास्त्रागम बहु पढ़ै सुनै मूढ़। कछुअ न जानै

बाबा गोरखनाथ जी भी इसी विचार से सहमत हो कहते हैं "बेद कतेब न पार्णी वार्णी।"

कबीरदास जी भी इसी मार्ग जाते हुए कहते हैं—

'बेद पढ़े पढ़ि पंडित मूये देखि देखि नारीं।'
'बेद पुरान सिमृति सब खोजे कहूँ न ऊबरनां'

"चारी बेद चहूँमत का विचार,
इहि भ्रमि भूलि परयौ संसार

सुरति सुमृति दोइ को बिसवास,
बाझि परयो सब आसा पास

सिद्धों और नाथों की नाईं कबीरदास जी ने भी गुरु का गुणगान किया है। गुरु की कृपा बिना पार नहीं पहुँच सकते, सिद्धों और नाथों का यह निर्णीत मत है। किन्तु गुरु बनाने में बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए। सरहपा का कथन है कि अंधा गुरु अंधे शिष्य को कैसे जगकूप से काढ़ सकता है?

जाणब आप जाणिज्जइ तावण सिस्स करेइ
अंधा अन्ध कढाव तिम वेण्णवि कूप पड़ेइ।

बाबा गोरखनाथ जी ने भी यही कहा कि गुरु ग्यान सरीखा होना चाहिए एवं शिष्य चित्त जैसा हो यदि ऐसा गुरु न मिले या ऐसा शिष्य न मिले तो अकेला रहना अच्छा है। हाँ, गुरु महान् है और गुरु की खोज करनी ही चाहिए।

ग्यांन सरीषा गुरु न मिलिया चित्तसरीषा चेला
मन सरीषा मेलु न मिलिया तार्थे गोरष फिरै अकेला।

× × × ×

अहसठि तीरथ समंदि समदि यूं जोगी को गुरु सुषी जरनां

कबीरदास जी ने भी गुरु की महत्ता का प्रतिपादन पूरे बल से किया है। वे त गुरु को गोविन्द से भी अधिक मान्यता देने के पक्ष में हैं। गुरु और गोविन्द में वे अन्तर नहीं समझते—

गुरु गोविन्द दोउ एक हैं दूजा सब आकार

गुरु ही में सामर्थ्य है कि वह भवसागर के पार उतार सकता है।

गुरु बिन ज्ञान न उपजै गुरु बिन मिलै न भेव।
गुरु बिन संशय ना मिटै, जय जय जय गुरु देव॥

किन्तु गुरु करने में सावधानी बरतनी चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि अंधे गुरु के हाथ में नौका की पतवार सौंप दी जाय। मूर्ख शिष्य ही ऐसे कपटी गुरुओं के जाल में फँसता है। फिर तो दोनों भवसागर में डूब जाते हैं।

जाका गुरु भी अंधला, चेला खरा निरंध
अंधे अंधा ठेलिया दून्यूं कूप पड़ंत।

सिद्धों और नाथों का शून्य कबीर में भी मिलता है। सरहपा कहते हैं—

विषय विसुद्धे ना रमे केवल शून्य चरेइ

गुरु गोरखनाथ ने भी यही उपदेश दिया कि शून्य में रमो—

अजपा जपै सूंनि मन धरै—तास महादेव बंदै पामा।

कबीरदास का नैहर भी शून्य में है, वे शून्य महल में निवास करते हैं—और शून्य में स्नान भी करते हैं—

"सहज सुंनि नैहरो, गगन मंडल सिरिमोर"
"तपन गई सीतल भया, जब सुंनि किया असनान"

सिद्धों ने इस शून्य मिलन का वर्णन एक विशेष प्रतीकात्मक शैली पर किया है। उन्होंने दाम्पत्य मिलन के प्रतीक द्वारा इस मिलन का स्पष्टीकरण किया है। कन्हपा का कथन है कि जंत्र तंत्र मंत्र का कोई काम नहीं, बस अपनी पत्नी के साथ विहार करो।

एक न किजै मंत्र न जंत्र। निज घरनी लेई केलि करन्त।

कभी उन्हें ब्राह्मण पुत्र द्वारा छुई हुई डोमिन के प्रति अरुचि हो जाती है और वे उसका संग करने को प्रस्तुत नहीं हैं—

नगर बाहिर डोम्बी तोहर कुटिका।
छुइ छुइ जाइ जो बाभन लड़िका॥
अरे डोम्बी तोरे साथ करब न संग॥

डोम्बीपा तो डोमिन से प्रणय याचना करते हैं कि मुझे कहीं दूर ले चल—

ले चल डोम्बी ले चल डोम्बी—बाट सोझारा।

कबीरदास भी इस प्रतीकात्मक शैली पर राम की बहू बने हैं और उन्होंने अपने दाम्पत्य भावों को प्रकट किया है। हाँ, वे गोपियों की भाँति अपने को राम की प्रियतमा मानते हैं।

"मंदिर माहीं भया उजियारा। ले सूती अपनां पीव पियारा।"

"सेजैं सूती रंग रम्हा, भागा मान गुमान
हथ लेवो हरि सू जुड़्यो आवै अमर बरदान"
"हरि मेरो पीव में राम की बहुरिया"

इस प्रकार कबीरदास ने नाथों और सिद्धों की भाव एवं विचार संपदा को चाव से गहा। वेद शास्त्र, जाति पांति, वेशाडम्बर, शारीरिक कष्ट सहन, ऊँच-नीच मानना, कुलीनता का अभिमान आदि की निंदा नाथों और सिद्धों के अनुरूप की। साथही उनका अजपा जाप, इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना षट्चक्र, घट में रमना, चमत्कार पूर्ण कथन, उलटबांसी इत्यादि को भी उनसे पकड़ा। अवश्य ही उन्होंने अपने

व्यक्तित्व की छाप इन विचारों पर डाली। साथ ही यह भी ठीक है कि उन पर वैष्णवों और सूफियों का प्रभाव भी पर्याप्त पड़ा है। किन्तु कबीर सिद्धों और नाथों की परम्परा में माने जाएंगे जिनके कार्य को उन्होंने आगे बढ़ाया। हाँ, उन्होंने सिद्धों और नाथों के योग के साथ भक्ति का रासायनिक मिश्रण किया एवं ज्ञान एवं भक्ति दोनों को ईश्वर प्राप्ति का मिश्रित साधन बना दिया।

कबीर और जायसी का रहस्यवाद

रहस्यवाद क्या है ? काव्य[1] में जब जीव[2] और ब्रह्म[3] के भावोल्लास[4] भरे सम्बन्ध[5] का किसी विशिष्ट शैली[6] द्वारा वर्णन किया जाता है तो वहाँ रहस्यवाद है ।

व्याख्या—(१) आप सड़क पर चले जा रहे हैं । सहसा एक भीड़ देखी । उत्सुकता वश आप भी उस भीड़ में धँस पड़े । आपने देखा कि एक सुन्दर कुमार ट्रक से कुचल गया है । पास में बैठी माँ दहाड़ मार कर रो रही है । आपने पहिचाना यह तो मेरा सहपाठी है । आपका हृदय पसीज उठा । क्या यहाँ करुण रस है ? नहीं । यहाँ भाव मात्र उमड़ा है । हाँ, यदि यही दृश्य आप किसी नाटक में देखें, किसी से सुनें या पुस्तक में पढ़ें और आपका हृदय रो उठे तो वहाँ करुण रस माना जायगा । मृत पुत्र रोहिताश्व को सामने देख कर शैव्या रुदन कर रही है । इस दृश्य को रंगमंच पर अभिनीत देखकर आप नेत्रों से रूमाल लगा लेते हैं, यहाँ करुण रस का आविर्भाव हुआ है । जिस प्रकार रस काव्य जगत की वस्तु है उसी प्रकार रहस्यवाद भी । योग साधना, ज्ञान और तत्त्व व्यापार में रहस्यवाद नहीं माना जायगा । वैसे तो बुद्धि विलासी, वेदों और उपनिषदों में रहस्यवाद ढूँढ़ लेते हैं । एक प्रकाण्ड पण्डित अपने एक शोधक छात्र को समझा रहे थे—कोई विषय भी लो । पहिले यह दिखाओ कि इसका वर्णन वेद में है । यदि वहाँ यह नहीं है तो लिख दो कि यह वेद में नहीं है । यह भी एक प्रणाली है कि प्रत्येक विषय वेद में खोजो । फलतः रहस्यवाद का घोंसला वेद में भी बना दिया जाता है । यह तो उसी प्रकार का परिश्रम है जैसा कि वेद-शास्त्र एवं पुराणों में हाइड्रोजन बम, जेट विमान एवं स्पुटनिक को ढूँढ़कर प्रदर्शित किया जाता है । सीधी सी बात है कि रहस्यवाद, काव्य जगत का प्राणी है ।

(२) सृष्टि के आदि में जीव, ब्रह्म से अलग हुआ । वह सृष्टि में सर्वत्र दिखलाई पड़ता है । भारतीय मस्तिष्क चर-अचर सृष्टि में जीव तत्त्व मानता है । सर जगदीशचन्द्र बसु की वनस्पति शास्त्र की वैज्ञानिक खोज के पीछे भारतीय बुद्धि ही थी जिसने वनस्पतियों में जीव तत्त्व ढूँढ़ा । आज भी भारतीय हिन्दू सोते पेड़ को नहीं जगाता, पत्थर में देवत्व का प्रकाश देखता है और गाय को पूजता है । इसीलिए तुलसीदास चराचर

को सियाराममय जानकर प्रणाम करते हैं। अतः जीव शब्द से आत्मा और प्रकृति दोनों अभिप्रेत हैं। सृष्टि में चैतन्य का दर्शन हिन्दू ही नहीं सूफियों ने भी किया था। प्रसिद्ध अंग्रेज कवि शेक्सपियर पत्थरों में उपदेशों की ध्वनि सुनते हैं (Sermons in stones).

(३) ब्रह्म से अभिप्राय है निराकार परमात्मा। रहस्यवादी भावना केवल निराकार के प्रति ही उद्‌बुद्ध हो सकती है, साकार के प्रति नहीं। स्वयं 'रहस्य' शब्द इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। रहस्य का अर्थ है—गोपनीयता, छिपाव, दुर्बोधता। जब कोई किसी की बातें नहीं समझ पाता तो कहता है—उसकी बातें बड़ी रहस्यमय हैं।

तुलसी—(१) यह रहस्य काहू नहिं जाना। —मानस १-१९६
(२) यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानइ कोय।
—मानस ७-११६

प्रसाद—(१) चन्द्रगुप्त—तुमसे मेरा कोई रहस्य गोपनीय नहीं। मेरे हृदय में कुछ है कि नहीं, टटोलने से भी नहीं जान पड़ता।
—चन्द्रगुप्त नाटक ४-४-१८४

जो हमारे सामने खड़ा है, उसके विषय में गोपनीयता या रहस्य है ही नहीं। हाँ, रहस्यमय वही है जो छिपा हुआ है, गुप्त है, हमारे सामने प्रत्यक्ष नहीं है। फलतः निराकार परमात्मा के सम्बन्ध में ही रहस्यवादी उक्तियाँ कही जा सकती हैं, साकार के विषय में नहीं। यही कारण है कि तुलसी और सूर जैसे अवतारवादी कवियों में रहस्यवाद नहीं ढूँढ़ा जा सकता।

(४) जिस प्रकार सरोवर का जल पत्थर के फेंकने से अथवा तीव्र वायु के झोंके से तरंगित होता है उसी प्रकार प्राणियों का हृदय बाह्य संसर्ग एवं स्पर्श से स्पन्दित होता है। किसी के गाली देने पर या लाठी दिखाने पर भला दूसरा क्यों न क्रुद्ध होगा, वह भी क्यों न आँखें लाल कर मुक्का तान लेगा? सौन्दर्य से आकृष्ट होकर मानव-मन उल्लसित होता ही है। भगवान् के प्रेम-सम्बन्ध से भी हृदय आनन्दित होकर झूम उठेगा ही। ऐसे ही स्थलों पर रहस्यवाद माना जायगा, साधारण उक्तियों में नहीं। जब जीव भावोल्लास में अपने को ब्रह्म का कोई अंश स्वीकार करे तो वह रहस्यवाद के क्षेत्र में विचरण कर रहा है।

(५) सम्बन्ध अनेक प्रकार का हो सकता है और सांसारिक सम्बन्धों की संख्या असीम है। पड़ोसी-पड़ोसी, सहचारी, सजातीय, सवर्गी, एक देशीय, गुरु-शिष्य, स्वामी-सेवक, पुत्र-पिता, पति-पत्नी आदि अनेक सम्बन्ध हैं। मानव का संबंध पालतू गाय, बैल, तोता, कुत्ता इत्यादि से भी है। किन्तु इनमें से कुछ सम्बन्ध ऐसे हैं जो अधिक संवेदनशील

एवं मार्मिक हैं क्योंकि वे मूलभूत और निकटतम हैं। कुत्ता हर एक नहीं पालता, सहकारी में प्रेम प्रदर्शन केवल औपचारिक रूप से ही किया जाता है और उसके पुत्र के अस्वस्थ होने पर हम पूछ भर लेते हैं कि बच्चा कैसा है; किन्तु अपनी पत्नी या पुत्र के अस्वस्थ हो जाने पर हम व्याकुल हो उठते हैं। अतः कुछ संबंध अवश्य ऐसे हैं जो बड़े निकट के हैं और हमें भावोल्लास देने वाले हैं। वे हैं—पति-पत्नी का संबंध, माता या पिता और पुत्र का संबंध, स्वामी-सेवक का संबंध, सखा-सखा का संबंध। रहस्यवाद में इन्हीं संबंधों के माध्यम से भावोल्लास का वर्णन किया जाता है।

(६) जीव और ब्रह्म के भावोल्लास पूर्ण संबंध को व्यक्त करने के लिए कवियों ने विशिष्ट शैलियों का प्रयोग किया है। योग के माध्यम से ब्रह्म की झलक पाई गई है, प्रकृति में उसकी विभूति देखी गई है, कथा को आधार बनाकर हृदय के भावोल्लासमय प्रकृष्ट प्रेम का चित्रण किया गया है; ब्रह्म को सामने खड़ा देखकर उससे भावुकता भरा संबंध जोड़ा गया है; अलंकारों और असाधारण उक्तियों का पल्ला पकड़ा गया है। जैसी जिसकी प्रकृति और क्षमता थी उसने वही मार्ग पकड़ा है।

शैली की भिन्नता से ही रहस्यवाद की उक्तियों में भी भेद आ गया है और रहस्यवाद कई प्रकार का दिखाई पड़ता है :—

(१) प्रेम-परक रहस्यवाद,
(२) प्रकृति-परक रहस्यवाद,
(३) योग-परक रहस्यवाद,
(४) अद्वैत-परक रहस्यवाद।

(१) प्रेम-परक रहस्यवाद

दोनों कवियों ने प्रेम सम्बन्धों को अपनाकर जीव-ब्रह्म के आकर्षण को व्यक्त किया है। पति-पत्नी, माता-पुत्र, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक के सम्बन्ध, इसी के अन्तर्गत हैं। पति-पत्नी का सम्बन्ध सबसे अधिक व्यापक और आकर्षक है। फलतः इस सम्बन्ध को अपनाकर दोनों कवियों ने सबसे सुन्दर और मार्मिक उक्तियाँ प्रकट की हैं। हाँ, दृष्टिकोण में कुछ अन्तर आ गया है। कबीर भारतीय परम्परा में अपने को पत्नी मानकर भगवान् राम को पति स्वीकार करते हैं तो जायसी फारसी-प्रेम-काव्य की परम्परा को अपनाकर जीव (रतनसेन) को पति एवं ब्रह्म (पद्मावती) को पत्नी मानते हैं।

कबीर प्रधानतः उपदेशक और सुधारक हैं और उनका काव्य अधिकांश में सूक्तियों एवं नैतिक आदेशों से भरा है। उनकी कविता का थोड़ा अंश ऐसा है जो काव्य-क्षेत्र में अच्छा समझता है। वह अंश प्रधानतया वही है जहाँ वे अपने को राम

की बहुरिया मानकर मिलन और विरह के भाव प्रकट करते हैं। राम रूपी पति को देख कर कबीर फूल जाते हैं और कहने लगते हैं—

दुलहनीं गावहु मंगल चार, हम घरि आये हो राजा राम भरतार।
तन रत करि मैं मनरत करिहूँ, पंचतत बराती।
रामदेव मोरै पाहुनैं आये, मैं जोबन मदमाती॥
सरीर सरोवर बेदीं करिहूँ, ब्रह्मा बेद उचार।
रामदेव संगि भांवरि लैहूँ, धंनि धंनि भाग हमार॥
सुर तेतीसूँ कौतिग आये, मुनियर सहस अठ्यासी।
कहैं कबीर हमैं ब्याहि चले हैं पुरिष एक अविनासी॥

—कबीर ग्रंथावली, पद १

एवं अपने प्रिय से कहते हैं कि अब तो मैंने तुझे पा लिया है, अब कहीं न जाने दूँगा—

अब तोहि जांन न देहूं राम पियारे, ज्यूं भावै त्यूं होइ हमारे।
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बड़े घरि बैठैं आये॥
चरननि लागि करौं बरियाई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई।
इत मन मंदिर रहौ नित चोषै, कहै कबीर परहु मति धोषै॥

—कबीर ग्रंथावली, पद ३

प्रेमिका फिर कहती है, अब तू सामने आ गया है। अच्छा एक काम कर। तू नेत्रों के अन्दर आकर बैठ जा। बस फिर तो तू और मैं ही रहेंगे, अन्य कोई नहीं—

नैनां अंतरि आव तूं, ज्यूं हौं नैन झंपेउं।
ना हौं देखौं और कूं, नां तुझ देखन देउं॥

कबीर में जायसी के समान विरह भाव की प्रधानता है। यह सूफियों का प्रभाव है। वे राम-विरह को भक्ति की प्रधान सीढ़ी मानते हैं। कबीर कहते हैं—

कबीर हसणां दूरि करि, करि रोवण सौं चित्त।
बिन रोयां क्यूं पाइये, प्रेम पियारा मित्त॥
हँसि हँसि कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोइ।
जे हाँसे ही हरि मिलै, तौ नहीं दुहागिन कोइ॥
बिरहा बुरहा जानि कथौ, बिरहा है सुलितान।
जा घटि बिरहा न संचरै, सो घर जान मसान॥

विरह को सुलतान मानने वाला कबीर विरह में क्यों न जलेगा? फलतः कबीर रूपी विरहिनी बड़ी मार्मिक उक्तियाँ कहती है।

बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कूं, मनि नाहीं बिस्राम॥
आंखड़ियां झाईं पड़ीं, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़यां छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि॥

विरहिनी बहुत अधिक कष्ट झेलती हुई दुखी होकर पुकार करती है—

कै बिरहिन कूं मींच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझड़ा, मो पै सह्या न जाइ॥

फिर सोचती है—

यहु तन जालौं मसि करूं, ज्यूं धूवां जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करैं, बरसि बुझावै अग्गि॥

पुनः पुकार करती है विरहिनी—

बाल्हा आव हमारे गेह रे, तुम्ह बिन दुखिया देह रे।
सब कोइ कहै तुम्हारी नारी, मोकौं इहै अंदेह रे॥
एक मेक ह्वै सेज न सोवै, तब लग कैसा नेह रे॥
आन न भावै नींद न आवै, गृह बन धरै न धीर रे।
ज्यूं कामी कौं काम पियारा, ज्यूं प्यासे कूं नीर रे॥
है कोई ऐसा पर-उपगारी, हरि सूं कहै सुनाइ रे।
ऐसे हाल कबीर भये हैं, बिन देखे जीव जाइ रे॥

—कबीर ग्रंथावली, ३०७

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि जायसी ने अपने रहस्यवाद की स्थापना ईश्वर को पत्नी मान कर की है। पद्मावती का वर्णन इसी रूप में हुआ है। जायसी पहले नायक रत्नसेन के जन्म का वर्णन नहीं करता है। वह पहले पद्मावती को जन्म दिलाता है क्योंकि ईश्वर की स्थिति पहले से है, जीव तो बाद में जन्म लेकर उसकी ओर आकृष्ट होता है। रत्नसेन. हीरामन तोते से पद्मावती का रूप-वर्णन सुनकर मूर्च्छित हो जाता है। पद्मावती, ईश्वर है तभी तो उसका रूप मानव और प्रकृति में छलकता है। चारों वेद पद्मावती के श्वास में रहते हैं—

चतुर बेद मत सब ओहि पाहां। रिग, जजु, साम अथरवन माहां॥

यदि सज्जन पद्मावती की वाणी, जिसमें वेद ज्ञान भरा पड़ा है, सुन लेते हैं तो घायल हो जाते हैं—

भासमती औ ब्याकरन, पिंगल पढ़ै पुरान।
वेद भेद सौं बात कह, सुजनन्ह लागै बान।

इस ईश्वर रूपी पद्मिनी का जो सम्यक वर्णन सुनता है या थोड़ी सी झलक पाता है वह तुरन्त मूर्च्छित हो जाता है। पद्मावत के सभी प्रधान पुरुष इस स्त्री का वर्णन सुनकर या देखकर सुध-बुध खो बैठते हैं। राजा रत्नसेन ने हीरामन से वर्णन सुना तो—

सुनतहिं राजा गा मुरछाई। जानौं लहरि सुरुज के आई।

राजा सिंहलगढ़ के उद्यान में साधु वेश में तप करता है। पद्मावती उसे देखने आती है तो राजा उसे देखते ही पुनः मूर्च्छित हो जाता है।

नयन कचोर पेम मद भरे। भइ सु दिष्टि जोगी सहुं ढरे।
जोगी दिस्टि दिस्टि सौं लीन्हा। नैन रोपि नैनहिं जिउ दीन्हा।
जेहि मद चढ़ा परा तेहि पाले। सुधि न रही ओहि एक पियाले
परा माति गोरख कर चेला। जिउ तन छांड़ि सरग कहं खेला।

राघव चेतन को जब देश निकाला हो गया तो वह पद्मावती के महल के निकट से जा रहा था। सहसा झरोखे से पद्मावती को देखकर वह भी मूर्च्छित हो गया—

आवा राघव चेतन, धौराहर के पास।
ऐस न जाना ते हियै, बिजुरी बसै अकास॥

पदमावति जो झरोखे आई। निहकलंक ससि दीन्ह दिखाई।
ततखन राघव दीन्ह असीसा। भएउ चकोर चंदमुख दीसा॥
पहिरे ससि नखतन्ह कै मारा। धरती सरग भएउ उजियारा।
जानहु टूटि बीजु भुइं परी। उठा चौंधि राघव चित हरी॥

परा आइ भुइं कंकन, जगत भएउ उजियार।
राघव बिजुरी मारा, बिसंभर किछु न संसार॥

राघव चेतन दिल्लीश्वर सुल्तान अलाउद्दीन से पद्मावती की रूप चर्चा करता है तो अलाउद्दीन भी मूर्च्छित हो जाता है। आगे पुनः दर्पण में देखकर अलाउद्दीन अपनी सुध-बुध खोकर धरती पर गिर पड़ता है। इस प्रकार पद्मावती रूपी ईश्वर की झलक बड़ी महँगी है. सभी मूर्च्छित हो जाते हैं। उस अद्भुत रूप की प्राप्ति के लिए सभी प्रयत्नवान हैं किन्तु कोई-कोई देख पाते हैं। सारी दुनिया उसी की टोह में दौड़ रही है।

सिर करवत, तन करसी बहुत सीझ तेहि आस
बहुत धूम घुटि-घुटि मुए, उतर न देइ निरास

बड़े-बड़े राजा-नवाबों ने उसे देखने का अथक परिश्रम किया—

राजा बहुत मुए तपि लाइ लाइ भुइं माथ
काहू छुई न पाए गए मरोरत हाथ।

इसी बात को पद्मावती अपनी सखियों से कहती है कि यदि मैं प्रकट हो जाती हूं तो संसार में क़यामत आ जाती है।

परगट होहुं न होइ अस भंगू। जगत दिया कर होइ पतंगू
जासहुं हौं चख हेरौं सोइ ठाँव जिउ देइ
एहि दुख कतहुं न निसरौं, को हत्या अस लेइ ?

जायसी में कबीर से अधिक विरह भरा पड़ा है। सूफ़ी-प्रेम में विरह की प्रधानता है। फलतः जब भी अवसर मिलता है, जायसी विरह की चर्चा कर देते हैं।

प्रकृति-परक

प्रकृति के माध्यम से रहस्यवादी भावनाओं को व्यक्त करने में जायसी का स्थान अद्वितीय है। सच पूछा जाय तो जायसी की प्रसिद्धि का कारण उनका प्रकृति-परक रहस्यवाद ही है। यदि ऐसे स्थलों को पद्मावत से निकाल दिया जाय तो जायसी का यश-स्तम्भ टेढ़ा हो जायेगा। जायसी ने प्रकृति में ईश्वर की विभूति का सौन्दर्य देखा है। प्रकृति ईश्वर के विरह में व्यथित दिखाई पड़ती है। इस सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में ईश्वरीय विभूति प्रतिबिम्बित है।

बिगसा कुमुद देखि ससि रेखा। भै तहं ओप जहाँ जोइ देखा॥
पावा रूप, रूप जस चहा। ससिमुख जनु दरपन होइ रहा॥
नयन जो देखा कवँल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन ज्योति नग हीर॥

—मानसरोदक खंड

रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती।
बेधि रहा जग बासना परिमल मेद सुगंध
तेहि अरघानि भौंर सब लुबुधे तजहिं न बंध

—नखशिख खंड

प्रकृति में प्रभु का रूप ही नहीं भरा है, प्रकृति में सर्वत्र उस प्रभु का विरह भी व्याप्त है। मनुष्यों की तो बात ही क्या, पशु-पक्षी भी विरह में बिलला रहे हैं। गिरगिट, मोर, पंडुक, सुआ, तीतर—सभी उसी के विरह में दुखी हैं।

गिरगिट छन्द धरे दुख तेता। खन खन पीत रात, खन सेता॥
जान पुछार जो भा बनवासी। रोंव-रोंव परे फंद नगवासी॥
पाखन्ह फिरि फिरि परा सो फांदू। उड़ि न सकै, अरुझा भा बांदू॥
'मुयों मुयों' अहनिसि चिल्लाई। ओही रोस नागन्ह धै खाई॥
पंडुक, सुआ, कंक वह चीन्हा। जेहिं गिउ परा चाहि जिउ दीन्हा॥

तितिर गिउ जो फांद है, नित्ति पुकारै दोख
सो कित हंकारि फांद गिउ कित मारै होइ मोख

—राजा सुआ संवाद खंड

ईश्वर के बिरह-बान सर्वत्र आकर चुभे हैं—

उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा॥
गगन नखत जो जाहिं न गने। वै सब बान ओही के हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी॥
रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढ़े। सूतहि सूत बेध अस गाढ़े॥

प्रकृति के कुछ अंग हवा, बादल, धुआं, बिजली, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, पानी ने वहाँ पहुँच वियोग की शांति चाही थी किन्तु कोई भी उस तक नहीं पहुँच पाया है:—

बिजुरी चक्र फिरै चहुं फेरी। औ जमकात फिरै जम केरी॥
धाइ जो बाजा कै मन साधा। मारा चक्र भएउ दुइ आधा॥
चाँद सुरुज और नखत तराईं। तेहि डर अंतरिख फिरहिं सबाईं॥
पौन जाइ तहँ पहुंचै चहा। मारा तैस लोटि भुइं रहा॥
अगिनि उठी, जरि बुझी निआना। धुआँ उठा, उठि बीच बिलाना॥
पानि उठा उठि जाइ न छूआ। बहुरा रोइ, आइ आइ भुइं चूआ॥

रावण एवं शंकर ने भी वहाँ पहुँचने का प्रयास किया किन्तु वे भी असफल रहे—

रावन चहा सौंह होइ उतरि गए दस माथ
संकर धरा लिलाट भुइं, और को जोगी नाथ

—सिंहल द्वीप खण्ड

हाँ, परमात्मा (पद्मावती) से जो मिलन पाता है, वह जीव (रतनसेन) है जो सात सागरों (अबूदियत, इश्क, अहद, म्आरिफ, वज्द, हकीकत, वस्ल) की कठिनाइयों को साहस के साथ झेलता हुआ पद्मावती के निकट पहुँच जाता है।

प्रकृति के समस्त तत्व को विरह बान से बींध दिया गया है। पद्मावती ने उसे पागल बना दिया है। पद्मावती मिलन तक अनेकों स्थानों पर रतनसेन का विरह वर्णित है

जो ईश्वर परक संकेतों में लिखा गया है। मूर्छित होकर उठने के बाद वह रोकर कहता है—

हौं तो अहा अमर पुर जहाँ। इहां मरनपुर आएउं कहाँ ?
रोवत रहा जहाँ सुख साखा। कस न तहाँ सोवत विधि राखा ?
अब जिउ उहां इहां तन सूना। कब लगि रहै परान बिहूना ।।
जो जिउ घटहिं काल के हाथा। घट रु नीक पै जीउ निसाथा ।।

अहुठ हाथ तन सरवर हिया कवँल तेहि मांह
नैनहिं जानहुँ नियरे, कर पहुँचत औगाह

—प्रेम खण्ड

जब राजा गजपति के केवट से कहते हैं कि यह मार्ग बड़ा दुर्गम है तो राजा पद्मावती के विरह में डूबता हुआ उत्तर देता है—

मोहि कुसल कर सोच न ओता। कुसल होत जौ जनम न होता ।।
धरती सरग जाँत-पट दोऊ। जो तेहि बिच जिउ राख न कोऊ ।।
हौं अब कुसल एक पै मांगौं। पेम पंथ सत बांधि न खांगौं ।।
जौ सत हिय तौ नयनहिं दीया। समुद न डरै पैठि मरजीया ।।
तहँ लगि हेरौं समुद ढंढोरी। जहँ लगि रतन पदारथ जोरी ।।

सप्त पतार खोजि कै काढ़ौं बेद गरंथ।
सात सरग चढ़ि धावौं पदमावति जेहि पंथ ।।

—बोहित खण्ड

राजा रतनसेन की विरह-आग, उफनाते 'उदधि समुद्र' से भी बढ़कर है।

बिरह जो उपना ओहि तें गाढ़ा। खिन न बुझाइ जगत महँ बाढ़ा ।।
जहाँ सो बिरह आगि कहँ डीठी। सौंह जरै, फिरि देह कै पीठी ।।
जग महँ कठिन खड़ग कै धारा। तेहि तें, अधिक बिरह कै झारा ।।
अगम पंथ जो ऐस न होई। साध किए पावै सब कोई ।।
तेहि समुद्र महँ राजा परा। जरा चहै पै रोवै न जरा ।।

रतनसेन की विरहाग्नि जब अत्यधिक बढ़ गई तो सारा संसार उससे जलने लगा, पहाड़, नदियाँ, देवता सब भस्म होने लगे—

बिरह अगिनि बज्रागि असूझा। जरै सूर न बुझाए बूझा।
तेहि के जरत जो उठै बजागी। तिनउँ लोक जरै तेहि लागी ।।
अबहि कि धरी सो चिनगी छूटे। जरहिं पहार पहन सब फूटे।

देवता सबै भसम होइ जाहीं। छार समेटे पाउब नाहीं।
धरती सरग होइ सब ताता। है कोई एहि राख बिधाता॥

मुहमद चिनगी पेम कै, सुनि महि गगन डेराइ।
धनि बिरही औ धनि हिया, जहँ अस अगिनि समाइ॥

इसी आग से लंका को जलाने वाले हनुमान जी भी जल गए। रत्नसेन के आँसुओं से रक्त बह चला। वही तमाम संसार में फैला। सब लाल वस्तुएँ उसी के रक्ताश्रु से भीजकर बनी हैं। हीरामन, पद्मावती से विरही रत्नसेन की दशा का वर्णन करता हुआ कहता है—

रोवँ रोवँ वै बान जो फूटे। सूतहि सूत रुहिर मुख छूटे॥
नैनहिं चली रकत कै धारा। कंथा भीजि भएउ रतनारा॥
सूरज बूड़ि उठा होइ ताता। औ मजीठ टेसू बन राता॥
भा बसंत राती बनसपती। औ राते सब जोगी जती॥
पुहुमि जो भीजि भएउ सब गेरू। औ राते तहं पंखि पखेरू॥
राती सती अगिनि सब काया। गगन मेघ राते तेहि छाया॥
ईगुर भा पहार जौ भीजा।......................................

इस प्रकार प्रकृति भी जीव के साथ भगवान् के विरह में रक्ताश्रुओं से लाल है।

प्रेम संबंधों में पति-पत्नी के अतिरिक्त अन्य संबंधों से भी भगवान का प्रेम व्यक्त किया गया है। जायसी ने तो केवल पत्नी संबंध को ही अपनाया है किन्तु कबीर ने अन्य संबंधों को भी थोड़ा-थोड़ा ग्रहण किया है। ये संबंध हैं स्वामी-सेवक, माता-पुत्र एवं पिता-पुत्र के। कबीर अपने को गुलाम मानकर भगवान् से प्रार्थना करते है, कि मुझे बेच दे। इससे प्रतीत होता है कि दास लोग कबीर के समय बेचे जाते थे। दास को लाकर बाजार में खड़ा किया जाता था और ग्राहक उसे देख भालकर मोल-तोल करता था।

मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाईं।
तन मन धन मेरा राम जी के ताईं॥
आनि कबीरा हाटि उतारा, सोई गाहक सोई बेचन हारा।
बेचै राम तौ राखै कौन, राखैं राम तौ बेचैं कौन।
कह कबीर मैं तन मन जारया, साहिब अपना छिन न बिसारया॥

—कबीर ग्रन्थावली, ११३

सेवक अपना आत्म समर्पण स्वामी के चरणों में कर देता है। वह पूर्णतया अपने

स्वामी का बन गया है, अब और किसी की ओर देखेगा भी नहीं। फिर क्यों किसी अन्य को पुकारे:—

अब मोहि राम भरोसा तेरा, और कौन का करों निहोरा।
जाके राम सरीखा साहिब भाई, सो क्यूं अनत पुकारन जाई॥
जा सिरि तीनि लोक को भारा, सो क्यूं न करै जन को प्रतिपारा।

—कबीर ग्रन्थावली, ११४

कभी कबीर अपने स्वामी राम का भिखारी बनता है और कहता है—

तुम साहिब हम कहा भिखारी, देत जबाब होत बजगारी।
जन कबीर तेरी पनह समानां, भिस्त नजीक राखि रहिमानां॥

—कबीर ग्रन्थावली, ३३६

सेवक अपने स्वामी के वियोग में रोता है और दूसरों से पुकार करता है कि मुझे मेरा प्रभु दिखला दो।

जियरा मेरा फिरै रे उदास।
राम बिन निकसि न जाई साँस, अजहूं कौन आस॥
जहाँ-जहाँ जाऊँ राम मिलावै न कोई।
कहौ संतौ कैसे जीवन होई॥
जरै सरीर यह तन कोई न बुझावै,
अनल दहै निसि नींद न आवै॥
चन्दन घिसि-घिसि अंग लगाऊँ।
राम बिना दारन दुख पाऊँ॥
सत संगति मति मन कर धीरा,
सहज जानि रामहिं भजै कबीरा॥

—कबीर ग्रन्थावली, ११५

कबीर रूपी सेवक का स्वामी, धनिकों का सरदार—राजा राम है। वह राजा ही राम सेवक की पीड़ा समझ सकता है।

जन की पीर हो राजा राम भल जानें, कहूं काहि को मानें।
नैन का दुख बैन जानै, बैन का दुख श्रवनां॥
प्यंड का दुख प्रान जानै, प्रान का दुख मरनां।
आस का दुख प्यास जानै, प्यास का दुख नीर॥
भगति का दुख राम जानै, कहै दास कबीर॥

—कबीर ग्रन्थावली, २८६

कबीर भगवान् को माता मान कर पुकार करते हैं कि हे माँ, मैं तेरा पुत्र हूँ। तू मेरे अपराधों को क्षमा कर दे। माँ का हृदय ही ऐसा है कि वह पुत्र के अपराधों को क्षमा कर देता है। बालक अपनी माँ के बालों को खींचता है और मारता है तब भी माँ क्रोध नहीं करती है।

हरि जननी मैं बालिक तेरा, काहे न औगुण बकसहु मेरा।
सुत अपराध करै दिन केते, जननी कै चित रहैं न ते ते॥
कर गहि केस करै जो घाता, तऊ न हेत उतारै माता।
कहै कबीर एक बुधि बिचारी, बालक दुखी दुखी महतारी॥

—कबीर ग्रन्थावली, १११

पुनः कबीर अपने को पुत्र और भगवान को पिता मानकर प्रार्थना करता है—

बाप रांम सुनि बीनती मोरी, तुम्ह सूं प्रगट लोगनि सूं चोरी।
पहले काम मुगध-मति कीया, ता भै कंपै मेरा जीया॥
राम राइ मेरा कह्या सुनीजै, पहले बकसि अब लेखा लीजै।
कहै कबीर बाप राम राया, अबहूं सरनि तुम्हारी आया॥

—कबीर ग्रन्थावली, २५७

योग परक रहस्यवाद

कबीर और जायसी पर भारतीय योगियों का प्रचुर प्रभाव था और दोनों ने उस प्रभाव वश योग की साधनाओं को अपनी कविता में स्थान दिया है। कबीर ने जायसी की अपेक्षा योग की दिशा में अधिक कदम बढ़ाया है। उन्होंने योग की बातों को लेकर अनेक उलट बाँसियाँ भी कही हैं। ऐसी एक उलट बाँसी देखिए—

अवधू जागत नींद न कीजै।
काल न खाइ कलप नहीं व्यापै, देही जुरा न छीजै।
उलटी गंग समुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै॥
डाल गह्यां थैं मूल न सूझै, मूल गह्यां फल पावा।
बंबई उलटि शरप कौं लागी, धरणि महारस खावा॥
बैठि गुफा में सब जग देख्या, बाहरि कछू न सूझै।
उलटै धनकि पारधी मार्‌यौ, यहु अचिरज कोइ बूझै॥
औंधा घड़ा न जल में डूबै, सूधा सूभर भरिया।
जाकौं यहु जग घिण करि चालै, ता प्रसादि निस्तरिया।
अंबर बरसै धरती भीजै, यहु जांणै सब कोई।
धरती बरसै अंबर भीजै, बूझै बिरला कोई॥

गावणहारा कदे न गावै अणबोल्या नित गावै।
नटवर पेखि पेखनां पेखै, अनहद बेन बजावै॥
कहणी रहणी निज तत जाणैं, यहु सब अकथ कहाणी।
धरती उलटि अकासहि ग्रासै, यहु पुरिसा की बांणी॥
बाझ पियालै अंमृत सोख्या, नदी नीर भरि राख्या।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, धरणि महारस चाख्या॥

—कबीर ग्रंथावली, १६२

ऐसी अनेक उलट बाँसियाँ कबीर की रचनाओं में भरी पड़ी हैं। कहीं योग की साधना का साधारण वर्णन मात्र मिलता है जैसे—

अर्धे पवन चढ़ाय लै, अर्धे आनि मिलाय।
अष्ट कमल को राह से, मूल कंवल नव लाय॥
ऐसा ध्यान धरो नर हरी, सबद अनाहद च्यंतन करी।
पहली खोजौ पंचे बाइ, बाइ ध्यंद ले गगन समाइ॥
गगन जोति तहाँ त्रिकुटी संधि, रवि ससि पवनां मेलौ बंधि।
मन फिर होइत कवल प्रकासै, कवला माँहि निरंजन बासै॥
सतगुर संपट खोलि दिखावै, निगुरा होइ तौ कहां बतावै।
सहज लछिन ले तजौ उपाधि, आसण दिढ़ निद्रा पुनि साधि॥
पुहप पत्र जहाँ हीरा मणीं, कहै कबीर तहाँ त्रिभवन धंणी॥

—कबीर ग्रंथावली, ३२५

अवश्य ये उदाहरण रहस्यमय हैं क्योंकि इनमें शरीर के भीतर की गुप्त बातें और क्रियाएं वर्णित हैं किन्तु ये रहस्यवाद के अच्छे उदाहरण नहीं हैं। योग परक रहस्यवाद के उत्तम उदाहरण वे ही माने जायेंगे जहाँ कवि योग परक क्रियाओं एवं वस्तुओं के साथ अपने हृदय का समन्वय भी करदे; उदाहरण—

(१) अब मोहि ले चलि नणद के बीर, अपनै देसा।
इन पंचनि मिलि लूटी हूँ कुसंग आहि बदेसा॥ टेक॥
गंगतीर मोरी खेती बारी, जमुन तीर खरिहानां।
सातौं बिरही मेरे नीपजैं, पंचूं मोर किसानां॥
कहै कबीर यह अकथ कथा है, कहतां कही न जाई।
सहज भाइ जिहि ऊपजै, ते रमि रहे समाई॥

—कबीर ग्रंथावली, १४

(२) बोलौ भाई राम की दुहाई ।
इहि रसि सिव सनकादिक माते, पीवत अजहूं न अघाई ।
इला प्यंगुला भाठी कीन्हीं, ब्रह्म अगनि परजारी ।
ससि हर सूर द्वार दस मूंदे, लागी जोग जुग तारी ॥
मन मतिवाला पीवै राम रस, दूजा कछु न सुहाई ।
उलटी गंग नीर बहि आया, अमृत धार चुवाई ॥
पंचजने सो संग करि लीन्हें, चलत खुमारी लागी ।
प्रेम पियालै पीवन लागै, सोवत नागिनी जागी ॥
सहज सुँनि में जिनि रस चाष्या, सतगुर थैं सुधि पाई ।
दास कबीर इहि रस माता, कबहूँ उछकि न जाई ॥

—कबीर ग्रन्थावली, ७४

कबीर में भाव भरी योग संबंधी उक्तियाँ अधिक मात्रा में नहीं हैं, प्रधानता है उलट बाँसियों की या योग-रूपकों की। जायसी की योग परक उक्तियाँ थोड़ी हैं और उत्तम हैं। जायसी ने, कबीर की नाईं शरीर के अन्दर ईश्वर का स्थान माना है।

कबीर—अंतर कंवल प्रकासिया, ब्रह्म बास तहाँ होइ ।

जायसी—पिउ हृदय महं भेंट न होइ ।

ईश्वर का निवास हृदय या शरीर में है और उसे योग द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, इस पर दोनों का विश्वास है। शरीर के अन्दर ईश्वर का निवास कहाँ है, इस संबंध में जायसी की उक्तियाँ सुन्दर हैं—

गढ़ तस बांक जैसि तोरि काया। पुरुष देखु ओही कै छाया ॥
पाइय नाहिं जूझ हठि कीन्हे। जेइ पावा तेइ आपुहि चीन्हे ॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा। औ तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा ॥
दसवें दुआर गुपुत एक ताका। अगम चढ़ाव, बाट सुठि बाँका ॥
भेदौ जाइ सोइ वह घाटी। जो लहि भेद, चढ़ै होइ चाँटी ॥
गढ़ तर कुंड, सुरंग तेहि माहां। तहँ वह पंथ कहौं तोहि पाहाँ ॥
चोर बैठ जस सेंधि संवारी। जुआ पैंत जस लाव जुआरी ॥

जस मरजिया समुद धँस, हाथ आव तब सीप ।
ढूँढ़ि लेइ जो सरग-दुआरी चढ़ै सो सिंघल दीप ।

दसवं दुआर ताल कै लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा ॥
जाइ सो तहा सांस मन बंधी। जस धंसि लीन्ह कान्ह कालिंदी ॥

—पार्वती महेस-खंड

इसी के अनुरूप नवपौरी एवं पाँच कोतवालों का वर्णन हुआ है। सिंहल द्वीप वर्णन खंड में जहाँ उस ईश्वर रूपी पद्मावती का वास है।

अद्वैत परक रहस्यवाद

कबीर और जायसी विद्वान कवि न थे। फलतः अद्वैत वादी दर्शन की आशा हम उनमें नहीं कर सकते। किन्तु दोनों साधु-संगी थे। भारतीय साधुओं में अद्वैतवादी दृष्टिकोण सदा से मान्य रहा है। फलतः कबीर और जायसी में अद्वैत परक उक्तियाँ प्राप्त होती हैं। हम इसे दार्शनिक विवेचन नहीं कह सकते। ये अद्वैतवाद परक साधारण उक्तियाँ हैं। अद्वैतवाद में ईश्वर और जीव में कोई भेद नहीं है। माया केवल एक मिथ्या पर्दा है जो ईश्वर और जीव को दूर रखता है। इस प्रकार सर्वत्र एक ईश्वरीय सत्ता है, अन्य कुछ नहीं है। वह ईश्वर चराचर में व्याप्त है। जायसी कहते हैं "प्रगट गुपुत न दूसर, जहँ देखौं तहँ तोहि"। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई या कुछ है ही नहीं—

आपुहि मीच जियत पुनि आपुहि तन मन सोइ।
आपुहि आपु करै जो चाहै, कहाँ सो दूसर कोइ ?

जब ईश्वर और जीव मिल जाते हैं तो फिर जुदा नहीं होते। हां भी कैसे, बूँद को सागर से कौन अलग कर सकता है ? पान के रंग में से चूना-कत्था कौन जुदा कर सकता है ?

मिलि कै जुग नहिं होहु निनारी।
कहा बीच दूती देनि हारी॥
बूंद समुंद जैस होइ मेरा।
गा हेराइ अस मिलै न हेरा॥
रंगहि पान मिला जस होई।
आपुहि खोइ रहा होइ सोई॥

कबीर की अद्वैत परक उक्तियाँ अधिक स्पष्ट हैं और अधिक मात्रा में भी हैं। कबीर कहते हैं कि मैं पहिले पानी था। पानी जमकर बर्फ बन गया पिघल कर पुनः वह पानी होगया:—

पाणीं ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछू कह्या न जाइ॥

इसी तथ्य को दूसरे उपमान द्वारा प्रकट करते हुए कबीर कहते हैं—

जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यह तत कथौ गियानी॥

अब जीव का खोज भी नहीं मिलता है—

उड़्या विहंगम खोज न पाया, ज्यूं जल जलहि समाना ॥

जल में जल मिलने का उपमान कबीर ने अनेक स्थानों पर ग्रहण किया है—

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूंद समानी समद मैं, सो कत हेरी जाइ॥
हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
समंद समाना बूंद मैं, सो कत हेर्या जाइ॥

ऊपर उठ कर कबीर ईश्वर से एकमेक हो जाता है और ईश्वर के समान अपने को भी सब में पाता है और कहता है—

मैं सबनि मैं औरनि मैं हूं सब,
मेरी बिलगि बिलगि बिलगाई हो।
कोई कहौ कबीर कोई कहौ राम राई हो॥

—कबीर ग्रंथावली, ५०

हम सब माहिं सकल हम माहीं, हम थैं और दूसरा नाहीं।
तीनि लोक मैं हमारा पसारा, आवागमन सब खेल हमारा॥
हमहीं आप कबीर कहावा, हमहीं अपनां आप लखावा॥

—कबीर ग्रंथावली, ३३२

जायसी का विरह-वर्णन

विरह वर्णन के दो ढंग मिलते हैं—ऊहात्मक और संवेदनात्मक। कल्पना के अतिरेक का नाम है ऊहा। ऊहा के ही बल पर कवि आकाश से तारे तोड़ लाता है, बुद्धि के जादू भरे अद्भुत चमत्कार दिखाता है और वाहवाही लूटता है। ऊहात्मक वियोग वर्णन में कवि प्रभाव पर ध्यान न देकर विरह की मात्रा को नापता है। वह विरहाग्नि का तापमान बताता है, कृशता की अत्युक्ति पूर्ण सीमा दिखाता है और अश्रुओं की संख्या को गिनता है। हिन्दी में इस प्रकार के विरह वर्णन पर फ़ारसी का का प्रभाव है। ऊहात्मक विरह वर्णन को मापात्मक विरह वर्णन भी कहा जाता है। संवेदनात्मक विरह वर्णन में कवि नायक या नायिका के ताप या अश्रु का माप नहीं लेता है वरन् विरह का वर्णन ऐसी भावुकता से करता है कि पढ़ने या सुनने वाले का दिल पिघल जाता है। ऊहात्मक वर्णन में कवि का लक्ष्य वाहवाही लूटने का है जब कि दूसरे में वह हृदयों को प्रभावित करने का है। प्रथम में वह चमत्कारवादी है तो दूसरे में वह रसवादी है।

ऊहात्मक वर्णन—विरह के ऊहात्मक वर्णन में बिहारी ने बड़ा नाम कमाया है। उनकी विरहिनी के तन की आग से गुलाब जल भाप बन जाता है[1] और उसी अग्नि से माघ मास में लुएं चलती हैं।[2] उसकी शारीरिक कृशता इतनी अधिक हो गई है कि मृत्यु खुर्दबीनी ऐनक लगा कर उसे लेने जब कक्ष में आकर ढूँढती है तो पाना तो अलग रहा, मृत्यु उसे देख भी नहीं पाती।[3] बेचारी नायिका सूख कर पतझड़ का पत्ता बन गई है। स्वांस के धक्के से छै-सात कदम आगे या पीछे उड़कर गिर जाती है।[4] उस विरहिनी के आँसुओं से बाढ़ आ गई है और गाँव की गली-गली में

१—औंधाई सीसी [illegible] ।
बीचहिं सूखि [illegible] —बि० बो०, ५१६

२—सुनत पथिक मुह माह निसि, लुइ चलत उहि गाम ।
बिन बूझे बिन ही कहे, जियत बिचारी बाम ॥ —बि० बो०, ४६८

३—करी बिरह ऐसी तऊ, गैल न छांड़त नीचु ।
दीनै हू चसमा चखनि, चाहै लहै न मीचु ॥ —बि० बो०, ५१६

४—इत आवति चलि जाति उत, चली छ सातक हाथ ।
चढ़ी हिंडोरे-सी रहै, लगी उसासन साथ ॥ —बि० बो०, ४६६

पानी भर गया है।[1] रीतिकाल के अन्य कवियों ने भी विरह वर्णन का ऊहात्मक ढंग अपनाया है। देव की विरहिनी की आग सागर के पानी पर जा पड़ती है तो उससे बड़वानल उठता है, वह आग पृथ्वी से आकाश को चली गई तो देवता दूर से देखते हैं, संसार उससे जलता है। चन्द्र मण्डल तो भभूके के समान जल जाता है।[2] पद्माकर की विरहिनी का ताप भी बड़ा भयंकर है। उसकी सखी नायक से कहती है कि मैं तुम्हारी विरहिनी की आग देखकर आ रही हूँ। मेरा शरीर इतना गर्म हो गया है कि यदि तुमने मुझे स्पर्श किया तो तुम्हें १०५ डिग्री का ज्वर हो जाएगा।[3]

भक्ति काल में ऊहा का इतना अधिक जोर नहीं था जितना बाद में भक्तिकाल में हुआ। कबीर में विरह वर्णन तो बहुत है परन्तु उसमें ऊहा नहीं है। सूर ने ऊहा की है; गोपियों के आँसुओं से सरिता बहती है जिसमें गोपियों के पलंग नाव बन जाते हैं।[4] तुलसीदास ने भी ऊहात्मक विरह को प्रश्रय नहीं दिया है। एक स्थान पर सीताजी हनुमानजी से कहती हैं कि वियोग में मेरी मुद्रिका, कंकण बन गई है।[5] ऐसे दो एक स्थलों को छोड़ कर तुलसीदास ने अपने को इस कलाबाजियों से दूर रक्खा है। केशव में कुछ ऊहात्मक स्थल मिल जाते हैं। भक्ति काल के कवियों में सबसे अधिक ऊहात्मक वियोग वर्णन जायसी ही में है। होना भी चाहिए था क्योंकि जायसी पर फारसी का भरपूर

१—गोपिन के अँसुवन भरी, सदा असोस अपार।
डगर-डगर नै ह्वै रही, बगर-बगर के बार॥ —वि० बो०, ५२६

२—जागी न जोन्हाई लागी आगि है मनो भव की,
लोक तीनों हियो हेरि-हेरि हहरत है।
वारि पर परे जल जात जरि बरि-बरि,
वारिधि तें बाड़व अनल पसरत है॥
धरनि तें लाइ भारि छूटि नभ जाइ, कहै,
देव जाहि जोवत जगत हू जरत है।
तारे चिनगारे ऐसे चमकत चहूँ ओर,
वैरी विधु मंडल भभूको सो बरत है॥

३—दूर ही तें देखत बिथा मैं वा बियोगिन की, आई भले भाजि हों इलाज मढ़ि आवैगो।
कहै पद्माकर सुनो हो घनस्याम [illegible]
[illegible]
[illegible]

४—भरि-भरि [illegible]
[illegible]
[illegible] —भ्रमर गीत सार, ३६८

५—अब जीवन कै है कपि आस न कोइ।
कनगुरिया कै मुँदरी कँकन होइ। —बरवै रामायण, सुन्दर कांड, [illegible]

प्रभाव है, उनका पद्मावत, फ़ारसी शैली पर लिखा प्रबन्ध काव्य है। भक्ति कालीन अन्य कवियों से अधिक होने पर भी जायसी की ऊहात्मक उक्तियाँ अधिक मात्रा में नहीं हैं। ये उक्तियाँ प्रधानतः विरहिनी की आग से ही सम्बद्ध हैं। विरहिनी के शरीर के अन्दर की आग से शरीर में रहने वाले प्राण-हंस के पंख जल गए और वह हंस भाग गया।[१] इस अन्दरूनी आग से बहुत-सा धुआँ उठा। उसीसे कौवे एवं भौंरे काले पड़े हैं।[२] इससे पूर्व वे श्वेत थे। वियोग की आग से भरी नायिका नागमती जिस पेड़ पर बैठे पक्षी के पास जाकर संदेशा कहती है, वह पक्षी, पेड़ सहित जलकर भस्म हो जाता है।[3] नायिका की विरह आग ही ऐसी जुलमिन हो, यह बात नहीं है। नायक की विरहाग्नि भी उसकी झोली को फूँक डालती है। धुआँ उठता है सहस्रों और लाखों मनुष्य आ-आकर पानी और धूल डालते हैं। किन्तु वह किसी प्रकार से भी नहीं बुझती।[४] बुझाने वाले यदि पास आकर छू भी लेते हैं तो भस्म हो जाते हैं। पानी की मोटी तहें फेंकी गईं, बरसात का दृश्य सामने आया। पानी ने कहा—देखता हूँ कैसे नहीं बुझती। वह पिल पड़ा अग्नि के ऊपर। परन्तु फल क्या हुआ? आग तो न बुझी, जल स्वयं जल गया।[५]

विरह के आँसू भी प्रलयंकर हैं। संसार के बन जो जले दिखाई पड़ते हैं, वे इसी विरह की आग के जलाए हुए हैं। उसी प्रकार सृष्टि के सातों सागरों में जो जल भरा है वह विरह के आँसुओं का ही है।[६] पृथ्वी इन्हीं आँसुओं के जल से पूर्णतया भर गई है। आँसू नहीं रुके तो जल का प्रवाह भी बढ़ा और उसने सागरों के तटों को तोड़ डाला, पर्वत शिखरों—ऐवरेस्ट इत्यादि—को डुबो दिया। बस संसार में पानी ही पानी दीखता था।[७] किन्तु जायसी ने दो कौशल अपनाए हैं जिनके कारण उनका ऊहात्मक वर्णन कोरे चमत्कार या जादू की श्रेणी में जाने से बच गया है। एक

१—अहि जो मारै बिरह कै, आगि उठै तेहि लागि।
हंस जो रहा सरीर महँ, पाँख जरा गा भागि॥
२—पियसौं कहेउ सँदेसड़ा हे भौंरा हे काग।
सोधनि बिरहै जरि मुई तेहिक धुआँ हम्ह लाग।
३—[illegible] होइ, कहै बिरह कै बात।
[illegible] होइ निपात।
४—कंथा जरै, आगि जनु लाई। बिरह धँधार, जरत न बुझाई॥
५—बिरह बजागि बीच का कोई। आगि जो छुवै जाइ जरि सोई॥
आगि बुझाइ परै जल गाढ़ै। वह न बुझाइ आपु ही बाढ़ै॥
६—बिरह अगिनि [illegible]॥
७—गगन मेघ [illegible]।
[illegible]॥

तो उन्होंने हेतु-उत्प्रेक्षा का सहारा लिया है और दूसरे इस विरह की आग या अश्रुमाला को समस्त सृष्टि में व्याप्त दिखाया है। उनके नायक या नायिका की आग प्रकृति में जलती दिखलाई पड़ती है और इस प्रकार रहस्यात्मक संकेतों के आ जाने से अग्नि में वास्तविकता एवं सरसता आ जाती है। नायक की विरहाग्नि सूर्य में देखी जा सकती है। रत्नसेन की आग से ही रात-दिन सूर्य जलता सुनता है। बेचारा सूर्य इस जलन से इतना पीड़ित है कि आराम से एक स्थान पर एक क्षण के लिए बैठ कर सुस्ता भी नहीं पाता, वरन् इधर-उधर दौड़ता है, कभी स्वर्ग में जाता है कि शायद अमृत कुंड या स्वर्ग गंगा से ही आग बुझ जाएगी, कभी वह पाताल पहुँच जाता कि स्यात् पाताल गंगा का जल अधिक शीतल हो।[1] नायक की विरहाग्नि की यदि एक चिनगारी छूट गई तो पहाड़ जल उठेंगे और पहाड़ के सब पत्थर फट जायेंगे। देवता जल कर भस्मीभूत हो जायेंगे, पृथ्वी-स्वर्ग सब भाड़ बन जायेंगे।[2] संसार में अनेक लाल पदार्थ दिखलाई देते हैं। डूबता सूर्य, मजीठ, टेसू, जोगी-जती, गेरू, लाल-पत्ती, लाल-बादल, इंगुर—ये सब पदार्थ लाल हैं। यह लालिमा कहाँ से आई? नायक रत्नसेन विरह में रोया था। उसके नेत्रों से जल नहीं, हृदय का रक्त, वियोग की आग से जलकर टपका था। उसीसे ये पदार्थ लाल हो गए।[3] इसी प्रकार नागमती के रक्ताश्रुओं ने पलाश को लालिमा दी। बिंबाफल में उन्हीं रक्ताश्रुओं से लालिमा आई, पके परवल भी रक्ताश्रुओं की लालिमा लिए हैं। गुंजा या घुंघची का मुख भी उन्हीं से लाल बन गया है।[4] रहस्यात्मक रंग आ जाने से जायसी की ऊहात्मक उक्तियाँ बात की करामात बनने से बच गईं और उनमें स्वाभाविकता एवं सरसता आ गई।

१—बिरह क आगि सूर जरि काँपा। रातिहि दिवस जरै ओहि तापा॥
खिनहि सरग, खिन जाइ पतारा। थिर न रहै एहि आगि अपारा॥

२—अबहिं कि घरी सो चिनगारी छूटै। जरहिं पहार पाहन सब फूटै॥
देवता सबै भसम होइ जाहीं। छार समेटे पाउब नाहीं॥
धरती सरग होइ सब ताता। औ मजीठ टेसू बन राता॥

३—सूरुज बूड़ि उठा होइ राता। औ मजीठ टेसू बन राता॥
भा बसंत रातीं बनसपती। औ राते सब जोगी जती॥
पुहुमि जो भीजि भयउ सब गेरू। औ राते सब पंखि पखेरू॥
राती सती अगिनि सब काया। गगन मेघ राते तेहि छाया॥
ईंगुर भा पहार जो भीजा।

४—बूंद-बूंद महँ जानहु जीऊ। गुँजा गूँजि करै पिउ पीऊ॥
तेहि दुख भए परास निपाते। लोहू बूड़ि उठे होइ राते॥
राते बिंब भीजि तेहि लोहू। परवर पाक, फाट हिय गोहूँ॥
देखौं, जहाँ होइ सोइ राता।

संवेदनात्मक वर्णन

जायसी हिन्दी जगत में अपने विरह वर्णन के कारण ही प्रसिद्ध हैं। इस प्रसिद्धि का मूलाधार उनका संवेदनात्मक वर्णन ही है। उन्होंने संवेदनशील-हृदय की पूरी संवेदना उंडेल दी है। फलतः ये वर्णन पाठक या श्रोता को भाव विभोर कर देते हैं। जायसी का संवेदनात्मक विरह-वर्णन प्रकृति की पृष्ठभूमि में हुआ है। फलतः जायसी में प्रकृति का उद्दीपनात्मक रूप ही मिलता है। प्रकृति, स्वतः न किसी को दुख देती है, न किसी को सुख, किन्तु मानव मन की विशेष स्थिति उसमें दुःख या सुख खोज लेती है। यदि मनुष्य दुखी है तो रात लम्बी लगती है किन्तु यदि वह सुखी है तो वही रात, छोटी मालूम होती है। सुखदायक वस्तुएं भी दुःख के समय दुःख पहुँचाने लगती हैं। प्रकृति एवं प्रकृति की गोद में पले पदार्थ, वियोग के समय बड़े बुरे प्रतीत होते हैं। ऐसे समय तो दूसरों का सुखी होना और भी कटु लगता है। सखियों को संयोग का सुख भोगते देख कर विरहिनी नागमती को जलन होती है।[1] सावन में सखियाँ हिंडोले में अपने प्रियतमों के साथ झूल रही हैं। प्रकृति में हरियाली भरी है। सखियाँ सुन्दर रंग बिरंगे वस्त्र पहने आनन्द विभोर हो हँसती झूल रही हैं। उधर विरहिनी का हृदय हिंडोला बना हुआ है। वह स्थिर नहीं है, भागा भागा फिर रहा है, कभी बैठता है, कभी उठता है। विरह उस हृदय हिंडोले को झुला रहा है।[2]

उसके कानों में सखियों के झूमक गाने का शब्द बज उठता है। वह दुखी होकर कहती है—देखो, ये सुख पारही हैं, मैं दुख भोग रही हूँ। क्यों? इनके प्रियतम इनके पास हैं, मेरे बहुत दूर।[3] कभी उसे अन्य स्त्रियों को होली जलाते और फाग खेलते देख कर कुढ़न होती है। एक ओर सखियों की होली जलती है और दूसरी ओर उसका शरीर।[4] मनुष्य ही नहीं पशु पक्षियों को आनन्द करते देख कर उसे ईर्ष्या होती है। दिन में वह चकवी को चकवे से मिलते देख कहती है—कि, ये ही भले हैं; कमसे कम दिन में तो मिल लेते हैं। एक मैं हूँ कि रात दिन अकेली पड़ी दुख भोग रही हूँ।[5] वर्षा के बाद सब पशु पक्षी घर लौट आए हैं। पपीहे के पास पानी आगया, सीपियों ने मोती पाए, सरोवरों के पास हँस पहुँच गये हैं, सारस अपने जोड़े

१—जिन्ह घर कंता ते सुखी तिन्ह गारो औ गर्ब।
कंत पियारा बाहिरै, हम सुख भूला सर्ब॥

२—सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला। हरियर भूमि कुसुंभी चोला॥
[illegible] हिंडोल अस डोलै [illegible]। बिरह झुलाइ देइ झकझोरा॥

३—[illegible] ॥ [illegible] झुरानि बिछुरी मोरी जोरी॥

४—फाग करहिं सब चाँचरि जोरी। मोहि [illegible] दीन्ह जसु होरी॥

५—चकई निसि बिछुरै दिन मिला। हौं दिन राति बिरह कोकिला॥

बना-बना कर क्रीड़ा कर रहे हैं, खंजन भी लौट आए हैं किन्तु हाय मेरा प्रियतम, ऐसा गया है कि नहीं लौटा है।[1]

मनुष्य और पशु पक्षियों का आनन्द वियोगिन को काटता है, एवं सुख देने वाली वस्तुएँ उसे दुख देने लगती हैं। प्रकृति के वे सब दृश्य, जो उसे संयोग समय सुखदायी बने हुए थे, अब उसके हृदय को कचोटते हैं। कार्तिक की शीतल चाँदनी औरों को ठंडक देती है, बिरहिनी को ताप। उसे लगता है कि चांद सारे संसार को जलाए डालता है।[2] पहिले शय्या की श्वेत चादर उसे बड़ी भली लगती थी, उससे कुछ गर्मी आ जाती थी क्योंकि पति पास था, किन्तु प्रिय वियोग में वह हिम से अधिक शीतल प्रतीत हो रही है, पूरी शय्या पर बर्फ बिछा लगता है। पहिले रुई की रिजाई से गर्मी आ जाती थी। परन्तु अब तो वह बड़ा दुख दे रही है, उसके ओढ़ लेने पर हृदय काँप उठता है।[3] भवन जो पहिले भरा-भरा लगता था अब शून्य मालूम पड़ता है, उसमें सुनसानता बिराजती है यद्यपि नातेदार, भाई बन्धु, सभी भरे हैं। इसी प्रकार शय्या नागिन के समान काटती है।[4] शीत ऋतु एवं हेमंत बड़ी सुखदाई थीं जब पति साथ था।[5] किन्तु वही अब प्राण की गाहक बनी हुई हैं। जाड़ा तो प्राण-पक्षी के लिए बाज बन गया है।[6] श्रावण मास पहिले बड़ा सुखदाई था। आज भी आकर वह औरों को हरा करता है किन्तु वह सूखती जाती है।[7] उसी प्रकार बसंत जो पहिले उल्लास देता था आज फूलों के मिस चांटे मारता है। ये ही फूल थे जिनसे वह सजती थी किन्तु अब उन्हें छूती भी नहीं।[8] प्रकृति की यह

१—स्वाँति बूंद चातक मुख परे। समुद सीप मोती सब भरे॥
सरवर सँवरि हंस चलि आए। सारस कुरलहिं खंजन देखाए॥
भा परगास काँस बन फूले। कंत न फिरे बिदेसहि भूले॥
२—कातिक सरद चंद उजियारी। जग सीतल हौं बिरह जारी॥
चौदह करा चाँद परगासा। जनहुँ जरै सब धरति अकासा॥
३—सौर सपेती आवै जूड़ी। जानहुँ सेज हिमंचल बूड़ी॥
पहल पहल तन रुई झाँपै। हहरि हहरि अधिकौ हिय काँपै॥
४—मंदिर सून पिउ अनतै बसा। सेज नागिनी फिरि फिर डसा॥
५—आइ सरद ऋतु अधिक पियारी। आसिन कातिक ऋतु उजियारी॥
एहि ऋतु कंता पास जेहि, सुख तेहि के हिय माँह।
अगहन पूस सीत सब काला।
६—काँपै हिया जनावै सीऊ। तौ पै जाइ होइ सँग पीऊ॥
बिरह सचान भयउ तन जाड़ा। जियत खाइ औ मुए न छाँड़ा॥
७—भरनि भरी हौं बिरह झुरानी।
८—मोकहँ फूल भए सब काँटे। दिस्टि परत जस लागहिं चाँटे।

विषमता विरहिनी को खलती है। पर वह करे तो क्या करे।

विरहिनी प्रकृति में अपनी समता भी पाती है और दुखी होती है। भादों में बादल बरस रहे हैं तो साथ ही साथ उसके नेत्र भी। वर्षा का पानी ओरियों से चू रहा है तो उसकी आँखों से भी। एक ओर आक या जवासा सूख रहा है तो दूसरी ओर उसका शरीर भी[१]। कुवार के लगने पर एक ओर पानी घटा है तो दूसरी ओर उसका शरीर[२]। दीपक भी जल रहा है तो विरह से उसका शरीर भी[३]। माघ में बादलों और उसके नेत्रों से पानी पड़ रहा है। एक ओर ओले टपाटप गिर रहे हैं तो दूसरी ओर विशालाक्षी के मोटे-मोटे आँसू[४]। पतझड़ के मौसम में वृक्षों के पत्तों के साथ विरहिनी का शरीर भी पीला पड़ा है[५]। बैशाख में धूप से जग जल रहा है तो उसका तन भी। गर्मी की अधिकता से सरोवरों का तट फट रहा है और साथ ही उसका हृदय भी। दोनों में दरारें पड़ गई हैं[६]।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि जायसी ने विरह में मन की मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का चित्रण बड़े भाव पूर्ण ढंग से किया है। इसी कारण जायसी का विरह वर्णन श्रोता और पाठक के मन में घर कर लेता है। भारतीय काव्य शास्त्रियों ने विरह की दश दशाएँ मानी हैं। ये दशों दशाएँ भी जायसी के विरह वर्णन में प्राप्त होती हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि जायसी ने भारतीय काव्य शास्त्र का अध्ययन किया था। ऐसी बात नहीं है। जायसी बहुत पढ़े लिखे विद्वान् न थे, न उन्होंने संस्कृत काव्य शास्त्र को पढ़ा था। उनके पद्मावत में जो विरह की दश दशाएँ प्राप्त होती हैं, इसका कारण है विरह-वर्णन का विस्तार। जायसी ने विरह की भिन्न-भिन्न मानसिक दशाओं का चित्रण इतनी विशदता से किया है कि उसमें दशों दशाएँ अपने आप आ बैठी हैं। यदि जायसी ने भारतीय काव्य शास्त्र का ध्यान रक्खा होता तो विप्रलंभ शृङ्गार में बीभत्स का वह चित्रण प्राप्त न होता जो पार्वती-महेश-खंड, राजा गढ़छेंका-वर्णन, गंधर्वसेन-मंत्री खंड और नागमती-वियोग खंड में चित्रित है।[७]

१—बरसहि मघा झकोरि झकोरी। मोर दुइ नैन चुवैं जस ओरी॥
अर्क जवास भई तस झूरी।

२—लाग कुवार नीर जग घटा। अबहूँ आउ, कंत तन लटा॥

३—जरौं विरह जस दीपक बाती।

४—नैन चुवहिं जस महवट नीरू''''''टप टप बूँद परहिं जस ओला।

५—तन जस पियर पात भा मोरा।

६—लागिउँ जरैं जरै जस भारू। फिरि फिरि भूँजेसि तजिउँ न बारू॥
सरवर हिया घटत निति जाई। टूक टूक होइ कै बिहराई॥

७—तन रोवँ नस जिउ जरै गिरै रकत औ मांसु।
रोवँ रोवँ सब रोवहिं सूत सूत भरि आँसु। —पार्वती महेश खंड

दश दशाएँ

(१) अभिलाषा—

पलटि न बहुरा गा जो बिछोई । अबहु फिरै, फिरै रंग सोई ॥
आइ सूर होइ तपु रे नाहा । तोहि बिनु जाड़ न छूटै माहा ॥
राति दिवस बस यह जिउ मोरे । लगौं निहोर कंत अब तोरे ॥

(२) चिन्ता—

भा भादों दूभर अति भारी । कैसे भरौं रैनि अंधियारी ॥
मंदिर सून पिउ अनतै बसा । सेज नागिनी फिरि फिरि डसा ॥
रही अकेलि गहे एक पाटी । नैन पसारि मरौं हिय फाटी ॥

(३) स्मरण—

पुष्य नखत सिर ऊपर आवा । हौं बिनु नाह मंदिर को छावा ॥
अद्रा लाग, लागि भुइं लेई । मोहि बिनु पिउ को आदर देई ॥
ओहि के गुन संवरत भइ माला । अबहुं न बहुरा उड़िगा छाला ॥

(४) गुण कथन

नागर काहु नारि बस परा । तेइ मोर पिउ मोसों हरा ॥
सुआ काल होइ लेइगा पीऊ । पिउनहिं जात, जात बस जीऊ ॥
भएउ नरायन बावँन करा । राज करत राजा बलि छरा ॥
करन पास लीन्हउ कै छंदू । बिप्र रूप धरि झिलमिल इंदू ॥
मानत भोग गोपीचंद भोगी । लेइ अपसवा जलंधर जोगी ॥
लेइगा कृष्नहि गरुड़ अलोपी । कठिन बिछोह, जियहिं किमि गोपी ॥

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्टांश)

संवरि रकत नैनहिं भरि चूआ । रोइ हँकारेसि माझी सूआ ।
परी जो आसु रकत कै टूटी । रेंगि चली जनु बीर बहूटी ॥
ओहि रकत लिखि दीन्ही पाती । सुआ जो लीन्ह चोंच भई राती ॥

—राजा गढ़ छेंका खंड

और अगाध का कहौं अपारा । सती सो जरै कठिन अस झारा ॥
काढ़ि काढ़ि माँसु सराग पिरोवा । रकत कै आँसु माँसु सब रोवा ॥
खिन एक बार माँसु अस भूँजा । खिनहिं चबाइ सिंघ अस गूँजा ॥

—गंधर्व सेन मंत्री खंड

अस्तर भयउ माँसु तन सूखा । लागेउ बिरह काल होइ भूखा ॥
माँसु खाइ अब हाड़न्ह लागै । अबहुँ आउ आवत सुनि भागै ॥
दहि कोइला भइ कंत सनेहा । तोला माँसु रहा नहिं देहा ॥

—नागमती वियोग खंड

(५) उद्वेग

साँझ भए झुरि झुरि पथ हेरा। कौन सो घरी करैं पिउ फेरा ॥
उठै आगि औ आवै आँधी। नैन न सूझ मरौं दुख बाँधी ॥

(६) प्रलाप

हारिल भई पंथ मैं सेवा। अब तह पठवौं कौन परेवा ॥
धौरी पंडुक कहु पिउ नाऊँ। जौ चित रोख, न दूसर ठाऊँ ॥
जाहि बया होइ पिउ कंठ लवा। करै मेराव सोइ गौरवा ॥

नहिं पावस ओहि देसरा, नहिं हेवंत बसंत।
ना कोकिल न पपीहरा, जेहि सुनि आवै कंत ॥

(७) उन्माद

पद्मावती—पदमावति कँवला ससि जोती। हँसै फूल, रोवै सब मोती ॥
नागमती—कोइल भई पुकारति रही। महिर पुकारै लेइ लेइ दही ॥
कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई। रकत आँसु घुंघुची बन बोई ॥
रत्नसेन—अरे मलिछ बिसवासी देवा। कित मैं आइ कीन्ह तोरि सेवा ॥
सुफल लागि पग टेकेंउँ तोरा। सुआ क सेंवर तू भा मोरा ॥
पाहन चढ़ि जो चहै भा पारा। सो ऐसे बूड़ै मझधारा ॥
बाउर सोइ जो पाहन पूजा। सकत को भार लेइ सिर दूजा ॥
काहे न जिय सोइ निरासा। मुए जिअत मन जाकरि आसा ॥
कहेसि जरै को बारहिं बारा। एकहिं बार होहुं जरि छारा ॥
सर रचि चहा आगि जो लाइ······

उन्माद के अन्तर्गत रोने का बहुत वर्णन हुआ है।

(८) व्याधि

क—कृशता

बिरह अगस्त जो बिसमो उएऊ। सरवर हरष सूखि सब गएऊ ॥
परगट डारि सकै नहिं आँसू। घटि घटि मांसु गुपुत होइ नासू ॥
जस दिन माँझ रैनि होइ आई। बिगसत कँवल गएउ मुरझाई ॥
राता बदन गएउ होइ सेता। भँवत भँवर रहि गए अचेता ॥
सावन बरस मेह अति पानी। भरनि परी हौं बिरह झुरानी ॥
पुरवा लागि भूमि जल पूरी। आक जवास भई तस झूरी ॥
लाग कुआर, नीर जग घटा। अबहूं आउ, कंत तन लटा ॥

रकत ढरा, माँसू गरा, हाड़ भएउ सब संख।
धनि सारस होइ ररि मुई, पीउ समेटहि पंख॥

तन जस पियर पात भा मोरा। तेहि पर बिरह देइ झकझोरा॥
माँसु गिरा, पांजर होइ परी। जोगी! अबहुं पहुंच लेइ जरी॥

ख—ताप

कातिक सरद चंद उजियारी। जग सीतल हौं बिरहै जारी॥
तन मन सेज करै अगिदाहू। सब कहँ चंद, भएउ मोहिं राहू॥
अब यहि बिरह दिवस भा राती। जरौं बिरह जस दीपक बाती॥
फागु करहिं सब चांचरि जोरी। मोहि तन लाइ दीन्ह जस होरी॥
लागिउं जरै, जरै जस भारू। फिरि फिरि भूंजेसि, तजउं न बारू॥

(९) जड़ता (पद्मावती में)—

विरह न बोल आव मुख ताईं। मरि-मरि बोल जीउ बरियाईं॥
उदधि समुद जस तरंग देखावा। चख घूमहिं मुख बात न आवा॥

(रत्न सेन में)

सुनि सो बात राजा मन जागा। पलक न मार, प्रेम चित लागा॥
नैनन्ह परहिं मोति औ मूंगा। जस गुर खाय रहा होइ गूंगा॥

(नागमती में)

उठै आगि औ आवै आँधी। नैन न सूझ मरौं दुख बाँधी॥
बिरह बान तस लाग न डोली। रकत पसीजि भीजि गइ चोली॥
सूखा हिया, हार भा भारी। हरे हरे प्रान तजहिं सब नारी॥
खन एक आव पेट महँ साँसा। खनहिं जाइ जिउ, होइ निरासा॥
पवन डोलावहिं, सींचहि चोला। पहर एक समुझहिं मुख बोला॥

(१०) मूर्छा

मूर्छा का वर्णन कई स्थान पर है।

रत्नसेन—

सुनतहिं राजा गा मुरझाई। जानौं लहरि सुरुज कै आई॥

किन्तु यह मूर्छा पद्मावती का नख शिख वर्णन मात्र सुनने से हुई है। अतः लौकिक एवं मनोवैज्ञानिक न होकर, अलौकिक है। इसी प्रकार की मूर्छा वह है जब रत्नसेन पद्मावती को मंडप में देखते ही मूर्छित हो जाता है

जोगी दिष्टि दिष्टि सौं लीन्हा । नैन रोपि, नैनहिं जिउ दीन्हा ॥
जेहि पद चढ़ा परा तेहि पाले । सुधि न रही ओहि एक पियाले ॥
परा माति गोरख कर चेला ।

यह भी अलौकिक मूर्छा है । राजा को ही क्या जिसने उस समय पद्मावती को देखा, मूर्छित हो गया—

"मुरुछि परै जोई मुख जोहै"

यही नहीं, बेचारा पत्थर का देवता भी मूर्छित हो गया ।

किन्तु आगे जो रतनसेन एवं पद्मावती को मूर्छा आई है, वह वियोग परक मानी जा सकती है । पद्मावती के जाने के बाद राजा बुरी तरह रोया । विरह में वह बिललाने और लोलने लगा । उसे मूर्छा हो आई—

राजा इहाँ ऐस तप झूरा । भा जरि विरह छार कर कूरा ॥
नैन लाइ सो गएउ बिमोही । भा बिनु जीउ, जीउ दीन्हेसि ओही ॥
चित्त जो चिन्ता कीन्ह धनि रोवैं रोवें समेत ।
सहस साल सहि, आहि भरि, मुरुछि परी, गाचेत ॥

नागमती—

आहि जो मारै विरह कै, आगि उठै तेहि लागि ।
हंस जो रहा सरीर मंह पांख जरा गा भागि ॥

उधर पद्मावती भी रतन सेन के विरह में मूर्छित हो जाती है ।

जायसी का विरह वर्णन इतना प्रभाव पूर्ण न होता यदि उसके राजा-रानी स्वर्णसिंहासन पर बैठ कर आँखों से मोती ढलकाते और गुलाब जल को अपनी वियोगाग्नि से भाप बना देते । भारतीय काव्य में आदि काल से यह प्रणाली अपनाई गई है कि वियोग की भावनाएं साधारण मनुष्य की कोटि से प्रकट कराई जायं । आदि कवि वाल्मीकि ने राम-सीता को बन में लेजाकर वियोग में तड़पाया । और तो और सीता को रावण के राजभवन में न रख कर अशोक वाटिका में विरह-दग्ध दिखलाया । वियोगिनी शकुन्तला बनवासिनी थी और दुष्यंत से ठुकराई जाकर पर्वत शिखर पर रही । भवभूति के नायक राम का विरह, बन में ही विस्तार पाता है जहाँ आश्रम वासिनी सीता आ जाती हैं । श्री मद्भागवत् की गोपियाँ तो प्रकृति में विहार करने वाली ग्रामीण स्त्रियाँ थीं । उनका वियोग वर्णन भी तभी किया गया है जब कृष्ण जी राज-भवन छोड़ कर गोकुल में आगए और गोपियों के साथ खेल खेल कर बड़े हुए । भागवत्कार ने गोपियों के वियोग का वर्णन बन, पर्वत, सरिता और वृक्षों के माध्यम से किया है जहाँ

कुमार कृष्ण गोपवेश में निवास कर रहे थे और जिस स्थान को छोड़ कर वे मथुरा चले गए। जायसी ने अपने नायक राजा रतनसेन को समुद्रों एवं वनों में भटकाया और एक वाटिका में लेजाकर टिका दिया। उधर नागमती भी विरह में रनिवास छोड़ देती है एवं दीनावस्था में वन वन मारी फिरती है। बरसात और जाड़ों में वह किसी कुटिया में टिक जाती है और कहने लगती है—

हौं बिनु नाह, मंदिर को छावा।
मोर दुइ नैन चुवैं जस ओरी॥
मोहिं पिउ बिनु छाजनि भइ गाढ़ी॥
भई दुहेली टेक बिहूनी। थांभ नाहिं उठि सकै न थूनी॥
छपर छपर होइ रहि बिनु नाहा।

नागमती अपने विरह का कथन दीन जीवन की वस्तुओं—ओरी, छाजनि, टेक, थांभ, थूनी इत्यादि के माध्यम से करती है जिनके कारण विरह का साधारणीकरण शीघ्र हो जाता है।

भारतीय साहित्य में विरह दो प्रकार का दिखलाई पड़ता है—भावजन्य और परिस्थिति जन्य। भाव जन्य विरह वहाँ होता है जहाँ नायक-नायिका अत्यन्त निकट होते हुए भी विरह में तड़पते दिखलाई पड़ते हैं। मालविकाग्निमित्र, प्रियदर्शिका, रत्नावली, भागवत् एवं सूरसागर में इसी विरह का चित्रण है। भागवत् और सूरसागर की गोपियों के कृष्ण बहुत दूर न थे किन्तु वे विरह में उसी प्रकार कलपती हैं मानो कि कृष्ण कई सहस्र योजन की दूरी पर बैठे हैं। यह भावजन्य वियोग है। गोपियाँ समझती हैं कि कृष्ण निकट रहते हुए भी हमें भूल बैठे हैं। फलतः वे बड़ी दुःखी हैं। परिस्थिति जन्य विरह में नायक-नायिका के बीच प्राकृतिक दूरी पड़ जाती है। अतः उनका दुःखी होना स्वाभाविक ही है। ऐसी नायिका ही वास्तविक प्रोषितपतिका है। रत्नसेन और नागमती के मध्य सैकड़ों योजन का अन्तर है। अतः नागमती का विलाप अत्यन्त स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण बन जाता है। इसी को ध्यान में रखकर जायसी ने आगे भी नायक रत्नसेन को दिल्ली में बन्दी कराया है। दिल्ली में बन्दी हो जाने के बाद नागमती और पद्मावती वियोगिनी दिखाई पड़ती हैं। यहाँ भी परिस्थिति जन्य वियोग ही चित्रित है।

सूर की सरसता

कुछ विद्वान एवं आलोचकों को बुरा लगा जब आचार्य प्रवर पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रसिद्धि प्राप्त दोहे के प्रथम चरण "सूर सूर तुलसी ससि" को "तुलसी रवि सूरज ससि" बना दिया। किन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो शुक्लजी ने वास्तविकता को ही सामने रख दिया। हमारे अंधे कवि सूरज दास वास्तव में चन्द्र ही हैं क्योंकि उनमें सूरज की प्रखरता, कठोरता, तीक्ष्णता एवं ताप नहीं, वरन् है सुधाकर की स्निग्धता, शीतलता, सौम्यता, कोमलता एवं सरसता। सरसता की दृष्टि से हिन्दी संसार के वे अद्वितीय एवं बेजोड़ कवि हैं। वे नारियल या अनार नहीं हैं, वे हैं, अंगूर, जो अन्दर-बाहर सब ही ओर से मीठे हैं, रस से भरे हैं। उनमें वाह्य सरसता भरपूर है और आन्तरिक भी।

सूर ब्रज के प्रथम प्रसिद्ध कवि हैं और सबसे उत्कृष्ट कवि। उनकी काव्य सरसता को कोई भी दूसरा कवि नहीं छू पाया।

वाह्य सरसता

वाह्य सरसता है, भाषा की सरसता। सूर ने चलती ब्रज भाषा का प्रयोग किया है। यह ठीक है उनकी ब्रज भाषा में कुछ दोष भी दिखलाई पड़ते हैं (१) कवि ने शब्दों को तोड़ा मरोड़ा है—गमन के लिये "गैन", रहत के लिये "राहत", पानी के लिये "पान्यौ", गया के लिये "गैया"—का प्रयोग हुआ है (२) भरती के शब्द मिलते हैं जैसे जु, सु, धौं, इत्यादि (३) व्याकरण में दोष भी हैं जैसे एक ही शब्द को दोनों लिङ्गों में प्रयुक्त कर दिया है। यह भी हो सकता है कि ये दोष लिपि कारों की असावधानी से पैदा हो गये हों, गेय काव्य होने से यह परिवर्तन करना पड़ा हो। यदि इन दोषों का अस्तित्व स्वीकार कर भी लें तब भी सूर, सूर ही हैं। उनकी भाषा की सरसता एवं मृदुता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। ऊपर बताये दोष मिश्री की फांस के तुल्य नगण्य से ही हैं।

ब्रज भाषा अपनी मधुरता एवं सरसता के लिये वैसे ही प्रसिद्ध है। फिर सूर ने तो उसमें चार चाँद लगा दिये हैं, उन्होंने भाषा को सभी साधनों से सरस बनाया है। शब्द ही ईंट पत्थर हैं जिनसे साहित्य-भवन का निर्माण होता है। जो कवि शब्द चयन में जागरूक एवं सावधान रहता है उसका प्रयास विफल नहीं होता। रीति काल

के हिन्दी कवियों ने शब्द शोधन में विशेष सफलता पाई है। पर वे अधिकांशतः 'अति' पर भी पहुँच गये हैं जैसे सेनापति का निम्न छंद इसका सुन्दर उदाहरण है—

लोलो लल्ला लल्लली लै ली लीला लाल।
लालौ लीलौ लोल लै लै लै लीला लाल॥

मृदु वर्ण 'ल' के प्रयोग की धुन में केवल छिलका ही हाथ में रह गया। कोमल कान्त पदावली की ओर प्रायः सभी कवियों का ध्यान रहता है। साहित्य शास्त्र में गुणों पर जो ध्यान दिया गया है, प्रसाद, माधुर्य, ओज इत्यादि गुणों पर जो बल दिया गया है, वह वर्ण एवं शब्द शोधन द्वारा भाषा का शृङ्गार ही है। सूर ने इस ओर पूरा ध्यान दिया है। उन्होंने सरल-सुबोध शब्दों का प्रयोग किया है; समासों को भरसक दूर रक्खा है; माधुर्य गुण व्यंजक मधुर वर्ण ल स इत्यादि का प्रयोग समुचितरूप से किया है; न एवं सानुनासिक वर्णों के प्रयोग द्वारा झंकार उत्पन्न की है, अनुप्रास का ध्यान रक्खा है। इन सब साधनों से भाषा की सरसता में वृद्धि की है।

उदाहरण

प्रसाद एवं मधुरता—नवल निकुंज नवल नवला मिलि,
नवल निकेतनि रुचिर बनाये।
बिलसत विपिन बिलास बिबिध,
वर बारिज बदन विकच सचुपाये।

× × ×

कर कंकन तें भुज टाड़ भई।
मधुबन चलत स्याम मन मोहन,
आवन अवधि जु निकट दई।
पूजत गौरि मनावत संकर,
बासर निसि मोहि गनत गई।

अनुप्रास—गोपी गाइ ग्वाल गोसुत,
सब दुख बिसरयौ, सुख करत समाज।

मंजु मेचक मृदुल तनु अनुहरत भूषन भरनि!
मनहुँ सुभग सिंगार सिसु-तरु फरचौ अद्भुत फरनि।

भाषा की सरसता दूसरे प्रकार से भी सूर ने बढ़ाई है। भाषा में दृष्टिकूटों को छोड़ कर कहीं क्लिष्टता नहीं। तुलसी ने विनयपत्रिका में भारी-भारी संस्कृत शब्द प्रयोग द्वारा भाषा को बहुत से स्थलों पर क्लिष्ट कर दिया है। किन्तु सूर ने इस बात का सदा

ध्यान रखना है कि भाषा सरल, अकृत्रिम एवं प्रवाह मय बनी रहे। भाषा की सबसे बड़ी सरसता तो यही है कि वह चलती एवं प्रवाहमय रहे। भाषा में प्रवाह आता है मुहावरों एवं लोकोक्तियों के समुचित प्रयोग से। सूर की भाषा की जान लोकोक्ति एवं मुहावरों में है जिससे उसका चलता रूप बना रहा, उसका प्रवाह तीव्र रहा और उसकी सरसता बढ़ती ही रही। सूर के मुहावरे एवं लोकोक्ति बड़े मर्मस्पर्शी हैं—

"खेलन अब मेरी जाय बलैया"
"योग ओढ़ियत किधौं डासियत"
"मेरो कह्यो सो पवन भुस भयौ"
"जीवन मुँह चाही को नीको"
"सूरदास जे मन के खोट,
अवसर परे जाहिं पहिचाने।"
"अपनो बोयो आप लोनिए"
"डारि गए गर फांसी"
"खाई आगे पेट बुरावति"
"लै आए हो नफा जानि कै सबै वस्तु अकरी"
"सूर सूर अक्रूर लै गयौ ब्याज निबेरत ऊधौ"

मुहावरे—"मसान जगायो" "मीड़त हाथ" "मूंड़ा चढ़ायो" "जहर की बेलि" "हम नाहिन काची" "दई प्रेम की फांसी।"

भाषा में सरसता उत्पन्न करने के लिए सूर ने एक और अचूक बाण चलाया है। उन्होंने शब्दों द्वारा सुन्दर चित्र खींचे हैं। शब्द तो कामधेनु हैं, मन चाहा वरदान दे सकते हैं। काव्यकार और जनसाधारण की वार्त्ता में अन्तर शब्दों का ही है। कवि शब्दों का जादूगर होता है और उसका जादू सिर पर चढ़ कर बोलता है। इस शब्द प्रयोग में भी कवि चित्र खींच कर हृदय पर रस का प्रवाह करता है। उसे शब्द चयन करने में इस बात का बड़ा ध्यान रखना पड़ता है कि उसके शब्द मूर्ति बनाते चलें, चित्र खींचते चलें। इसके लिये वह उन्हीं शब्दों को ग्रहण करता है जो बिम्ब ग्रहण कराने में समर्थ हैं, आँखों के सामने चित्र खींचने में सशक्त हैं। विवाह हुआ, सम्बन्ध स्थिर हुआ, लगन चढ़ी, बारात पहुँची, दाम्पत्य सूत्र में बँधे, पति-पत्नी बने इत्यादि अनेक शब्दों या वाक्यों से विवाह का अर्थ द्योतन हो सकता है। किन्तु इन सबमें बढ़ कर एक और पद है "भाँवरें पड़ीं" या "पाणि-ग्रहण हुआ"। इन शब्दों से एक चित्र नेत्र-पटल पर खिंच जाता है। कवि जब इस प्रकार के चित्रोपम शब्दों का प्रयोग करता है तो उसका काव्य सरस एवं उत्कृष्ट बनता है। जिस कवि में यह शब्द-

चित्रण की जितनी क्षमता है वह उतना ही ऊँचा उठेगा। सूर ने अपनी भाषा को शब्द चित्रों से सरस बनाने में कुछ छोड़ नहीं रक्खा है।

"लादि खेप गुन ग्यान जोग की।"

खेप शब्द एक चित्र सा खींच देता है यह बड़ा व्यंग्यात्मक एवं सशक्त चित्र खींचता है। इस प्रकार के असंख्य उदाहरण सूर के सागर में डुबाते उतराते मिलेंगे—

"अटपटाइ कलबल करि बोलत"
"मोहन अपनी गैयां घेरि लै
बिडरी जाति काहु नहिं मानत
नैकु मुरली की टेर दै।"
"जल समूह बरसत दोउ अँखियाँ
हूँकति लीन्है नाऊँ।"

सूर का चौथा अस्त्र है व्यंग्य एवं वक्रता जिसके द्वारा सूर ने कथन में, भाषा में सरलता उत्पन्न की है। सूर जैसा विनोद एवं परिहास, हिन्दी के विरले ही कवियों में है। इन परिहासात्मक उक्तियों द्वारा भाषा में जान पड़ गई है, अत्यन्त सरलता आ गई है और आनन्द की एक निर्झरिणी प्रवाहित हो गई है। उनकी यह प्रवृत्ति सर्वत्र उपलब्ध है। कहीं वात्सल्य रस के अन्तर्गत कृष्ण के मुख से ऐसी उक्ति निकलती है—

"मैया मोहिं दाऊ बहुत खिजायो।
मोसों कहत मोल को लीनो,
तोहि जसुमति कब जायो।"

कहीं संयोग शृङ्गार के रूप गोपियाँ निर्जीव मुरली से छेड़छाड़ कर उसे सजीव कर देती हैं—

मुरली तऊ गोपालहिं भावति
जदपि सखी नन्दनन्दनहिं
नाना भाँति नचावति;

कहीं वियोग विह्वल गोपियाँ प्रियतम कृष्ण तक को नहीं बख्शतीं और चुटीली चोट करती हैं—

सखीरी स्याम सबै इक सार
मीठे बचन सुहाए बोलत, अन्तर जारन हार।

आन्तरिक सरसता

कवि दो प्रकार के होते हैं (१) भाव प्रधान कवि (२) बुद्धि प्रधान कवि। सूर, जायसी, घनानन्द भाव प्रधान कवि हैं। कबीर, केशव, बुद्धि प्रधान कवि हैं। सूर का सागर भाव रत्नों का अनुपम भंडार है। उसमें एक से एक अनूठा भाव मिलेगा। भावों की सरसता की अप्रतिम देन सूर ने हमें दी है। उनके भाव भंडार में कुछ शंख घोंघे भी हैं पर बहुत ही अल्प संख्या में। नहीं तो सर्वत्र मुक्ता और रत्न ही भरे हैं।

सरलता—

सूर ने अपने भावों में कई प्रकार से सरलता भरी है। भाव सरल, सबल एवं प्रवाह पूर्ण हैं। सूर का सबसे प्रधान गुण ही उसकी सरलता है, क्या भाषा की, क्या भाव की। वे जो कुछ कहते हैं बड़े सरल ढंग से और जो कुछ कहा है वह भी सरल है। उनके पदों में बालिका-सरलता है, वह भी ग्राम्य बालिका की। कृष्ण, माँ से कभी चन्द्र पकड़ने के लिये हठ करते हैं "माँ मैं चन्द्र खिलौना लैहौं" कभी वे माँ से पूछते हैं "मैया कबहिं बढ़ेगी चोटी", कभी वे ऐंठ जाते हैं "खेलन अब मेरी जात बलैया"। इसी प्रकार की हैं यशोदा की उक्तियाँ। सभी में सरलता का श्रोत फूट निकलता है। इसी प्रकार की 'सरलता' मिलेगी गोपियों की उक्तियों में। कहीं भी क्लिष्टता या दुर्बोधता नहीं। जो भाव हैं सीधे से निकल आता है। गोपियाँ ऊधो से पूछती हैं—

"सूर स्याम जब तुमहिं पठायो तब नेकहुँ मुसकाने"

इसी प्रकार—

"अँखियाँ हरि दरसन की भूखी।"
"ऊधो इतने मोहि सतावत।
कारी घटा देखि बादर की,
दामिनि चमक डरावत।"
"मधुकर स्याम हमारे ईस,
तिनको ध्यान धरैं निसि बासर,
औरहिं नवै न सीस।"

स्वयं आर्त होकर एवं भक्ति-भाव से भर कर भी जब सूर पुकारता है तो भी सरलता ही उत्पन्न होती है। कहीं वह बड़ी सरलता से पुकार करता है—

"अब कैं नाथ मोहि उधारि
मगन हौं भव अम्बुनिधि में
कृपा सिंधु मुरारि।"

"दीना नाथ अब बारि तुम्हारी,
पतित उधारन बिरद जानि कै,
बिगरी लेहु संभारी।"
"मोसम कौन कुटिल खल कामी,
तुमसों कहा छिपी करुनामय,
सबके अन्तर जामी।"

वह बिहारी की तरह नहीं कहता—

"जो ह्वै हौं सो होउँगो हे हरि अपनी चाल"

अथवा

"तुमहुँ कान्ह अब भये आजुकालि के दानि।"

कहीं हमारा भक्त कवि, मन को समझाता है—

'तजो रे मन हरि विमुखन को संग'
'रे मन छाँड़ि विषय को रंचिबो'
'मन कहीं लगाय लिपटाव नहीं कहीं
भाव प्रपंच नहीं।'

सर्वत्र एक सरलता है। इसी कारण सर्वत्र सरसता है।

सबलता—

सूर के भावों में दूसरा गुण मिलता है, उनकी सबलता। भाव सरल होते हुए भी सबल हैं जिनका अमोघ आघात होता है हृदय पर। पूरा पद पढ़ने पर प्रतीत होता है, सूर ने बड़ी चोट की है। गोपियों के मन का भाव है, हम कृष्ण को नहीं छोड़ सकतीं। उसे कितनी सरलता पर भाव की व्यंजना से व्यक्त किया है अंधे पारखी ने—

हमारें हरि हारिल की लकरी
मन क्रम वचन नंद नंदन उर,
यह दृढ़ करि पकरी
जागत सोवत स्वप्न दिवस, निसि,
कान्ह कान्ह जकरी
सुनत जोग लागत है ऐसो,
ज्यौं करुई ककरी
सु तौ व्याधि हमकौं लै आए,
देखी सुनी न करी

६

यह तौ सूर तिन हि लै सौंपौ,
जिनके मन चकरी

भाव सरसता में प्रवाह भी दर्शनीय है। एक प्रवाहित सरिता है। उसका पानी एक है, परन्तु प्रतिक्षण परिवर्तित है। इसी प्रकार सूर ने एक ही भाव पकड़ा परन्तु कल्पना द्वारा उसको परिवर्तित किया और अनेक रूपों में देखा। मन एक ही है, वह कृष्ण पर रीझ गया, उनके वियोग में व्यथित है। इसी एक भाव को अनेक दृष्टि-कोणों से देखा और प्रकट किया।

"मेरो मन अनत कहां सचु पावै
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पै आवै"
"ऊधो मन माने की बात
दाख छुहारा छांडि अमृत फल विष कीरा विष खात"
"ऊधौ मन न भये दस बीस
एक हुतो सो गयो श्याम संग को आराधै ईस"
"मन तो हरि के हाथ बिकान्यौ"
"मन बिगर्यौ ए नैन बिगारे"

सूर में कल्पना है, प्रौढ़ कल्पना है, ऊँची कल्पना है। काव्य को सरसता देने वाली कल्पना ही है। एक प्रकार से गद्य एवं पद्य को भिन्न बनाने वाली कल्पना ही है। कविता का प्रधान तत्त्व भी कल्पना है। हां वह कल्पना इतनी ऊँची न उड़ जाय कि फिर हाथ से भी जाती रहे। कल्पना के कारण ही कवि रवि की नाईं सर्वत्र पहुँच जाता है, दूसरा विधाता कहलाता है परन्तु वह कल्पना सरकसी खेल न करने लगे, मानसिक व्यायामों का गूढ़ व्यूह न बना कर सामने रख दे। जहाँ कल्पना ने द्रविड़ प्राणायाम आरंभ किया, वहीं वह सरसता से हटकर चमत्कारमात्र ही रह जाती है। रीतिकालीन कल्पना कच्चे धागे पर कलाबाजियाँ करती है। वहाँ माघ मास में लुए चलती हैं, छाती का ताप शीशी के गुलाब जल को भाप बनाकर छाती तक पहुँचने नहीं देता; राज-उद्यान में छओं ऋतुएँ एक साथ आ बैठती हैं। सूर की कल्पना ने ये कौतुक नहीं किये, एकाध स्थान पर ही कल्पना का अतिरेक हुआ है। यहाँ सर्वत्र कल्पना में औचित्य, अतः सरसता है। सूर आंखों आँखों से देख नहीं सकता था, केवल कल्पना कर सकता था। सूर ने कल्पनाएँ कीं और बड़ी सरस कल्पनाएँ कीं। हृदय का एक-एक कोना कल्पना-ऐनक अथवा अन्तर दृष्टि से देख लिया। बाल हृदय की कल्पना, स्त्री हृदय की कल्पना, माता के हृदय की कल्पना, प्रेमी हृदय की कल्पना, भक्त हृदय की कल्पना—असंख्य कल्पनाएँ उसमें मिलेंगी। सूर की कल्पना शक्ति बड़ी ही ऊँची है। फिर एक ही कल्पना या भाव को लेकर उसने

अनेक कल्पनाएँ की हैं। मुरली एक है पर उस पर बीसियों पदों में सैकड़ों कल्पनाएँ की गई हैं। नेत्रों पर तो कल्पना करते सूर थकते ही नहीं। इस कल्पना प्रसार ने सूर की सरसता को बहुत बढ़ाया है। यथा—

"उर में माखन चोर गड़े
अब कैसे हुँ निकसत नहिं
ऊधो तिरछे ह्वै जु अड़े।"
"देखियत कालिंदी अतिकारी
कहियो पथिक जाय उन हरि
सों भई विरह जुर जारी"
"पिया बिनु नागिनि कारी रात
जो कहुँ जामिनी उवति जुन्हैया,
डसि उलटी है जात"

सूर का बाल-चित्रण

सूर ने शृङ्गार को रसराजत्व दिया है तो वात्सल्य भाव को रस की सीमा तक पहुँचा दिया है। आज जो वात्सल्य को हिन्दी में रस कहने लगे हैं, यह सूर की ही देन है। हिन्दी की क्या, अन्य अनेक भाषाओं के कवियों की तुलना में सूर का बाल चित्रण अद्वितीय और अतुल है। सूर ने जहाँ अपनी अंधी आँखों से बालक कृष्ण के शरीर को अनेक रूपों एवं मुद्राओं में निहारा है वहाँ बालकों के हृदय की सैकड़ों वृत्तियों एवं दशाओं का उद्‌घाटन भी बड़ी निपुणता से किया है। सूर सागर में बाल चित्रण दो प्रकार का प्राप्त होता है—(१) बाल रूप चित्रण और (२) बाल प्रकृति का चित्रण।

बाल रूप चित्रण—

सूर ने बाल रूप के चित्र दो भाँति के खींचे हैं—स्थिर चित्र और गत्यात्मक चित्र। बाल रूप के स्थिर चित्रों के अन्तर्गत बालक कृष्ण के शरीरांगों का वर्णन है जब वह बैठा है, सो रहा है अथवा चल-फिर रहा है। एक कुशल चित्रकार या फोटोग्राफर की नाईं कवि, बालक के सामने बैठ कर एक एक अंग के सौन्दर्य को देख कर आनन्द विभोर होता है और उसका वर्णन करता है। वर्णन करने में प्रायः वह अंगों के उपमान जुटाता है। इस क्षेत्र में सूर की उत्प्रेक्षाएँ बड़ी ही विराट हैं क्योंकि उपमान आकाशीय हैं—

(१) **लघु-लघु लट सिर घूंघर बारी, लटकन लटकि रह्यौ माथैं पर**
नवतन चन्द्ररेख मधि राजत, सुर गुरु सुक्र उदोत परस पर

(७११)

(२) **भाल बिसाल ललित लटकन मनि, बाल दसा के चिकुर सुहाए**
मानौ गुरु सनिकुज आगैं करि, ससिहिं मिलन तम के गन आए।

(७२२)

(३) **कुलही लसति सिर स्याम सुन्दर कैं, बहु विधि सुरंग बनाई**
मानौ नव घन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई
नील सेत अरु पीत, लाल मनि लटकन भाल रुलाई

सनि गुरु असुर देव गुरु मिलि मनु भौम सहित समुदाई
दूध दंत दुति कहि न जाति कछु अद्भुत उपमा पाई
किलकत हँसत दुरति प्रगटति मनु घन में बिज्जु छटाई।

(७२६)

आकाश से उठाए उपमानों के अतिरिक्त सूर ने जब इस पृथ्वी के उपमानों को पकड़ा है तो पुष्प जगत या पक्षी संसार को काव्य में बन्द कर दिया है। सूर के ये उपमान बड़े यथार्थ और सुन्दर हैं। इनमें भौंर और कमल को सबसे अधिक मान मिला है—

(१) निरखि निरखि अपनो प्रतिबिंब, हँसत किलकत औ
पाछे चितै फेरि-फेरि मैया-मैया बोलै
ज्यों अलिगन सहित बिमल जलज जलहि धाइ रहै
कुटिल अलक बदन की छबि, अवनी परि लोलै

(७१६)

(२) नूपुर कलरव मनु हंसनि सुत रचे नीड़, दै बाहं बसाए

(७२२)

(३) गूंगी बातनि यौं अनुरागति,
भंवर गुंजरत कमल मों बंदहि (७२५)

(४) अति सुदेस मृदु हरत चिकुर मन, मोहन मुख बगराई
मानौ प्रगट कंज पर मंजुल अलि अवली फिरि आई

(७२६)

(५) मंजु मेचक मृदुल तनु अनुहरत भूषन भरनि
मनहुं सुभग सिंगार-सिसु-तरु, फरयौ अदभुत फरनि
चलत पद प्रतिबिंब मनि आंगन घुटुरुवन करनि
अंबुज संपुट सुभग छबि भरि लेति उर जनु धरनि

(७२७)

(६) कठुला कंठ चिबुक तरं, मुख दसन विराजै
खंजन बिच सुक आनि कै मनु परचौ दुराजै (७५२)

(७) सुन्दर भाल तिलक गोरोचन, मिलि मसि बिंदुका लाग्यौरी
मनु मकरंद अचै रुचि कै, अलि सावक सोइ न जाग्यौरी

(७५५)

(८) गोरोचन कौ तिलक, निकट हीं काजर बिंदुका लाग्यौरी
मनौ कमल कौ पी पराग, अलि साबक सोइ न आग्यौरी
(७५७)

(९) चंचल दृग अंचल पट दुति छवि, झलकत चहुं दिसि झालरी
मनु सेवाल कमल पर अरुझे, भंवर भ्रमर भ्रम चालरी
(७५८)

(१०) निरखि निसिपति बदन सोभा, गयौ गगन दुराइ
अमृत अलि मनु पिवन आए, आइ रहे लुभाइ
निकसि सर तें मीन मानो, लरत कीर छुराइ। (६७०)

पता नहीं क्यों सूर को भ्रमर बहुत भाता है। संभव है इसका कारण उसका श्याम रंग हो। कवि ने एक एक अंग[1] का वर्णन किया है और शरीरांगों का सामूहिक चित्रण[2] भी। अंगों का चित्र उतारते समय कवि, बालक के वस्त्र, आभूषण, टोपी, मुस्कान—सभी का वर्णन करता है बालक का कोई भी रूप, कोई भी वेश, सूर की पार दर्शी की दृष्टि से बच नहीं पाता है।

इन स्थिर चित्रों से बाल कृष्ण के गत्यात्मक चित्र अत्यन्त स्वाभाविक और हृदय ग्राही हैं। पालने में झूलते हुए शिशु कृष्ण के अनेक चित्र सूर ने खींचे हैं। पालने में पड़ा शिशु कभी आंखें बन्द कर लेता है और कभी अधर चलाता है।[3]

कभी वह छोटी छोटी भुजाएं फैलाता है जिसे देखकर मां उसे अपनी गोद में भर लेती है।[4] पालने में लेटा शिशु हुलसता है, हँसता है और किलकारी मारता है। माँ बाप प्रसन्न होकर पालने को हिलाते जाते हैं एवं मन में सैकड़ों अभिलाषाएं बढ़ा रहे हैं।[5] प्रायः शिशु पैर का अंगूठा चूसते हैं। ऐसे शिशुओं को स्त्रियां सौभाग्य-शाली मानती हैं। शिशु कृष्ण पालने में झूलते हुए पैर का अंगूठा चूसने लगता है। सूर ने कई पदों में इसका वर्णन किया है। परोक्ष जगत में एक हंगामा मच जाता है। सागर का जल उछलता है, दिग्पाल कांपते हैं, शेष सिर हिलाता है, शिव-ब्रह्मा चकित

१—सूरसागर (का० ना० प्र० सभा प्रकाशन) ७०८—७११
२—वही ७२४, ७२५, ७२७, ७६६, ७७०, ७७२,
७८७, ७८८, [illegible]—[illegible], ९७७—९७६।
३—कबहूँ पलक हरि मूंदि लेत हैं, कबहुं अधर फरकावैं (६६१)
४—उमंगि उमंगि प्रभु भुजा पसारत, हरषि जसोमति अंकम भरनी (६६२)
५—जो [illegible] देखौ नंद जसोदा [illegible]
[illegible] किलकारी मन अभिलाष [illegible] (६६३)

होकर चिन्ता में पड़ जाते हैं[१] ये सब सोचते हैं कि क्या भगवान् प्रलय करना चाहते हैं। यहाँ सूर अवतार वाद का प्रतिपादन करता है। अद्भुत रस का स्वाद यहाँ प्राप्त हो जाता है।

शिशु बड़ा होकर घुटुरुवनों चलने लगा। नन्द, यशोदा और ब्रजवासियों के साथ सूर को भी अपार आनन्द हुआ और सूर ने घुटुरुवन चलने का वर्णन अनेक भाँति से किया[२]। शिशु को घुटुरुवन सरकते देखकर माँ-बाप को तो मानो स्वर्ग ही मिल गया है। घुटनों के बल सरकता बालक कभी माँ की ओर देखता है, कभी पिता नन्द की ओर। वह लपकता है, गिर पड़ता है, और उठकर दौड़ता है। माँ एक ओर से आवाज देती है तो दूसरी से बाबानंद पुकारते हैं—इधर आ कन्हैया। शिशु कभी एक ओर को जाता है तो कभी दूसरी ओर।[३] वह किलकारी मार कर भागता है। जब माँ-बाप पास में नहीं रहते तो स्निग्ध पत्थरों के आँगन में अपनी परछाईं को दूसरा बालक समझकर क्रोध करता है और उसे पकड़ने दौड़ता है। यदि बालक पकड़ पाता है तो उसे बड़ा आनन्द आता है क्योंकि उसने विजय पाली है। वह जोर से किलकारी मारता है। सूर बाल मनोविज्ञान का अद्भुत पारखी है और इस शक्ति का परिचय वह पग पग पर देता चलता है। शिशु अपने दो छोटे दाँतों का प्रतिबिंब देखकर उन्हें पकड़ने चलता है। जब कभी ये मुँह बंद कर लेने पर दिखलाई नहीं पड़ते तो बड़ा हैरान होता है और उन्हें इधर उधर खोजने में लग जाता है।[४]

१—चरन गहे अंगूठा मुख मेलत।
नंद घरनि गावति हलरावति, पलना पर हरि खेलत।
उछरत सिंधु, धराधर काँपत, कमठ पीठ अकुलाइ
सेष सहसफन डोलन लागे, हरि पीवत जब पाइ।
बढ्यौ [illegible], [illegible] अकुलाने, गगन भयौ [illegible]
महा [illegible] [illegible] ॥ (६८२)
सिव सो[illegible] [illegible] बिचारत [illegible]
बिहरि [illegible] (६८१)

२—सूर सागर—७१५—७२३, ७२८

३—[illegible] आँगन, [illegible] देखत री।
[illegible] पेखत री।
[illegible] री।
[illegible] री।
[illegible] री। (७१६)

४—किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मनिमय कनक नंद कै आँगन बिंब पकरिबैं धावत।

बालक की खीज और हठ तो परम प्रसिद्ध हैं।[1] महाकवि सूर ने इन दोनों मनोविकारों के अत्यन्त सजीव एवं स्वाभाविक चित्र खींचे हैं। इन भावों के उद्बुद्ध हो जाने पर जो अनुभाव शरीर और वाणी द्वारा व्यक्त हुए हैं वे तो अत्यन्त मार्मिक हैं। बालक सोकर उठा है। माँ से दही, रोटी और माखन माँगता है। माँ उत्तर देती है—बेटा, माखन खा, रोटी नहीं। पर बालक क्यों मानने लगा है? वह हठ करता है। भूमि पर लोट जाता है जिससे उसका श्यामल शरीर धूल से सन जाता है। माँ मनाती है और कहती है जो चाहे ले, मेरे मोहन, रोता क्यों है।[2] बालक माखन प्रसन्न मुद्रा से नहीं खाता है वरन खीज के साथ खा रहा है। रोने से उसके नेत्र लाल हैं, क्रोध के कारण उसकी भौंएं टेढ़ी हैं और वह बार बार जंभाई लेता है, क्योंकि सोकर उठा था। माखन खाने घुटनों के बल दौड़ता है जिससे शरीर धूल से भर जाता है। कभी झुक कर अपने बाल खींचता है। उसे बड़ा क्रोध जो हो रहा है। कैसी स्वाभाविक मन-दशा का चित्रण है! बाल खींचने से नेत्रों में पानी भर आता है। कभी तोतले बोल बोलता है। कभी पिता नन्द को बुलाता है। पिता को बुलाना स्वाभाविक ही है क्योंकि माँ से तो क्रुद्ध है। माँ बालक की इन खीज-मुद्राओं में भी आनन्द ढूंढती है।[3] विवश होकर माँ को बालक की हठ पूरी करनी ही पड़ती है और वह माखन के साथ उसे रोटी भी देती है। बालक माखन रोटी खाता है और उस खाने की भव्य मुद्रा को सूर अपनी अंधी आंखों से पीकर गा उठता है—

मनु बारिज ससि बैर जानि जिय, गह्यौ सुधा ससुधौटी।
मेली सजि मुख-अम्बुज-भीतर, उपजी उपमा मोटी।
मनु बराह भूधर-सह-पुहुमी धरी दसन की कोटी।

कबहुँक निरखि हरि आपु छाहँ कों, कर सौं पकरन चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दतियाँ, पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत।
कनक-भूमि पर कर-पग-छाया, यह उपमा इक राजति। (७२८)

१—वही ७१७, ७१८, ७८१—७८५

२—गोपालराइ दधि मांगत अरु रोटी
माखन सहित देहि मेरी मैया, सुपक सुकोमल रोटी।
कत हौ आरि करत मेरे मोहन तुम आंगन में लोटी?
जो चाहौ सो लेहु तुरतहीं, छांड़ौ यह मति खोटी। (७८१)

३—खीजत जात माखन खात।
अरुन लोचन, भौंह टेढ़ी, बार बार जंभात।
कबहुँ रुनझुन चलत घुटुरुनि, धूरि धूसर गात।
कबहुँ झुकि कै अलक खैंचत, नैन जल भरि जात।
कबहुँ तोतरे बोल बोलत, कबहुँ बोलत तात।
सूर हरि की निरखि सोभा, निमिष तजत न मात॥ (७१८)

नगन गात मुसकात लात-ढिग, नृत्य करत गहि चोटी।
सूरज प्रभु की लहै जु जूठनि, लारनि ललित लपोटी॥ (७८२)

बालक बड़ा हुआ। अब माँ बालक को पैरों चलना सिखाती है। सूर ने बालक के पैरों चलना सीखने की कई मुद्राओं का चित्रण हृदय की स्याही से किया है। बालक खड़ा नहीं हो पाता। मैया हाथ पकड़ कर खड़ा करती है और चलाती है। वह लड़खड़ा कर गिर पड़ता है। गिर कर पुनः घुटनों के बल चलने लगता है। माँ बच्चे का हाथ पकड़ कर पुनः दो एक डग चलाती है और मन में सोचती है—मेरा ऐसा सौभाग्यशाली दिवस कब आएगा जब मेरा लाल अपने पैरों दौड़ता हुआ और माँ माँ कहता हुआ मेरी छाती से आ लगेगा।[1] यह अभिलाषा केवल यशोदा की ही नहीं है, वरन् सभी माँओं के हृदय की है। सूर बालकों और उनकी माँओं के हृदय में छिपी तहों का उद्घाटन करने में कभी नहीं चूकते। तभी तो उनकी उक्तियाँ इतनी लोक प्रिय और मर्म स्पर्शी हैं। पैरों चलने के अनेक चित्र सूर ने खींचे हैं।[2] पैरों चलते समय बालक के अंगों और वस्त्राभूषणों का वर्णन करना सूर नहीं भूलते।

बच्चे को माता ही पैरों चलना नहीं सिखाती, पिता भी इस उत्तरदायित्व को कभी-कभी अपने दृढ़ कंधों पर उठा लेता है। फलतः नन्दजी भी बालक की अंगुली पकड़ कर उसे पैरों चलना सिखा रहे हैं। बालक गिर पड़ता है। नन्दजी हाथ पकड़ कर उसे उठाते हैं। अपने आप कुछ ऊटपटांग बोलकर बालक को बुलवाने का प्रयास करते हैं। बालक अपने पिता का अनुकरण करता है और वह भी पिता द्वारा उच्चरित शब्दों को बोलता है। बोलने पर मुँह खुलता है और छोटी दो दँतुलियाँ चमकती हैं। पिता नंद बालक का हाथ छोड़कर देखते हैं कि वह स्वयं भी चल पाता या नहीं। बालक घबराता-डरता पैर आगे बढ़ाता है। पिता नंद का हाथ न पाकर पृथ्वी पर बैठ जाता है। बैठ कर जो मन में आता है बोलता है मानो गा रहा है। फिर पिता की ओर देखता है। किन्तु नन्द का रुख न पाकर पीछे की ओर घुटनों के बल दौड़ता है। नन्द-बाबा बड़े प्रसन्न होकर इस बाल क्रीड़ा को देख रहे हैं।[3]

१—धनि जसुमति बड़भागिनी, लिए कान्ह खिलावै।
तनक-तनक भुज पकरि कै, ठाढ़ौ होन सिखावै।
लरखरात गिरि परत हैं, चलि घुटुरुनि धावैं।
पुनि क्रम-क्रम भुज टेकि कै, पग द्वैक चलावैं।
अपने पाइनि कबहिं लौं, मोहिं देखन धावैं।
सूरदास जसुमति इहै बिधि सौं जु मनावै॥ (७३०)

२—७३१—७३५, ७३७—७३६, ७४१—७४२

३—गहे अंगुरियाँ ललन की, नंद चलन सिखावत।
अरबराइ गिरि परत हैं, कर टेकि उठावत॥

बालक कुछ पैरों चलने लगा है। अब वह द्वार की देहरी लांघने की नौबत आई। इस सम्बन्ध के पद[1] अत्यन्त सरस हैं जो बालक के भय, साहस और हर्ष भरे अनुभावों से पूर्ण हैं। बालक ठुमुक-ठुमुक कर देहरी तक तो चला जाता है किन्तु झट रुक जाता है। देहरी लाघते उसे भय प्रतीत होता है। फलतः वह वापिस लौट कर माँ की ओर जाता है। माँ के बढ़ावा देने पर पुनः साहस बटोर कर लांघने का अभियान प्रारम्भ करता है। थोड़ा सा उछलता है, किन्तु गिर पड़ता है। बेचारा लांघ नहीं पाता है। सूर यहाँ अवतार वाद सिद्ध करता है और कहता है कि यह साधारण बालक नहीं है। यह बालक क्षण भर में करोड़ों ब्रह्माण्डों को बना डालता है एवं उनके नाश में भी एक क्षण से अधिक नहीं लगाता, किन्तु यशोदा की भक्ति के वश में पड़ कर नाना प्रकार की मनहर क्रीड़ाएँ कर रहा है।[2] सूर और तुलसी अवतार वाद के पोषक हैं। अतः कथा के बीच में ऐसे संकेत देते चलते हैं जिससे प्रकट हो जाय कि मानव व्यवहार करने वाले कृष्ण या राम भगवान हैं। अन्तर इतना ही है कि तुलसी पग-पग पर स्मरण दिलाते हैं जब कि सूर काफी देर के बाद। इसका कारण भी स्पष्ट है। तुलसी के रामचरित मानस में चार वक्ता— शिव, काकभुशुंडि, याज्ञवल्क्य एवं तुलसी—अवतार की पुष्टि कर रहे हैं जब कि सूर सागर में अकेले सूर।

बाल प्रकृतिः—

सूर ने अपने सागर में बाल रूप के अतिरिक्त, बाल प्रकृति की सहस्रों पीयूष धाराएँ प्रवाहित की हैं। बाल प्रकृति के मनोविज्ञान सम्पन्न इतने विविध चित्र अन्यत्र

बार बार बकि स्याम सों, कछु बोल बुलावत।
दुहुधाँ द्वै दतुली भई, मुख अति छबि पावत॥
कबहुँ कान्ह कर छाड़ि नंद, पग द्वैक रिंगावत।
कबहुँ धरनि पर बैठि कै, मन मैं कछु गावत॥
कबहुँ उलटि चलैं धाम कौं, घुटुरुनि कर धावत।
सूर स्याम मुख लखि महर, मन हरष बढ़ावत॥ (७४०)

१—वही ७४३, ७४४, ७४५।

२—चलत देखि जसुमति सुख पावै।
ठुमुकि ठुमुकि पग धरनि रेंगत, जननी देखि दिखावै।
देहरि लौं चलि जात, बहुरि फिरि-फिरि इतहीं कौं आवै॥
गिरि-गिरि परत, बनत नहिं नाँघत सुर-मुनि सोच करावै।
कोटि ब्रह्माण्ड करत छिन भीतर, हरत बिलंब न लावै॥
ताकौं लिए नंद की रानी, नाना खेल खिलावै।
तब जसुमति कर टेकि स्याम कौं, क्रम-क्रम करि उतरावै।
सूरदास प्रभु देखि देखि, सुर नर मुनि बुद्धि भुलावै॥ (७४४)

दुर्लभ है। इन चित्रों में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं वाले बाल-स्वभाव अंकित हैं। हठ के क्षेत्र में बालक और स्त्रियों ने नाम कमा लिया है। पता नहीं क्यों कुछ वक्ताओं ने 'राजा' का नाम भी स्त्री और बालक के साथ जोड़ दिया है। संभव है इसका कारण यह कि राजा ने भारत में सर्वाधिक नाम पाया था और प्रत्येक वस्तु और प्राणी राजा के साथ संबद्ध होकर गौरव पा जाते थे। नहीं तो राजा कभी हठी नहीं हुआ। हाँ, उसमें सत्य के प्रति निष्ठा होती थी जैसी कि सत्य हरिश्चन्द्र, या महाराजा रामचन्द्र में थी। इसे हठ का नाम नहीं दिया जा सकता। सत्य व्रत आदर्श चरित्र का अंग होता था और यह व्रत जान बूझकर किया जाता था जब कि हठ में बुद्धि हीनता का भाव छिपा है। संभवतः राजहठ की प्रसिद्धि के पीछे वह पंक्ति है जिसमें स्त्री और तेल को हमीर के समकक्ष मान कर कह दिया गया था—

तिरिया, तेल, हमीर हठ चढ़ै न दूजी बार।

मध्यकालीन राजाओं में कुछ राजाओं की अविवेक पूर्ण हठ के उदाहरण भरे हैं। तभी से राज-हठ को अधिक मान मिल गया। हाँ, इस हठ के क्षेत्र में स्त्री और बालक दोनों का स्थान सर्वोपरि है। बालक प्रकृति से हठी होता है और जिस वस्तु के लिए अड़ जाता है उसे लेकर ही दम मारता है। सूर ने अन्य हठों की अपेक्षा बाल-कृष्ण की दो हठों का चित्रण विशेष चाव और मनोयोग से किया है। वे हैं—चाँद पकड़ने की हठ[1] और मथानी पकड़ कर बैठ रहने की हठ।

बालकों का खिलौना-प्रेम जगत प्रसिद्ध है। बालक किसी भी रंग बिरंगी या चमकदार वस्तु के प्रति झट आकर्षित हो जाता है। कभी-कभी वह दीपक या बिजली के लट्टू के प्रकाश पर आँखें गड़ा देता है। ऐसा एक आकर्षक पदार्थ है आकाश का चन्द्रमा जिसे माँओं ने अपना साथी इसीलिए बना लिया है ताकि उनके बालक उसे देखकर प्रसन्न हो जायँ। यशोदा माँ बालक कृष्ण को गोद लिए आँगन में खड़ी थीं। माँ बोली—देख तो कन्हैया! वह आकाश में गोल मटोल क्या है जो चमक रहा है? यह खिलौना है। क्या तू इसके साथ खेलेगा? बालक कृष्ण पहले एक टक उसकी ओर देखता है। वह मन में सोचता है—यह क्या हो सकता है? ओह, यह तो माखन चुपड़ी गोल रोटी है। तब तो मैं इसे खाऊँगा। पर पता नहीं यह खट्टी है या मीठी है। और, कैसी भी हो। है तो रोटी ही। अब वह अपना अमोघ अस्त्र संभालता है अर्थात् रोने लगता है। बालक और स्त्री के इस अस्त्र से संसार के इतिहास की अनेक चमत्कृत घटनाएँ भरी पड़ी हैं। बालक रोते रोते माँ से कहता है—माँ, मां मुझे तो भूख लगी है। चंदा तो माखन रोटी जैसा दीखता है। सो मैं चंदा को खाऊँगा। तो तू चन्दा को लाकर मेरे हाथ पर धर दे! माँ चुप है। बालक और जोर से रोता है।

१—वही ८०६—१४

और खिसक कर भूमि पर लोटता है। लोटना बालक का दूसरा अमोघ अस्त्र है जो कवियों ने स्त्रियों के पास से छीन लिया है। माँ बड़ी परेशान है। वह बालक का ध्यान दूसरी ओर हटाने के लिए कहती है— अरे हाँ, कन्हय्या ! तूने देखी क्या ? वह आकाश में चिड़िया उड़ रही है, कैसी रंग बिरंगी है। प्रायः माएँ बालकों को इसी प्रकार बहकाया करती हैं। बालक की प्रकृति है कि वह हठ तभी छोड़ता है जब उसका चित्त दूसरी ओर चला जाता है। मान लीजिए, बालक अपने पिता की ऐनक लेने की हठ पकड़े है। माँ ऐसी दशा में क्या करती है कि वह बालक के कान में घड़ी की टिक टिक सुना कर कहती है—घड़ी ले ले। बालक का ध्यान बँट जाता है और वह घड़ी लेने के लिए तय्यार हो जाता है। यशोदा बाल-कृष्ण की हठ देखकर उसका ध्यान बँटाने को कहती है—देख, आकाश में चिड़िया उड़ रही है। पर उसे ध्यान न रहा कि रात्रि में चिड़िया, चाँद से अधिक आकर्षक नहीं हो सकती और दूसरे दिखाई भी न देगी। बालक सामने की मूर्त्त वस्तु को अधिक ग्रहण करता है। फलतः बालक का रोना इस चिड़िया वाले साधन से समाप्त नहीं होता। मनोविज्ञान की दृष्टि से सूर का यह पद अमूल्य और अप्रतिम है। सूर ने गहरा बाल-मनोविज्ञान इस पद में उंडेल दिया है। बालक चाँद को देखकर क्या सोचता है ? यह माखन की रोटी है। कैसी स्वाभाविक और उचित कल्पना है। बालक सदा देखी और ज्ञात, मूर्त वस्तु के आधार पर ही नई कल्पना कर सकता है। एक बालक ने जब पहिली बार गन्ना खाया। एक ने पूछा—यह क्या है ? वह झट से बोला—मीठी लकड़ी। अब तक उसने लकड़ी देखी थी। गन्ना भी उसी प्रकार का था। हाँ, यह मात्र लकड़ी मीठी थी। बालक कृष्ण ने गोल रोटियाँ देखी थीं फलतः वह चाँद को रोटी ही समझता है। साथ ही यह भी सोचता है यह मीठी होगी या खट्टी।[1] इन दो स्वादों को ही विशेषतया वह जानता था। अतः यह स्वीकार करना ही होगा कि सूर की पहुँच बालकों के अन्तस्तल में बहुत दूर तक थी।

बालक को बेजार रोते देखकर माँ यशोदा बहुत पछताती हैं कि हाय ! मैंने यह क्या किया ? क्यों अपने कन्हय्या को चाँद दिखलाया ? यह मेरी बड़ी भूल थी।

१—ठाढ़ी अजिर जसोदा अपनैं, हरिहिं लिए चंदा दिखरावत।
रोवत कत बलि जाउँ तुम्हारी, देखौ धौं भरि नैन जुड़ावत॥
चितै रहे तब आपुन ससि तन, अपने कर लै लै जु बतावत।
मीठो लगत किधौं यह खाटो, देखत अति सुंदर मन भावत॥
मनहीं मन हरि बुद्धि करत हैं माता सौं कहि ताहि मँगावत।
लागी भूख, चंद मैं खैहौं, देहि देहि रिस करि बिरुझावत॥
जसुमति कहति कहा मैं कीनौं, रोवत मोहन अति दुख पावत।
सूर स्याम कौं जसुमति बोधति, गगन चिरैयाँ उड़त दिखावत॥ (८०६)

अब क्या करूँ ? वह कन्हय्या से कहती है—अरे बावले बालक ! यह खिलौना केवल तेरा ही नहीं है। इससे सभी बालक खेलते हैं। यदि तू इसे खा लेगा, तो दूसरे बालक कैसे खेलेंगे ? हाँ, देखते रहो। इसे हाथ में लेने की हठ न करो मेरे कन्हय्या ! यह चन्दा ही तो हमें माखन देता है। तुम खा लोगे तो माखन कहाँ से खाओगे ?[1] इस प्रकार बालक को माँ समझा रही है। परन्तु बालक अपनी हठ पर पैर टेके खड़ा है और रो रहा है। तब माँ बालक की खाने की प्रवृत्ति को उकसाती हुई कहती है—अच्छा ! भूखा है तो मेरा मोहन रोटी क्यों खाएगा ? मैं अपने कन्हय्या को मेवा, मधु, पकवान् मिठाई दूँगी। और हाँ, दही, माखन, घी भी दूँगी। पर तू चुप हो जा। देख रोने से तेरा शरीर निर्बल पड़ जाएगा। यशोदा के ऐसे अनेक साधन विफल होते हैं। बालक गोद से खिसक कर रोता है और लोटता है।[2] तब माँ एक अन्य उपाय करती है जो मूर्त है, प्रत्यक्ष है। वह एक गहरी थाली में पानी भर कर बालक को पानी में चांद का प्रतिबिंब दिखाती है माँ बालक से कहती है—मेरे चाँद, ले अपना चाँद ले। नीचे देख। जिसके लिए तू इतनी देर से रो रहा था, वह तेरे पास आ गया है। ले अपने हाथ में पकड़ ले। जानता है मैंने कैसे इसे मँगाया है ? तेरे इस चाँद को एक चिड़िया भेज कर यहाँ बुलवाया है।[3] बालक झट

१—मैं ही भूलि चंद दिखरायौं, ताहि कहत मैं खैहौं।
अनहोनी कहुँ भई कन्हैया, देखी-सुनी न बात।
यह तौ आहि खिलौना सबकौ, खान कहत तिहिं तात।
यहै देत लवनी नित मोकौं, छिन-छिन साँझ-सवारे।
बार-बार तुम माखन मांगत, देउँ कहा तै प्यारे।
देखत रहौ खिलौना चंदा, आरि न करौ कन्हाई।
सूर स्याम लिए हँसति जसोदा, नंदहि कहति बुझाई॥ (८०७)

२—आछे मेरे लाल हो, ऐसी आरि न कीजै।
मधु-मेवा-पकवान-मिठाई, जोई भावै सोई लीजै।
सद माखन घृत दह्यौ सजायौ, अरु मीठौ पय पीजै।
पालागौं हठ अधिक करौ जनि, अति रिस तैं तन छीजै।
आन बतावति, आन दिखावति, बालक तौ न पतीजै।
खसि-खसि परत कान्ह कनियाँ तैं, सुसुकि-सुसुकि मन खीजै।
जल-पुट आनि धर्यौ आँगन मैं, मोहन नैकु तौ लीजै।
सूर स्याम हठि चंदहि माँगै, सु तौ कहाँ तैं दीजै॥ (८०८)

३—कमल नैन बलि जाऊँ सुचित ह्वै, नीचैं नैकु चितै।
जा कारन तैं सुनि सुत सुन्दर, कीन्ही इती अरै।
सोइ सुधाकर देखि कन्हैया, भाजन माहिं परै।
नभ तैं निकट आनि राख्यौ है, जल पुट जतन जुगै।

अपना हाथ थाली में डालता है। परन्तु चंदा हाथ में बाहर नहीं आता। वह क्षुब्ध होकर माँ से कहता है—माँ सुनती है या नहीं। मुझे ऐसा चाँद नहीं चाहिए। मैं तो चाँद को बाहर अपने हाथ में पकड़ना चाहता हूँ। यह चाँद तो हिलता-डुलता है और पकड़ाई में नहीं आता। मैं इसका क्या करूँ? इसे कैसे हाथ में लूँ? देखरी! तू मुझे इधर उधर की बेकार बातों से बहकाना चाहती है पर समझ ले, मैं तेरे बहकावे में न आऊँगा।[1] बालक यह कह कर जमीन पर लोटता है और आंसुओं से अपने कपोलों को गीला करता है।[2] वह रुककर माँ से कहता है—माँ मैं इस चाँद-खिलौने को अवश्य हाथ में लूंगा। न मिलेगा तो अभी भूमि पर लोट जाउंगा। तेरी गोद में फिर कभी न आउंगा। न तेरी गाय का दूध पीउंगा, न तुझ से सिर की चोटी गुथवाउंगा और न तेरा पुत्र बनूंगा। फिर तो मैं नंद बाबा का बेटा कहलाउंगा। तब जसोदा एक और साधन सोचती है और कहती है—अरे कन्हय्या! मेरे पास तो आ। तेरे कान में एक बात कहूँगी। बालक कहता है—मैं पास क्यों आऊँ? वहीं से कह दे ना? माँ इस पर कहती है—नहीं नहीं, यहाँ से नहीं कहूँगी क्योंकि बलदेव सुन लेगा, उसे यह बात सुनानी नहीं है। केवल तुझ से ही कहनी है। इस मनोवैज्ञानिक वार ने कुछ काम किया क्योंकि बलदाऊ अब पिछड़ जाएगा। बालक माँ के पास आता है। माँ धीमे शब्दों में कहती है—मोहना! तूने उस दिन दुल्हन देखी थी ना? उसके साथ बाजा बज रहा था। वह दूल्हा देखा था जो घोड़े पर चढ़ा था और जो रंग बिरंगे कपड़े पहिने था? तुझे भी वैसा ही दूल्हा बनाउंगी और तेरे लिए एक दुल्हन लाउंगी। बालक को इतना धैर्य कहाँ जो समय की प्रतीक्षा करे, वह तो फल, तुरन्त ही चाहता है। बालक कृष्ण भी कहता है—बहुत ठीक, तो मैं अभी दूल्हा बनता हूँ। चल मेरे लिए दुल्हन ला। मैं तो अभी लाउंगा। चल, बैठी क्यों है।[3]

लै अपने कर काढ़ि चन्द कौं, जो भावै सो कै।
गगन मँडल तैं गहि आन्यौ है, पंछी एक पठै।
सूरदास प्रभु इति बात कौं, कत मेरो लाल हठै। (८१३)

१—मैया री मैं चंद लहौं गौ।
कहा करौं जलपुट भीतर कौ, बाहर ब्यौंकि गहौंगौ।
यह तो झलमलात झकझोरत, कैसैं कै जु लहौंगौ।
वह तौ निपट निकटहीं देखत, बरज्यौ हौं न रहौंगौ।
तुम्हरौ प्रेम प्रगट मैं जान्यौ, बौराएँ न बहौंगौ।
सूर स्याम कहै कर गहि ल्याऊँ, ससि-तन-दाप दहौंगौ। (८१२)

२—वही ८०३, ८१०

३—मैया री मैं चंद खिलौना लैहौं।
जैहौं लोटि धरनि पर अबहीं, तेरी गोद न ऐहौं।

बालक कृष्ण की दूसरी प्रसिद्ध हठ है माँ की मथानी पकड़ कर ऐंठ जाने की।[1] बालक सोकर उठा है वह माँ से माखन माँगता है। यशोदा दही मथने में लीन है अतः वह बालक की ओर कुछ ध्यान नहीं देती है। बालक अपना यह अपमान कैसे सह सकता है? वह तुरन्त मथानी को पकड़ कर अड़ जाता है। सूर इस छोटी सी घटना को उठाकर सूक्ष्म जगत में ले जाता है। बालक कृष्ण को मथानी पकड़े देख कर देव-जगत में तूफान आ जाता है। मंदराचल पर्वत डग् डग् काँपने लगता है। वासुकी का नीचे का दम नीचे है और ऊपर का ऊपर। सिंधु का हृदय लरजने लगता है। सब देवता त्रस्त हैं और सोचते हैं कि क्या भगवान् समुद्र-मंथन करेंगे? तब तो प्रलय हो जायगी।

मनोविज्ञान—

महाकवि सूर ने बालकों के हृदय की सभी तहों को खोला है और विस्तार से बताया है कि इनके अन्तस्तलों में कौन सी सामान्य प्रवृत्तियाँ छिपी पड़ी हैं। सूरदास का बाल कृष्ण हमें गली गली में मिल सकता है, क्योंकि वह बड़ा चपल, मुखर और खिलाड़ी है, वह बच्चों के गुण-दोष से सम्पन्न है। इसीलिए सूर का कृष्ण, सभी पाठकों और श्रोताओं का बालक बन जाता है। वह तुलसी के राम की भाँति असाधारण, अद्वितीय और आदर्श बालक नहीं है। तुलसी का बालक तो घोषणा पूर्वक कहता है "जे अन्याउ करहिं काहू को ते सिसु मोहि न भावहिं"। इस बालक को कभी किसी ने खीजते और रुष्ट होते नहीं देखा है—

सिसु पनतें पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ।
कहत राम बिधुबदन रिसौहैं सपनेहुँ लख्यो न काउ॥

हाँ, एक बार वे अवश्य तुनतुना कर गए और दूध पिलाने पर पीते न थे। बस रो रहे हैं। कल्पना होती है कि संभव है बालक कृष्ण की तरह कोई हठ की हो, कुछ माँग रहे हों। तुलसी तुरन्त इस भ्रम का निवारण कर देते हैं और कहते हैं—

सुरभी को पय पान न करिहौं, बेनी सिर न गुहैहौं।
ह्वै हौ पूत नंद बाबा कौ, तेरौ सुत न कहैहौं।
आगैं आउ, बात सुनि मेरी, बलदेवहिं न जनैहौं।
हँसि समुझावति, कहति जसोमति, नई दुलहिया दैहौं।
तेरी सौं, मेरी सुनि मैया, अबहिं बियाहन जैहौं।
सूरदास ह्वै कुटिल बराती, गीत सुमंगल गैहौं। (८११)

किसी दुष्ट स्त्री की कुदृष्टि का यह कुफल है।[1] राम जैसे बालक विरले ही हो सकते हैं। वे दो चार दिन या दो चार मास में चौदहों विद्या निधान बन जाते हैं, दूसरा बालक जिनके सीखने में कई जन्म धारण करता और तब भी न सीख पाता।[2]

बालकों में स्पर्द्धा का भाव बढ़ चढ़ कर होता है। आगे बढ़ने के लिए 'स्पर्द्धा' एक बहुत अच्छी सीढ़ी है। स्पर्द्धा के कारण ही बालक अपने भाइयों एवं सखाओं से लड़ता-झगड़ता है, उन्हें छोटा समझता है और अपने को आगे बढ़ाता है। बाल-कृष्ण में स्पर्द्धा की भावना पर्याप्त है। इसके अनेक उदाहरण सूर-सागर में मिलते हैं। बालक, माँ यशोदा से माखन-रोटी माँगता है। माँ कहती है—रोटी नहीं। दूध पियो बेटा! बालक कहता है कि मुझे दूध नहीं भाता है। माँ समझाती है, डाटती है, और धमकाती है, पर बालक के मन में एक भी बात नहीं बैठती और वह एक कान से सुनकर दूसरे से निकाल देता है। माता बालक की स्पर्द्धा को उकसाती है। वह बालक से कहती है मेरे लाल! दूध पियोगे तो तुम्हारी चोटी भी उतनी ही बड़ी हो जाएगी जितनी बलदाऊ एवं अन्य गोप बालकों की है। बालक बड़ा प्रसन्न हुआ। अच्छा, मेरी चोटी भी श्रीदामा या बलदाऊ के समान बड़ी हो जाएगी। तो ले मैं पीता हूँ। बस तुरन्त ही दूध का कटोरा मुँह से लगा दिया। दूध गर्म था। मुँह जल गया। बालक रोने लगा। फिर धीरे-धीरे दूध पीता है। एक ओर एक हाथ में कटोरा पकड़ कर दूध पी रहा है तो दूसरे हाथ से चोटी को टटोल रहा है यह देखने के लिए कि बढ़ गई है या नहीं।[3] बाल प्रकृति का कितना स्वाभाविक और सजीव चित्र है! इसी के बल पर सूर वात्सल्य के चितेरों में सम्राट् बन गया है। बालक की आतुरता दर्शनीय है। वह तुरन्त चोटी को लम्बी हुई देखना चाहता है। वह चोटी को छोटी ही पाता है। वह खीज कर माँ से कहता है—

१—आजु अनरसे हैं भोर के, पय पियत न नीके।
रहत न बैठे ठाढ़े, पालने झुलावतहू, रोवत राम
मेरो सो सोच सब ही के।
देव, पितर, ग्रह पूजिये तुला तौलिए घी के।
तदपि कबहुँ कबहुँक सखी ऐसेहि अरत जब परत
दृष्टि दुष्ट ती के॥ गीतावली॥ १२

२—गुरु गृह गए पढ़न रघुराई। अलपकाल विद्या सब पाई।

३—कजरी कौ पय पियहु लाल, जासौं तेरी बेनि बढ़ै।
जैसे देखि और ब्रज बालक, त्यौं बल बैस चढ़ै।
यह सुनि कै हरि पीवन लागे, त्यौं त्यौं लेत लढ़ै।
अँचवत पय तातो जब लाग्यो, रोवत जीभ डढ़ै।
पुनि पीवत ही कच टकटोवत, झूठहिं जननि रढ़ै।
सूर निरखि मुख हँसति जसोदा, सो सुख उर न कढ़ै। (७९२)

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?
किती बार मोहिं दूध पियत भइ, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बल की बेनि ज्यों, ह्वै है लाँबी-मोटी॥
काढ़त-गुहत-न्हवावत जैहै नागिनि सी भुइं लोटी।
काचौ दूध पियावति पचि-पचि, देति न माखन रोटी।
सूरज चिरजीवौ दोउ भैया, हरि-हलधर की जोटी॥ (७९३)

इस पद की प्रमुख पंक्ति है—'तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी' इसमें बच्चे की स्पर्द्धा और असफलता की खीज के भाव छिपे हैं। खेलने के समय भी स्पर्द्धा की मनोवृत्ति सामने आती है। सब गोप-बालक खेल रहे हैं। कृष्णजी इनसे छोटे हैं और माँ बाप के बड़े दुलारे है। माँ-बाप भी साधारण नहीं, ब्रज के सबसे बड़े व्यक्ति हैं। अन्य बालकों को खेलता देखकर बालकृष्ण बोला—मैं भी दौड़ूँगा। तुरन्त हलधर ने टोका—ना ना रे कन्हय्या! तू न दौड़। देख दौड़ने से तू गिर पड़ेगा और तेरे गोड़े में चोट लग जाएगी। भला बालक कृष्ण अपने को दूसरों से हीन और छोटा कैसे समझ सकता था। वह बोला—दाऊजी! मुझे निर्बल न समझना। बहुत तेज़ दौड़ सकता हूँ। श्रीदामा मेरी जोड़ का है। वह भी तो दौड़ रहा है। मैं उसके साथ दौड़ूँगा। श्रीदामा बोला—तो, आ दौड़। किन्तु तू आगे दौड़ चल। मैं पीछे से आऊँगा और तुझे पकड़ लूँगा। जा, चल, दौड़। बालक कृष्ण आगे दौड़ा। पीछे से श्रीदामा ने पीछा किया। श्रीदामा दौड़ने में तेज़ था, कृष्ण के पास पहुँच गया। कन्हय्या ने देखा कि श्रीदामा पास पहुँच गया है तो तुरन्त खड़ा हो गया। श्रीदामा उसे छूने लगा तो कन्हय्या ने कहा—अरे अरे, मुझे छूता क्यों है? मैं तो जान बूझ कर खड़ा हो गया था। श्रीदामा ने कहा—बात न बना मोहन! अब तो तेरी हार होगई है। इस पर कन्हय्या खीजने और रुष्ट होने लगा।[1] अपने को अवश और शक्ति हीन पाकर बालक खीजा ही तो करता है। खीज मिटाने

१—खेलत स्याम ग्वालनि संग।
सुबल हलधर अरु श्रीदामा, करत नाना रंग।
हाथ तारी देत भाजत, सबै करि करि होड़।
बरजै हलधर, स्याम, तुम जनि चोट लागै गोड़।
तब कह्यौ मैं दौरि जानत, बहुत बल मो गात।
मेरी जोरी है श्रीदामा, हाथ मारे जात।
उठे बोलि तबै श्रीदामा, जाहु तारी मारि।
आगैं हरि पाछैं श्रीदामा, धर्यौ स्याम हँकारि।
जानि कै मैं रह्यौ ठाढ़ौ, छुवत कहा जु मोहि।
सूर हरि खीझत सखा सौं, मनहिं कीन्हौ कोह॥ (८३१)

के लिए कन्हय्या ने क्रोध किया, वह बड़ा लाल-पीला हुआ। इस पर श्रीदामा में भी स्पर्द्धा भाव जगा और वह बोला—देख कन्हय्या! खेल, छोटे बड़े के भाव से नहीं खेला जाया करता है। तू खीजता क्यों है? अच्छा बता, तू किस बात में बढ़कर है? क्या इसी का घमंड दिखाता है कि तेरे यहाँ कुछ गाएँ अधिक हैं? जा तुझसे नहीं खेलेंगे। जो खीजने लगे, उससे खेल नहीं खेला जाता।[1]

रुष्ट होकर कन्हय्या घर जाता है और अपनी खीज माँ पर उतारता है, जिस प्रकार दफ्तर में क्लर्क, अफसर की झिड़कियाँ सुनकर घर में अपनी पत्नी को डाटता है। मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक ही तो रहती है। बालक भी दौड़ा माँ के पास जाता है क्योंकि वह अपनी माँ को संसार में सबसे बड़ा दर्बार मानता है। कन्हय्या भी जाकर अपनी माँ से शिकायत करता है। एक बार वह संध्या समय आकर कहता है—

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल को लीन्हौ, तू जसुमति कब जायौ!
कहा करौं इहि रिस के मारें, खेलन हौं नहिं जात।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरो तात॥
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तू कत स्यामल गात।
चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसुकात॥
तू मोहीं कौं मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।
मोहन-मुख रिस की ये बातैं, जसुमति सुनि-सुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत।
सूर श्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं माता तू पूत॥

(८३३)

इस शिकायत के पीछे कन्हय्या का लक्ष्य है कि बलदाऊ पर फटकार या मार पड़े। छोटा भाई सदा ही से यह करता आया है। जब उसे बड़ा भाई चिढ़ा देता है तो वह जाकर माँ से नमक मिर्च लगा कर शिकायत करता है। साथ ही रोना या क्रोध करना नहीं छोड़ता क्योंकि इन दोनों अस्त्रों का प्रभाव माँ पर बहुत पड़ता है। 'दाउहि कबहूँ न खीजै' में बालक की कैसी स्वाभाविक खीज और स्पर्द्धा छिपी है।

१—खेलत मैं को काको गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ।
जाति पाँति हमतैं बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातैं जातैं अधिक तुम्हारैं गैयाँ।
रूठहि करै तासौं को खेलै, रहे बैठि जहँ-तहँ सब ग्वैयाँ।
सूरदास प्रभु खेल्यौइ चाहत, दाउँ दियौ करि नंद-दुहैयाँ। (८६३)

बाल क्रीड़ा के सब से सुन्दर पद हैं माखन चोरी सम्बन्धी।[1] किशोरावस्था में पग धरते ही चंचल कृष्ण माखन चोरी के लिए निकलते हैं। बालक कृष्ण चोरी भी करते हैं तो माखन की, जिसकी उनके घर में सरिताएँ बहती हैं। यही तो बाल-वृत्ति है। बालक के घर में उसके पिता प्रति दिन अच्छे से अच्छे आम या अमरूद दफ्तर से लौटते समय अपनी कार में रख कर ले आते हैं। किन्तु बालक को उस कच्चे आम या अमरूद में अधिक आनन्द आता है जो वह स्कूल के माली की कोठरी के सामने वाले पेड़ पर चढ़ कर स्वयं तोड़ता है। धनवा माली गाली देता है, डराता है और लाठी पटकता है किन्तु बालक आँख बचा कर चुपके से चढ़कर या पत्थर मार कर अमरूद तोड़ने का प्रयास अवश्य करता है। यह प्रतिदिन हम देखते हैं। कृष्ण के घर में भी दही-माखन की कमी नहीं है किन्तु वह माखन चोरी करने जाता ही है। घर में भी दही-माखन चुरा कर खाता है। उस चुराए माखन में विशेष आनन्द आता है। इसके पीछे है बच्चे की स्वकर्तृत्व की भावना। पेड़ पर चढ़कर, पत्थर मार कर या अपने हाथों से जो चुराकर वस्तु प्राप्त की है वह अधिक मनोहर और मीठी लगती है। कौतूहल वृत्ति के कारण भी बालक ऐसा करता है। अज्ञात और नवीन पदार्थ में उसे कुछ अधिक आकर्षण दिखाई देता है। इसी कौतूहल वृत्ति के कारण बच्चे छीना-झपटी एवं चोरी करते हैं। माँ के पास दो लड्डू हैं, एक पीला, एक भूरा सा। माँ छोटे बच्चे से पहिले पूछती है—तू कौन सा लेगा रे? छोटा स्पृहा भरे नेत्रों से दोनों की ओर ताकता है, थोड़ी देर सोचता है और पीले को कुछ बड़ा एवं चमकीला देखकर कहता है, पीला। माँ पीला दे देती है और भूरे को बड़े के लिए रख देती है। माँ के बाहर जाने पर वह भूरे को पूरे का पूरा या उसमें से थोड़ा तोड़ कर खा जाता है। कृष्ण की माखन चोरी में यही मनोवृत्ति दिखाई देती है। माखन चोरी सम्बन्धी पदों में कृष्ण की मुखरता एवं तुरन्त उत्तर देने की क्षमता भी भरी है। चपल और बातूनी बालक जो उत्तर दिया करते हैं, सूर ने उन्हें जड़ दिया है।

बालक कृष्ण ने घर में माखन की चोरी की है। माखन की हांडी छत में टंगी थी। एक बालक के कंधे पर दूसरा चढ़ा और इस प्रकार माखन उतार लिया। दोनों में माखन बँटा। कृष्ण ने भी अपना दोना ले माखन खाना आरंभ किया। इतने में लकड़ी लेकर माँ आगई और बोली—क्यों रे कन्हैया, यह क्या? फिर माखन की चोरी, तेरे मुख पर भी माखन लगा है। कन्हैया ने तुरन्त उत्तर दिया—

मैया मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि, मेरैं मुख लपटायौ।
देखि तुही सींके पर भाजन, ऊँचें धरि लटकायौ।

१—सूर सागर. ८८२-९५८

हौं जु कहत नान्हे कर अपने, मैं कैसे करि पायौ ।
मुख दधि पोंछि, बुद्धि इक कीन्हीं, दौना पीठि दुरायौ ।
डारि साँटि मुसुकाइ जसोदा, स्यामहिं कंठ लगायौ ।
बाल-बिनोद-मोद मन मोह्यौ, भक्ति प्रताप दिखायौ ।
सूरदास जसुमति कौ यह सुख, सिव बिरंचि नहिं पायौ ॥ (९५२)

कृष्ण की व्युत्पन्नमति एवं मुखरता का यह अच्छा उदाहरण है । मुख पर माखन लगा है । बालक उत्तर देता है, शायद सखाओं ने जबरदस्ती लगा दिया है । पीठ पीछे दौना छिपाकर बालक समझता है कि माँ दौने को नहीं देख पा रही है । वह माँ से कहता है—मेरे छोटे छोटे हाथ भला छत में टँगे छींके पर पहुँच सकते हैं, तू ही अपने आप देख ले । कौन माँ बालक के इस उत्तर से फूल न जाएगी ? कृष्ण की व्युत्पन्न मति का दूसरा उदाहरण देखिए । एक बार प्रातः होने से पूर्व कन्हय्या एक गोपी के घर में रक्खे दधि भाजन में दही चुराने के लिए हाथ डाल देता है । पीछे से गोपी चुपके से आती है और हाथ पकड़ लेती है और कहती है-- कन्हय्या ! आज तो चोर रंगे हाथों पकड़ा गया है । बोल क्या उत्तर रखता है ? कृष्ण तुरन्त उत्तर दे देते हैं—अरी वाह । चोरी क्यों मेरे सिर मँढ़ती है ? मैं अपने घर के भ्रम में यहाँ आगया । इस दही की मटकी में एक काली चींटी दिखाई दी । बस उसी को निकाल रहा था । मैं क्यों चोरी करता ? मेरे क्या दूध दही की कमी है ।[१] एक बार एक गोपी के घर में माखन चोरी के लिए प्रवेश किया ही था कि गोपी आगई । कन्हय्या ने झट आंखों से आंसू ढलकाए और उलटा उलाहना देता वह बोला—अरी सुनती है ? मैं चोरी करने नहीं आया हूँ वरन् तेरे लड़के की चोरी प्रकट करने आया हूँ । वह मेरी बाँसुरी छीन कर भाग आया है । यह तो चोरी से बढ़कर डाका है । सो मेरी बांसुरी दे दे । ग्वालिनी बड़ी डरी कि कहीं जशोदा को यह ज्ञात न हो जाय कि मेरा लड़का कन्हय्या की बाँसुरी छीन लाया है । वह बोली—चुप चुप हो जा रे कन्हय्या । ले मैं मेवा, मिठाई और एक बांसुरी देती हूँ । माखन चोरी के ऐसे अनेकों अनमोल मुक्ता सूर के सागर में छिपे हैं । कृष्ण की माखन चोरी से व्रज के सभी नारी-नर प्रसन्न हैं । उसी

१—स्याम कहा चाहत से डोलत ?
पूछे तैं तुम बदन दुरावत, सूधे बोल न बोलत ।
पाए आइ अकेले घर मैं, दधि-भाजन मैं हाथ ।
अब तुम काकौ नाउँ लेउगे, नाहिंन कोउ साथ ।
मैं जान्यौ यह मेरो घर है, ता धोखैं मैं आयौ ।
देखत हौं गोरस मैं चींटी, काढ़न कौं कर नायौ ।
सुनि मृदु बचन, निरखि मुख-सोभा, ग्वालिनि मुरि मुसुकानी ।
सूर स्याम तुम हौ अति नागर, बात तिहारी जानी ॥ (८९७)

के साथ सूर भी। इस प्रकार बाल रूप के चित्रकारों में सूर का स्थान सर्वोच्च है। इसी बाल चित्रण को ध्यान में रखकर सूर को सूर्य और तुलसी को चन्द्रमा कहा गया है (सूर सूर तुलसी ससि) क्योंकि सूर्य की नाईं वे बालकों के अंधेरे से अंधेरे हृदय में प्रवेश कर गए हैं और उन्हें उन्होंने प्रकाशित कर दिया है। तुलसी को भी बालरूप के गान की प्रेरणा सूर से ही मिली थी जिस प्रकार चंद्रमा को अपना प्रकाश सूर्य से मिलता है। इसका प्रमाण है उनके गीतावली के और कृष्ण गीतावली के पद। गीतावली में दो पद तो सूर के ही हैं, केवल सूर के स्थान पर तुलसी जुड़ गया है और श्याम की जगह राम। सूर्य के समान सूर के कृष्ण तेजमय हैं जबकि चंद्रमा की नाईं तुलसी के राम स्निग्ध, शीतल और शांत।

तुलसी का जीव-विज्ञान

कवि-कर्म अत्यन्त दुष्कर है, इसी को जानते हुए गोस्वामी तुलसी दास जी को घोषणा करनी पड़ी "कवि न होऊं नहिं वचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्याहीनू।" पर आज जगत जानता है, हिन्दी साहित्य में सबसे बड़ी जानकारी रखने वाला यदि कोई कवि था तो वह था तुलसी। 'सकल कला और सब विद्या हीनू' कह कर ही उन्होंने सिद्ध कर दिया कि वे समस्त कलाओं में पारंगत थे और सम्पूर्ण विद्याओं के थे भण्डार। उनका प्रकृति-निरीक्षण सूक्ष्म था तो लोक-व्यवहार का ज्ञान असीम। वनस्पतियों को उन्होंने निकट से पहिचाना था तो प्राणियों का अध्ययन भी उन्होंने भरपूर किया था। उनके जीवों के स्थूल एवं सूक्ष्म वर्णन को पढ़ कर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। प्रश्न होता है, ऐसा विशेष ज्ञान उन्हें हुआ कैसे? जीवों का सूक्ष्म अध्ययन उन्होंने किया कहाँ। प्राणि-शास्त्र विभाग से सज्जित विज्ञान विद्यालय उस समय न थे जहां वे जाकर निर्जीव मानवों, मरे खरगोशों और चीरे-फाड़े मेंढकों को बाह्यनेत्रों से निहारते और बाहर प्रकृति के प्रांगण में आकर सब भूल जाते, उस एम० एस०-सी० की नाईं, जो कालेज में चार वर्ष रहा और वनस्पति-शास्त्र का दिन-रात अध्ययन करता रहा। मार्ग में ढाक के फूले वृक्ष को देख खड़ा सोचने लगा—अग्नि-तुल्य यह वृक्ष कौन? गोस्वामी जी ने प्राणियों का सम्यक् अध्ययन प्रकृति की महाविशाल पाठशाला में किया था। अतः उनका ज्ञान भी बड़ा विस्तृत था। उस उपार्जित ज्ञान का सदुपयोग भी उन्होंने अपनी कविता में खूब किया है।

पक्षी जगत

एक ऐसा पक्षी है जो टाँग ऊपर कर सोता है। इतना प्राकृतिक तथ्य है। अब उस पर कवि कल्पना का आवरण पहिनाया गया। उसकी टाँगें ऊपर क्यों हैं? पक्षी सोचता है "आकाश गिरेगा तो टांगों पर संभाल लूँगा।" उस पक्षी का नाम है टिटीहरी।

उमा रावनहि अस अभिमाना। जिमि टिट्टिभ खग सूत उताना।

—रामचरित मानस

एक और चिड़िया है। वह आकाश में ऊँचे पर उड़ते अंडे दे देती है। अंडा पृथ्वी की ओर चलता है। वह बीच ही में फूट कर बच्चा बन पुनः ऊपर की ओर उड़ जाता है। इस चिड़िया का नाम "अनल" है।

गिरता अंड संपुट अरुन, जगत पच्छ अनयास
अलल सुवन उपदेस केहि, जात सु उलटि अकाश

—सतसई

जीव-शास्त्र के आचार्य इस पर विचार करें।

पक्षी-जगत में बुद्धि तो होती नहीं। तोता सेमर वृक्ष के पास आकर उसके लाल फूलों को लाल फल समझता है। निकलता क्या है? रुई। उड़ जाता है। अगले वर्ष बसंत में पुनः वही कार्य करता है। भूल जाता है इसके अन्दर रुई ही रुई है।

सोइ सेमर सोई सुवा, सेवत पाइ बसंत
तुलसी महिमा मोह की, विदित बखानत संत

—सतसई

कभी कौवा देखा है। बैठा हुआ इधर-उधर गर्दन घुमाकर निहारता है। त्रस्त नेत्रों से इधर-उधर देखता जाता है और आगे बढ़ता है। तनिक-सी आहट से भाग जाता है। सबसे डरपोक है यह पक्षियों में—

"बाइस इव सब ही तें डरहीं" —राम चरित मानस

पक्षी-जगत के दो प्राणियों की रति-क्रीड़ा का अन्तर भी गोस्वामी जी की पैनी दृष्टि में नहीं बचा। मोर नृत्य करता है। उसे नाचते देख मोरनी आकर्षित होती है वह उसके पास जाकर प्रसन्न होती है, एक टक निहारती है नृत्य की उन्मत्तता में मयूर स्खलित होता है। मोरनी स्खलित वीर्य को खा जाती है।

तुलसी होत सिखे नहीं तन गुन दूषन धाम
भखन सिखिन कवने कह्यो प्रकट विलोकहु काम

—सतसई

पर शुक और शुकी का व्यापार मोरों से भिन्न है। शुक काम तृषित हो शुकी के पास जा रतिदान मांगता है।

कीर जात उड़ि तिय निकट बिनहि पढ़े रति देत

तीन पक्षी हैं। श्यामलता से उनका मन कलुषित है। उनमें प्रथम स्थान है कोयल का। यह ऊपर से नीचे तक, नख से शिख तक कालिमा लिप्त है। स्वर तो मीठा है, आकर्षक है, पर शरीर से काली और मन से मलीन। चोर है, पूरा चोर। चोरी से अपने अंडे कौवों से पलवाती है। तभी तो संस्कृत-कारों ने इसका नाम 'परभृत' रख दिया है। मोर भी श्यामल है, नीला है। शब्द तो मधुर है पर हृदय है काला, कर्म भी काले हैं। सांपों को गटक जाता है। चकोर का शरीर उतना काला नहीं जितना मन है। वह मधुरभाषी होते हुए भी आग को खा जाता है। तभी तो उसके मुंह से चकोर का

तन काला पड़ गया है। ये तीनों मन से काले हैं, मन मैले हैं। पर इसके विपरीत है चातक। शरीर से भी शुभ्र और मन से निर्मल। हठी और पूर्ण प्रणयी। तभी संसार चातक की प्रशंसा करता नहीं थकता।

मुख मीठे मानस मलिन कोकिल मोर चकोर
सुजस धवल चातक नवल रह्यो भुवन भरि तोर

—दोहावली

ये तीनों पक्षी मधुरभाषी हैं, अतः समान हैं। दो और पक्षी हैं जो शरीर से एक-से हैं। ये हैं बगुला और हंस। बगुले के पैर, चोंच और नेत्र, हंस जैसे होते हैं। रंग भी श्वेत है। उसकी चाल भी हंस ही के सदृश है। पर गुणों में जमीन-आसमान का अन्तर। हंस, दूध-पानी को अलग कर देता है। बक तो पानी को गंदा भर कर छोड़ देता है।

चरन चोंच लोचन रंगौ चलौ मराली चाल
छीर नीर विवरन समय बक उघरत तेहि काल

—दोहावली

संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि विकारि

—रामचरित मानस

भौंरा भी पक्षी संसार का ही प्राणी है। भौंरा सब फूलों का रस पान करता है पर चम्पा पर नहीं बैठता—

तेहि बन बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चम्पक बागा

—रामचरित मानस

यह भौंरा जब किसी छोटे फुनगे को पकड़ लेता है तो उसे इतने चक्कर देता है, इतना घुमाता है कि बेचारा कीड़ा भयत्रस्त हो सर्वत्र भौंरा-भौंरा ही देखता है। सर्वत्र उसके सामने भौंरे का रूप खड़ा रहता है, वह भ्रमर-मय हो जाता है।

भई मति कीटभृंग की नाई। जहं तहं मैं देखेउं दोउ भाई

—रामचरित मानस

एक छोटा भौंरा सा अलि और होता है जो जल के ऊपर देखा जाता है। गंगा में स्नान बहुतों ने किया होगा, नदी-तट पर बहुत बैठे होंगे पर इस 'अलि' की करतूत को सूक्ष्मतया तुलसी ने ही निहारा। जल-प्रवाह में हाथी बह जाता है जिसे भारी-भरकम-डील मिला है। पर यह छोटा-सा काला उड़ता-जीव नदी-प्रवाह को काट जाता है।

भरत दसा तेहि अवसर कैसी। जल प्रवाह जल अलि गति जैसी ॥

—रामचरित मानस

भौंरा भी जल काट जाता है।

पशु-जगत्

पशु जगत का सबसे विशाल प्राणी है, हाथी। हाथी को सभी ने देखा है परन्तु उसके एक विशेष व्यापार की ओर ध्यान नहीं गया होगा। वह कार्य उसका घोर निर्जनता एवं एकान्त में होता है। गोसाईं जी ने मयूर-रति-क्रीड़ा की विशेषता दिखाई। शुक-शुकी के रति-व्यापार का वर्णन किया। दोनों की विशेषताओं को देखा। साथ ही उन्होंने हाथी की काम-क्रीड़ा की विशेषता पर भी अकस्मात् ध्यान दिया। मोर-मोरनी निर्लज्ज हैं। शुक-शुकी भी उसी श्रेणी में खड़े हैं। परन्तु हथिनी बड़ी लज्जाशील है, स्त्री से भी अधिक। रात्रि के घोर अंधकार में, जंगल के एकांत कोने में जहाँ मनुष्य की दृष्टि भी न पहुँचे हाथी-हथिनी काम-क्रीड़ा में रत होते हैं—

बस्ती हस्ती हस्तिनी देइ न पति रति दान

—सतसई

एक लकड़हारे ने मुझे एक कथा सुनाई। लकड़हारा घोर वन के एकान्त कोने में लकड़ी काट रहा था। वहीं एक बहुत गुप्त स्थान में हाथी रतिप्रवृत्त था।

लकड़हारे पर हाथी की दृष्टि पड़ गई। थोड़ी देर बाद हाथी लकड़हारे पर दौड़ा। पीछे हथिनी भी। बेचारा पेड़ पर चढ़ गया। हाथी भी बड़ा चतुर था। दोनों ने पेड़ के तने को धक्के दे गिराना चाहा। पेड़ था दृढ़, न हिला। हाथी चला गया और हथिनी वहीं खड़ी रही कि लकड़हारा भाग न सके। हाथी कुछ क्षणों के उपरान्त सूँड़ में पानी भरे आया और पेड़ की जड़ में छोड़ दिया। तीन-चार बार पानी इसी प्रकार डाल फिर पेड़ को धक्के दिये। पेड़ कुछ हिला और उधर हिल गये लकड़हारे के प्राण। फिर हाथी और हथिनी दोनों पानी भर-भर लाने लगे। एक घंटे में पेड़ काफी हिल गया। अब लकड़हारे के सामने मृत्यु नाचने लगी। मरता क्या न करता? उसने अपने कपड़े वहीं पेड़ की शाखाओं को पहिना दिये। दूसरी बार जैसे ही दोनों क्रुद्ध पशु पानी लेने चले, वह झट उतरा और दौड़ कर एक और घने पेड़ पर चढ़ कर छिप बैठा। सूर्य लाल आँखें कर अपने भवन की ओर चले और उधर उन दोनों ने पेड़ गिरा दिया? गिरते ही क्रुद्ध भीमकाय जीवों ने वस्त्रों को चीर डाला और चले गये। बेचारा लकड़हारा रात भर पेड़ पर चढ़ा रहा।

बन्दर तो मनुष्य का प्रतिरूप है अतः अद्भुत बुद्धिमान होता है। बन के कांटे आगे हानिकर सिद्ध होंगे अतः वह कांटों को उगते ही तोड़ देता है—

बीन कुंज अंकुर चलहिं, उपजत कन्त निदान

—सतसई

बन्दरों को केवाँच-लता बहुत प्रिय है। बड़े हर्ष से उसे नोचते हैं, उखाड़ते हैं। इन लताओं का खेल-खेल में ही उखाड़ना वानरी प्रकृति का प्राकृतिक रहस्य है। तभी तो गोस्वामीजी कहते हैं—

बात तरु मूल बाहु सूल कपि कच्छु बेलि।
उपजी सकेलि कपि खेल ही उपारिए॥

—कवितावली

भेड़िया धसान प्रसिद्ध है। जिधर एक भेड़ मुड़ी उधर ही सब चल देंगी चाहे उधर कुआँ हो या खाई—

तुलसी भेड़ी की धसनि जड़ जनता सनमान।

—दोहावली

यह भेड़ भीरु भी बहुत होती है। फिर जब भेड़िये को देख लें तब क्या उनकी दशा होगी, इसकी कल्पना सहजतया हो सकती है। फिर तो वे अपनी भेड़िया धसान भूल जाती हैं और जिधर मुख उठता है भाग खड़ी होती हैं—

भागे भालु बली मुख जूथा। वृकु बिलोकि जिमि मेष बरूथा॥

—रामचरित मानस

ऐसा ही भयभीत प्राणी है मृग—

"तुम्हहिं देखि मृग निकर पराहीं"

—रामचरित मानस

मृग और मृगी गान पर भी बहुत मोहित होते हैं। उनमें भी विशेष कर मृगी—

"सबरी गान मृगी जनु मोही"

—रामचरित्र मानस

किन्तु वहाँ मृगी दीपक को देख कर ठिठक जाती है, मन भर कर आँखें फाड़ कर देखती है और मृग भी वही करता है—

"थके नारि नर प्रेम पियासे। मनहुँ मृगी मृग देखि दियासे"

—रामचरित मानस

कछुवी अपने अंडे नदी या सागर के जल में न देकर तट-बालू में देती है। अंडे रेत में हैं और आप पानी में। पर पानी के अन्दर या ऊपर रह कर भी प्रतिक्षण मन एवं नेत्र रेत में दबे अंडों पर हैं। थोड़ी-थोड़ी देर बाद उन्हें देखने का प्रयत्न करती है—

रामहिं बन्धु सोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भाँती॥

—रामचरित मानस

साँप चंदन से लिपटे रहते हैं पर चन्दन की शीतलता का, उसकी सुगंध का साँप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह विष नहीं छोड़ता—

तुलसी चन्दन विटप बसि, बिन विष भै न भुजंग।

—सतसई

शीतकाल में साँप केंचुली में भर जाता है। तब उसे कुछ नहीं दिखाई पड़ता—

तुलसी केंचुरि परिहरेउ होत साँपहू डीठि।

—दोहावली

साँप का नीचे झुकना भी बहुत बुरा है। वह झुक कर ही बिल में जाता है और झुक कर ही डसता भी है। बिल्ली भी सर्प की नाईं झुक कर चूहे पर झपटती है—

नवनि नीच कै अति दुख दाई। जिमि अंकुस उरग बिलाई॥

—रामचरित मानस

वही साँप रीझ कर अपना सीस भी सौंप देता है। सपेरा बीन बजाता है, साँप रीझ कर वश में हो जाता है—

बिबि रसना तनु स्याम है, बंक चलनि विष खानि।

तुलसी जस स्रवननि सुन्यो सीस समर्प्यो आनि॥

—दोहावली

मुर्गा बहुत प्रातःकाल बोलता है। घड़ी का काम अनेक मनुष्य उसी से लेते हैं और उसकी पुकार पर जग जाते हैं।

'अरुनसिखा'—मुर्गे की भाँति का जीव था "अरुन सिखा" की प्रातःकालीन आवाज पर लक्ष्मण भी जग बैठे थे—

उठे लखनु निसि बिगत सुनि अरुन सिखा धुनि कान।

—रामचरित मानस

मुर्गे को हम सब ने देखा है पर क्या उसकी प्रकृति की परीक्षा भी की है। महात्मा तुलसीदास ने की थी। आप मुर्गे को मोती चुगा दीजिये चाहे मोतीचूर के लड्डू, चने के दाने भी दे दीजिये और बादाम भी पर वह एक काम नहीं छोड़ सकता, कौवे की नाईं। कौआ निरामिष नहीं हो सकता (होइ निरामिष कबहुँ कि कागा)। उसी प्रकार मुर्गा कूड़े पर जाकर कीड़ों को बिन-बिन कर अवश्य खायगा—

राम गरीब निवाज हैं राज देत जन जानि।
तुलसी मन परिहरत नहीं घुरबिनिया की बानि॥

—सतसई

लघु कीट

मछली सरलता से उस भीषण जल-प्रवाह को काट लेती है, जलप्रवाह से लोहा लेकर ऊपर की ओर बढ़ जाती है, जिसके सम्मुख गजराज हार मान लेता है—

सफरी सनमुख जल प्रवाह सुरसरी बहै जल भारी।

—विनय पत्रिका

एक कीड़ा होता है। वह माता का उदर फाड़ कर जन्मता है। माँ को मृत्यु-मुख में डाल कर जन्मता है—लोगों में उसे 'कुटिला' कहते हैं—

तनु जन्यो कुटिल कुटी ज्यों तज्यो माता पिता हू।

—विनय पत्रिका

जौ का कीड़ा जौ के साथ ही पिस जाता है—

करत राज लंका सठ त्यागी। होइहि जव कर कीट अभागी॥

—रामचरित मानस

धूरिकण एवं शक्कर आपस में मिल गये। अब कौन अलग कर सकता है? आजकल का रसायन-वेत्ता या प्रकृति का एक छोटा-सा कीट जिसे "चींटी" कहते हैं—

ज्यों सर्करा मिलै सिकता महं बल तें न कोउ बिलगावै।
अति रसग्य सूच्छम पिपीलका बिनु प्रयास ही पावै॥

— विनय पत्रिका

तुलसीदासजी को ज्ञान था कि सुन्दर एवं बहुमूल्य वस्त्र—रेशम—एक तुच्छ कीड़े से होता है—

पाट कीट तें होइ तातें पाटम्बर रुचिर।

—दोहावली

और इस अपवित्र कीड़ों को लोग बड़ी रुचि से पालते हैं—बड़ी सावधानी एवं सुरक्षा से उस कीड़े का पोषण करते हैं—

कृमि पालैं सब कोइ परम अपावन प्रान सम

—दोहावली

इस प्रकार हम देखते हैं तुलसी का जीव-सम्बन्धी ज्ञान बहुत विस्तृत था, और विशद था। इनमें से कुछ तो साधारण जीव हैं जिनका ज्ञान सभी को होता है। पर

कुछ हैं विशेष जिनकी जानकारी बिना सूक्ष्म-पर्यवेक्षण एवं परिश्रम जन्य परीक्षण के नहीं हो सकती। तुलसी ने जान-बूझ कर जीव-परिचय नहीं प्राप्त किया। उनका उद्देश्य यह न था कि वे जीव-शास्त्र की अभिज्ञता प्राप्त करें, जा-जाकर पशु-पक्षियों का ग्रामों एवं वनों में अध्ययन करें। उनके पास सूक्ष्म दृष्टि थी। जिधर ध्यान जाता था, सूक्ष्मता एवं गहनता से। जो वस्तु सामने आती थी उसकी परख स्वयमेव हो जाती थी। यह उनकी दृष्टि की ही विशेषता है और कुछ नहीं।

तुलसीदास की मौलिकता

मौलिकता दो प्रकार की होती है : १. नवीन तथ्यों को प्रकाश में लाना, २. प्राचीन तथ्यों पर नवीन प्रकाश डालना। यह प्रकाश भी दो प्रकार का होता है—(१) नवीन दृष्टिकोण, (२) नवीन शैली। तुलसी में दोनों प्रकार की मौलिकता मिलती है। पहले प्रकार की मौलिकता विनय-पत्रिका, बरवै रामायण और रामलला नहछू में मिलती है। कवितावली एवं दोहावली के भी अधिकांश भाग इसी प्रकार के हैं। हाँ, इन पुस्तकों में यत्र-तत्र दूसरे स्थानों से भाव, विचार या उक्तियाँ ली हैं। रामचरितमानस ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें तुलसी ने प्राचीन ग्रंथों से सबसे अधिक सहायता ली है। इन पुस्तकों में दूसरे प्रकार की मौलिकता के दिव्य-दर्शन होते हैं। रामचरितमानस में तुलसी ने कथा-प्रसंग, उक्तियाँ, विचार, भाव बहुत अधिक संख्या में पूर्ववर्ती कवियों से प्राप्त किए हैं। तुलसी स्वयं घोषित करते हैं कि इस पुस्तक के लिखने में मैं नितांत स्वतंत्र नहीं हूँ। मैंने वेद, पुराण, शास्त्र, उपनिषद्, रामायण (वाल्मीक, भुशुंडी, महा, शिव) तथा अन्य पुस्तकों (भागवत्, गीता, हनुमन्नाटक, प्रसन्न-राघव, रघुवंश, उत्तर रामचरित, कुमारसंभव, चाणक्यनीति, मनुस्मृति, शुक्रनीति, नीतिशतक इत्यादि) से सहायता लेकर इस पुस्तक की रचना की है—

> 'नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
> रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।'

इस प्रकार तुलसी वह मधुमक्खी हैं जो अनेक कुसुमों—लाल, पीले, हरे, काले, कड़वे, नीमे, मीठे, कसैले पुष्पों से रस लेकर, अपने हृदय एवं बुद्धि की प्रयोगशाला में उन रसों का संमिश्रण कर हमें मधुर मधु दान करती है। तथ्य प्राचीन हैं, परंतु उनका गठन, उनका व्यवहार, उन पर प्रकाश नया है। यही है तुलसीदास की मौलिकता यहाँ

राम-कथा लिखने में उनकी प्रधान आधार-शिला 'अध्यात्म रामायण' है। यह निश्चय है कि 'अध्यात्म' का आधार भी वाल्मीकि रामायण है और इस प्रकार वे वाल्मीकि को भूल नहीं सकते थे। तब भी यह सत्य है कि उन्होंने 'अध्यात्म रामायण' का अधिक अनुसरण किया है। 'अध्यात्म रामायण' में 'राम' को परमात्मा मानकर कथा आगे बढ़ी है। स्थान-स्थान पर 'राम' के परमेश्वरीय रूप की ओर संकेत करने की आवश्यकता पड़ी है। थोड़ी-सी कथा आगे बढ़ी नहीं कि यह बताया गया कि [illegible] हैं। राम नाम की महिमा भी बहुत गाई गई है।

राम रामेति ये नित्यं जपंति मनुजा भुवि।
तेषां मृत्युभयादीनि न भवंति कदाचन्॥

—अध्यात्म, अयो० ५-२६

अर्थ—जो मनुष्य नित्य राम नाम जपते हैं, उनको मृत्यु, भय आदि दुःख कभी नहीं व्याप्त होते हैं। कलियुग में 'राम नाम' ही केवल पार उतारने का साधन है, यह उच्च उद्घोष भी अध्यात्मकार का है—'रामनाम्नैव मुक्तिः स्यात्-कलौ नान्येन केनचित्'—५-२७। इसी प्रकार अन्य बातों में भी अनेक समानताएँ अध्यात्म से हैं। किंतु इस पर भी जो-कुछ लिया है, बड़ी सावधानी एवं कलात्मकता के साथ। 'केवट'-प्रसंग अध्यात्म में है और तुलसी ने उसे उठाया है। परंतु दोनों के प्रसंगों और उक्तियों बड़ा अंतर है। राम, लक्ष्मण विश्वामित्र के साथ जनकपुर की ओर गमन करते हैं। मार्ग में गंगा नदी पड़ती है। केवट कहता है—हे नाथ! यह बात प्रसिद्ध है कि आपके चरणों में मानुषीकरण चूर्ण है। आपने एक शिला को स्त्री बना दिया। शिला और काष्ठ में कौन बड़ा अंतर है। अतः, नौका चढ़ाने से पूर्व मैं आपके चरण-कमलों को धोऊँगा। यदि बिना धोए मैंने नौका पर चढ़ने दिया और मेरी नौका भी स्त्री बन गई तो मेरे कुटुम्ब की आजीविका की हानि होगी—। (अ० रा० बालकांड, ६—३।४) तुलसीदासजी ने इस प्रसंग का कथन वन जाने के समय अयोध्याकांड में किया है। सत्य ही तुलसी ने बड़ी सूझ से काम लिया। अयोध्याकांड में इस प्रसंग को लाकर उसमें सुगंध पैदा कर दी है। जनकपुर जाते समय रामचंद्र राजकुमार थे। वे केवट को सोने से लाद सकते थे; यदि नाव स्त्री बनकर उड़ भी जाती तब भी क्या हानि थी? संभव है, उतरने के बाद राम ने उस समय या बाद में बहुत-कुछ दिया हो। परंतु तुलसी के राम कुछ नहीं दे सकते थे। यदि केवट की नाव स्त्री बन जाएगी तो वे क्या देंगे? यहाँ तो वे पैर धुलवाने के लिए विवश हैं। इस समय राम सीता की ओर देखते हैं; इसमें बड़ी विनम्रता, सरसता और स्नेह है। इसी समय जानकी जी ने जो मणिमुद्रिका दी, उसका मूल्य भी महत्व शून्य है। केवट दक्षिणा न लेकर जो मनोहर कथन करता है, वह बड़ा ही मार्मिक एवं सुन्दर है—

'नाथ आजु मैं काह न पावा।'

कवितावली एवं रामचरितमानस में यह प्रसंग तुलसी के सर्वश्रेष्ठ स्थलों में से एक है। अध्यात्म का थोड़ा रूप लेकर भी तुलसी ने केवट की उक्तियों में जो मार्मिकता उंडेली है, वह तुलसी की ही देन है—

एहि घाट तें थोरिक दूर अहै,
कटि लौं जल थाह देखाइहौं जू,

परसे पग धूरि तरै तरनी,
घरनी घर क्यों समुझाइहौं जू ॥
तुलसी अवलंब न और कछू,
लरिका केहि भाँति जिवाइहौं जू ।
बरु मारिए मोहि बिना पग धोए,
हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू ॥
—कवि० अयो० ६

इस प्रकार प्रसंग कहाँ से उठाकर कहाँ रखा है, मगर प्रसंग में जान डाल दी है, अपनी अनूठी उक्तियों द्वारा। वाल्मीकि एवं अध्यात्म रामायण में परशुराम विवाह-पश्चात् अवध की ओर जाते हुए मार्ग में मिले हैं। तुलसी ने हनुमन्नाटक और प्रसन्न-राघव के संकेतों को ग्रहण करते हुए परशुराम को धनुर्भंग के अवसर पर ला खड़ा किया है। उनका परशुराम-संवाद, सबसे भिन्न, अपना है। मंथरा-प्रसंग अध्यात्म रामायण में है, परन्तु तुलसी ने स्त्री-मनोविज्ञान के आधार पर हृदय-भेदी उक्तियों से उसे सजाया है; वह आज भी भारतीय जनता के कंठ में बैठा उनसे झट कहला देता है—

"फोरै जोग कपारु अभागा। भलेउ कहत दुख रउरेहि लागा ॥'
'कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी ॥'
'जारै जोग सुभाउ हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा ॥'
'भामिनी भयउ दूध कहँ माखी।'
'काह करौं सखि सूध सुभाऊ। दाहिन बाम न जानउ काऊ ॥'

तुलसी बड़े जागरूक कलाकार हैं। जिस प्रकार प्रसंगों में नई उक्तियों, नवीन विचारों और अपूर्व उपमाओं से प्रसंग की शोभा को बहुत बढ़ाया है, उसी प्रकार प्रसंगों को छोड़ या उनको अत्यन्त संक्षिप्त करके भी अपने व्यक्तित्व का पूरा परिचय दिया है। अध्यात्म रामायण में बालक राम घर के बर्तन फोड़ देते हैं और दूध-दही लुटाते हैं। तुलसी ने इस प्रसंग की ओर से आँखें मूँद लीं। वाल्मीकिजी ने चित्रकूट में भरत-मिलाप के समय जाबालि के मुख से 'खाओ, पिओ, मौज करो' भाववाली उक्तियाँ कहलाई हैं। तुलसी ने उस पर पर्दा डाल दिया है। इसी प्रकार प्रसंगों को संक्षिप्त कर मर्यादा एवं औचित्य की रक्षा की है। 'पुनि कछु लखन कही कटु बानी', 'मरम बचन जब सीता बोली' इत्यादि ऐसे ही प्रसंग हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसंग-चयन में तुलसी ने अपने मौलिक दृष्टिकोण का परिचय सदा दिया है।

प्रसंगों को ग्रहण कर और उनमें अपना व्यक्तित्व भर उन्हें नया रूप दे देना, बड़ा सरल है; परन्तु कठिन है पुरानी उक्तियों को लेकर उनमें कुछ नवीनता लाना।

राम-कथा लिखते हुए केशव और तुलसी, दोनों ने ऐसा किया है। किन्तु केशव ने या तो अनुवाद मात्र करके रख दिया है अथवा उस उक्ति को और भोंडा बना दिया है। दोनों के उदाहरण सामने हैं—

(१) कोरा अनुवाद मात्र :

प्रसन्न-राघव की एक बड़ी सरस उक्ति है—

कांते नाथ प्रणयमधुरं किञ्चदाचंचलेन
श्रांता श्रांता जनकतनया वल्कलस्यांचलेन
चक्रे वीतश्रमजलकणस्निग्धमुग्धाननश्रीः
श्रांतः श्रांतः स पुनरनया लोचनस्यांचलेन

—अंक ५।२८

अर्थ—प्रियतम श्री रामचन्द्र ने अपनी वल्कलमय चादर की छोर से स्नेह पूर्वक, सीता को श्रान्त देख, हवा करके शान्त किया और स्वेद बिन्दुओं के सूख जाने से प्रसन्नमुखी सीता अपनी तिरछी चितवन से राम के श्रम को दूर कर देती थीं। (टीकाराम श्री पं० रामचन्द्र शर्मा)।

केशवदास इसी प्रसंग को पद्य बद्ध कर कहते हैं—

मग को श्रम श्रीपति दूर करैं
सिय को, शुभ वाकल अंचल सों।
श्रम तेऊ हरैं तिनको कहि केशव
चंचल चारु दृगंचल सों॥

—प्रकाश १०-४४

नाटककार के 'कान्त' ने 'श्रीपति' बनकर कोई नवीनता न दी।

(२) केशव उक्ति तक न पहुँच सके अतः हास्यास्पद बन गए—

अप्युच्चण्डैस्तपनकिरणैस्तापितायां पृथिव्या-
मप्यन्येषां कठिनवपुषां दुर्गमे मार्गसीम्नि।
प्रेमार्द्रेण प्रमुदितधृतिश्चेतसा शीतशीतान्-
मेने सीता प्रियतमपदैरंकितान्भूमिभागान्।

—प्रसन्न-राघव ५-२७

अर्थ—चंडतम सूर्य-किरणों से संतप्त भूमि में भी, जहाँ कठिन जीवों को भी चलने में कठिनता प्रतीत होती थी, प्रेम-दीवानी सीता प्रियतम के पद चिह्नों से अंकित भूमि भाग को शीतल, अतिशीतल समझती थीं।

(टीकाकार श्री पं० रामचन्द्र शर्मा)

केशवदासजी ने इसे इस प्रकार प्रकट किया—

मारग की रज तापित है अति
केशव सीतहि सीतल लागति ।
ज्यों पद पंकज ऊपर पायनि,
दै जु चले तेहिलें सुख दायनि ॥

—रामचंद्रिका, ९–३८

केवल 'मारग की रज तापित है' कहने से वातावरण की भयंकरता न बनी। नाटककार ने उसे भयंकर बनाया है यह कहकर कि कठिन शरीरवाले पशु भी चलने में घबराते हैं। आगे तो केशव ने उक्ति को बिगाड़ा ही है। रामांकित भूमि पर पैर रख चलती हैं सीता। इसी से पृथ्वी बड़ी शीतल लगती है। पृथ्वी शीतल लगती है, इसका कारण नाटककार ने 'प्रेम की उत्तेजना' दी और केशव ने पदांकित भूमि पर पैर रखकर चलना कहा। क्या यह संभव है कि पदांकित भूमि पर ही चला जाय! और, क्या वह स्थल शीतल हो जाता है? वस्तुतः केशवदास का हृदय नाटककार की मार्मिकता को न भाँप सका। केशवदास ने आँख मूँदकर प्रसंग को कुरूप किया है। वाल्मीकि-रामायण में राम ने माता कौशल्या से कहा—महाराज के जीवित रहते तुम विधवा नारी के सदृश मेरे साथ वन में कैसे जा सकती हो (अ० यो० २१—६१) एवं २४ वें अध्याय में माता को उपदेश दिया कि पतिव्रता स्त्री का धर्म है, केवल पति की सेवा करना (२४ वें के २६, २७, २८ में)। झट केशवदास ने भी राम से माता को उपदेश दिलाया, किन्तु प्रसंग को आकाश से पाताल में गिरा दिया। केशव के राम माता को बताने लगे कि विधवा नारी को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए—विधवा गान, हास, तेल, मधुरान्न, पटआरा से दूर रहे; खाट पर सोना छोड़ दे; शीतल जल से स्नान न करे (प्रकाश ९ के १८, १९ छंद)। केशव ने सोचा, कौशल्या विधवा तो बनेंगी। अतः, क्यों न राम के मुख से विधवा-धर्म का व्याख्यान दिलवा दो, पर औचित्य का ध्यान न रहा। इसके विपरीत तुलसी ने कहीं भी अंधानुकरण नहीं किया है। उक्तियों को उठाया अवश्य है, परंतु कम या अधिक खराद पर चढ़ाकर उन्हें खूब चमकाया है। हाँ, कहीं कम खराद दी है, कहीं अधिक, उदाहरण—

(१) हनुमन्नाटक में सुमित्रा लक्ष्मणजी से कहती हैं—

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम् ।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ पुत्र यथासुखम् ॥ ३–९

हे पुत्र, राम को दशरथ समझो, सीता को अपनी माता मानना, वन को अयोध्या जानना। हे पुत्र, सुखपूर्वक जाओ।

तुलसी की सुमित्रा ने भी कहा—

तात तुम्हारि मातु बैदेही ।
पिता रामु सब भाँति सनेही ॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू ।
तहइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू ॥

यहाँ पर तुलसी ने अपनी तूलिका से कम रेखाएँ खींची हैं। 'सब भाँति सनेही' से राम के चरित्र की विशेषता बताई है। नाटककार कहता है—वन को अयोध्या जान सुख मानना। तुलसी की सुमित्रा कहती है—जहाँ भी राम रहें, मार्ग में, पहाड़ पर, नदी के बीच में, वन में, उसे ही अयोध्या समझना। फिर, अंतिम चरण 'तहइँ दिवस जहँ भानु प्रकासू' से तो नाटककार की उक्ति में प्राण-संचार किया है।

(२) अध्यात्म रामायण में राम माता से कहते हैं—

चतुर्दश समास्तत्र ह्युषित्वा मुनिवेषधृक् ।
आगमिष्ये पुनः शीघ्रं न चिंतां कर्तुमर्हसि ॥

तुलसी के राम कहते हैं—

बरष चारि दस बिपिन बसि, करि पितु बचन प्रमान ।
आइ पांय पुनि देखिहुँ, मन जनि करसि मलान ॥

—अयोध्या ४-६

अध्यात्मकार के राम कहते हैं—'मुनि वेष धर कर' १४ वर्ष वन में रहूँगा। तुलसी के राम कहते हैं—मैं १४ वर्ष के लिए वन जा रहा हूँ। अपनी इच्छा से नहीं, पिता के वचनों को सत्य सिद्ध करने के लिए। तुलसी ने यहाँ पुत्र एवं पत्नी की मर्यादा लाकर सामने खड़ी की है। अध्यात्म के राम कहते हैं—'पुनः शीघ्र आऊँगा। चिंता न करना।' यह शीघ्र शब्द विशेष बलदायक नहीं। १४ वर्ष के बाद राम आएँगे। और दो मास बीत भी जाँय तो क्या बात है? जहाँ १४ वर्ष बीते, वहाँ दो मास और सही। तुलसी ने इस शब्द को उड़ा दिया। चिंता न करने के स्थान पर प्रयुक्त किया 'मन को ग्लानि न करना।' एक तो तुलसी ने अलंकार पहिनाया। दूसरे, 'चिंता करना' सूक्ष्म-भाव को 'मन को ग्लान करना' कहकर कुछ और अधिक स्पष्टता-मय बना दिया।

(३) राम चित्रकूट में मुनियों के पास गए। वहाँ एक मुनि मुस्कराकर बोला—

पदकमलरजोभिर्मुक्तपाषाणदेह-
मलभत यदहल्या गौतमो धर्मपत्नीम् ।
त्वयि चरति विशीर्णग्रावविन्ध्याद्रिपादे
कति - कति भवितारस्तापसा दारवन्तः ॥

—हनुमन्नाटक ३–१६

आपके चरण-कमल की रज से मुक्त हो पाषाणी अहल्या को गौतम ऋषि ने धर्मपत्नी-रूप में पाया। इन पाषाणयुक्त विन्ध्याचल में आपके चलने से कितने ही तपस्वी सपत्नीक बन जाएँगे।

बड़ा सुन्दर परिहास है। तुलसी ने भी इसे कवितावली में पकड़ा—

विंध्य के बासी उदासी तपोव्रत—
धारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी तुलसी, सो
कथा सुनि भे मुनि वृन्द सुखारे॥
ह्वै हैं सिला सब चंद्रमुखी
परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू
करुना करि कानन को पगु धारे॥

नाटककार के प्रथम श्लोकार्द्ध को तुलसी ने 'गौतम तीय तरी' में विठा दिया। 'तरी' में बहुत भाव आ गया। स्त्री का सबसे बड़ा 'तरना' पति-प्राप्ति ही है। 'त्वयि चरित' से 'परसे पद मंजुल कंज तिहारे' में अधिक सौंदर्य है; विशेषतः 'परसे' में। 'चरति' शब्द द्वारा राम का आयास प्रकट होता है। राम जाते हैं। तब वे उधर ही जाएँगे, जहाँ शिलाओं को स्त्रियाँ बनाना है। तुलसी का तापस कहता है—आप स्वयं कुछ नहीं करते। पाषाण आपके चरणों का स्पर्श पा स्वयं स्त्रियाँ बन जाते हैं। 'मंजुल कंज' का स्पर्श पा शिला, चंद्रमुखी बन जाती है, कैसा विरोधाभास है! फिर वे शिलाएँ नाटककार के मत में केवल 'दारा' बनती हैं। संभव है, तापसी बन जाती हों, जिनके सिर पर भारी जटाजूट हों और जो व्रत में निरत कुछ कुरूप हों। पर तुलसी की 'शिलाएँ' चंद्रमुखी बनती हैं। एक बात अवश्य नाटककार की चमत्कारिणी है। वह लिंग परिवर्तन करा देता है—पाषाण-पुरुष को दारा बना देता है। 'तुलसी' 'शिला' को 'चंद्रमुखी' बनाते हैं। पहिला और चौथा चरण तो नाटककार की उक्ति को बहुत पीछे छोड़ देते हैं।

(२) सीताजी अयोध्या नगरी से बाहर दो-तीन कदम गई थीं कि उनकी दशा क्या हो गई; इस पर हनुमन्नाटककार ने एक बड़ी मनोहर उक्ति कही है—

सद्यः पुरी परिसरेषु शिरीषमृद्वी
गत्वा जवात्त्रिचतुराणि पदानि सीता।
गंतव्यमस्ति कियदित्यसकृद्ब्रुवाणा
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम्॥३—१३॥

अर्थ—सिरिस कुसुम-कोमल जानकीजी नगरी से निकल कर, शीघ्रता से तीन-चार पद चली थीं कि तुरंत बोलीं—कितना और चलना है। यह सुनकर प्रथम बार राम के नेत्र अश्रुपूर्ण हुए।

तुलसी ने इस उक्ति को कवितावली एवं गीतावली में ग्रहण किया है। कविता-वली की उक्ति नाटककार के आधार पर है, परन्तु आगे बढ़ गई है। नाटककार की प्रशंसा अवश्य करनी पड़ेगी कि उसने एक नवीन कल्पना की। तुलसी ने उसमें रंग भरा और उसे कलात्मक चित्र बना दिया।

पुर ते निकसी रघुबीर बधू
धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की
पुटि सूख गए मधुराधर वै॥
फिर बूझति हैं चलनो अब केतिक
पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की
अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥

तुलसी ने पारस का स्पर्श दे स्वर्ण बनाया है। 'धरि धीर' में कैसी करुणा भरी है! सवैये की दूसरी पंक्ति में जो सुन्दर शब्द-चित्र खींचा गया है, वह श्लोक में नहीं है। दो मार्मिक अनुभावों के बल पर विश्रांत सीता का बोलता-सा चित्र खींच दिया गया है। जो कवि थोड़े में स्पष्ट शब्द-चित्र खींच सके, वह अवश्य ही प्रथम कोटि का कवि माना जाएगा है। श्लोक में सीताजी पूछती हैं—कितना और चलना है? तुलसी की सीता एक और प्रश्न करती हैं—पर्णशाला कहाँ बनाओगे? इससे सीता की बड़ी विश्रांति एवं अत्यन्त आतुरता तुरंत प्रकट हो जाती है। अभी से 'पर्णकुटी' के लिए पूछने लगी, फिर आगे कैसे चला जाएगा? बस, पिय की चारु अँखियाँ चूने लगीं। अलंकार-छटा का कहना ही क्या? नाटककार ने केवल राम के नेत्र अश्रुपूर्ण कराए हैं। आँसू आँखों में भी रह सकते हैं, बाहर भी गिर सकते हैं। इधर तुलसी के राम रोने लगे। उनके नेत्राश्रु टपकने लगे।

(३) अधिकांश प्रसंगों को तुलसी ने अत्यधिक चमकाया ही नहीं है, वरन् उनकी काया-पलट-सी कर दी है। नींव तो थी, पर अट्टालिका अपनी ही बना दी। ऐसा एक सुन्दर प्रसंग पर्याप्त होगा। वन-गमन-प्रसंग में राम गाँवों के पास से जाते हैं। हनुमन्नाटक में इस अवसर का एक बड़ा रमणीक प्रसंग है। नाटककार ने बड़ी कलात्मक निपुणता से इस प्रसंग को सामने रखा है—

पथि पथिकवधूभिः सादरं पृच्छ्यमाना
कुवलयदलनीलः कोऽयमार्ये तवेति ।
स्मितविकसितगंडं व्रीडविभ्रांतनेत्रं
मुखमवनमयंती स्पष्टमाचष्ट सीता ।

—ह० ना० ३-१६

अर्थ—राम-लक्ष्मण-सीता मार्ग में जा रहे हैं। पथिक-वधू सादर सीता से पूछती हैं—आर्ये, नील कमलवर्णी तुम्हारे कौन हैं? सीता मुस्कराईं, जिससे कपोल खिल उठे। उन्होंने लज्जा से मुख नीचे किया। नेत्र चंचल किए। इस प्रकार स्पष्ट बता दिया कि ये मेरे कौन हैं। शृङ्गार की इस सरस सरिता में स्नान कर कौन धन्य न बनेगा?

तुलसीदासजी ने भी प्रसंग को पकड़ा और अपनी प्रयोगशाला में ले जाकर इसको दीपक से प्रकाश-स्तंभ बना दिया। रामचरितमानस का यह हृदयग्राही प्रसंग किस मानस-पाठी को लीन नहीं कर लेता? प्रसंग यह है—

सीय समीप ग्राम तिय जाहीं।
पूछत अति सनेह सकुचाहीं।
बार-बार सब लागहिं पाए।
कहहिं बचन मृदु सरल सुभाए।
राजकुमारि बिनय हम करहीं।
तिय सुभाय कछु पूछत डरहीं।
स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी।
बिलगु न मानब जानि गँवारी।
राजकुँवर दोउ सहज सलोने।
इन्ह तें लहि दुति मरकत सोने।
स्यामल गौर किसोर वर, सुन्दर सुषमा ऐन।
सरद सर्बरीनाथ मुख, सरद सरोरुह नैन॥
कोटि मनोज लजावन हारे।
सुमुखि कहहु को आहि तुम्हारे।
सुनि सनेह मय मंजुल बानी।
सकुची सिय मन महुँ मुसुकानी।
तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनी।
दुहुँ सकोच सकुचति बर बरनी॥
सकुचि सप्रेम बाल मृग नयनी।
बोली मधुर बचन पिक बयनी॥

सहज सुभाय सुभग तन गोरे।
नाम लखन लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदन बिधु अंचल ढांकी।
पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि।
निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सयननि॥

नाटककार ने पुछवाया—'नील वर्ण वाले तुम्हारे कौन हैं?' अतः, सीताजी शृङ्गारी संकेतों द्वारा इसी प्रश्न का उत्तर देती हैं। किन्तु वहाँ लक्ष्मणजी भी थे। न तो नाटककार ने उनका ध्यान रखा, न ग्राम-वधूटियों ने, न सीताजी ने ही। अतः, तुलसीदास ने प्रसंग में लक्ष्मण को भी सम्मिलित किया, जो स्वाभाविक है। तुलसी मर्यादावादी कवि हैं। वे सदा सामाजिक सीमाओं को लेकर बढ़ते हैं। यहाँ भी यही बात है। नाटक में पथिक-वधुएँ सीधे सीता से प्रश्न कर बैठती हैं—आर्ये, नील वर्ण वाले तुम्हारे कौन हैं? तुलसीदास ग्राम वधूटियों से एकदम प्रश्न नहीं कराते। वे पहिले मनोविज्ञान का परिचय देते हैं। गाँव की स्त्रियाँ सीताजी के पास जाती हैं। वे प्रेमपूर्ण हैं। प्रेम में सहानुभूति होती है, परिचय होता है। अतः, वे सीता से पूछना तो चाहती हैं, परन्तु सकुचाती हैं। यह संकोच कितना स्वाभाविक है। गाँव की स्त्रियाँ, एक नागरी से, वह भी राजकुमारी से, पूछती संकोच तो करेंगी ही! फिर पूछती भी हैं, तो बड़े आदर के साथ—बारंबार पैरों लगती हैं। मीठे सरल वचनों में बोलती हैं। ये मीठे सरल वचन नागरियों की नाईं बनावटी नहीं, वरन् स्वाभाविक हैं। भारतीय स्त्री सदा से संकोचशील रही है, फिर एक बड़े कुल की स्त्री से ऐसा प्रश्न करने जा रही हैं, तो स्वभावतः उन्हें भय लगता ही। यहाँ तक ग्रामीण नारी का मनोविज्ञान है।

आगे कलाकार का गत्यात्मक सुन्दर चित्र है, जो मनोविज्ञान के साथ उभरा है। ग्रामीण वधुओं के हृदय में स्नेह था और शब्दों में मधुरता थी। किन्तु सीताजी सकुचा गईं। सकुचा जाना स्वाभाविक था; क्योंकि उनके पतिदेव के विषय में पूछा जा रहा है। नाटककार की सीता ने संकोच नहीं किया, वे शरमाईं अवश्य। उन्हें इस प्रकार की दुविधा नहीं हुई कि उत्तर दूँ या न दूँ। इस आन्तरिक द्वन्द्व को तुलसी ने परखा और सामने रखा। नाटककार की सीता मुस्कराईं, जिससे उनके कपोल विकसित हुए। तुलसी ने लिखा—'मन महँ मुसकानी।' और ठीक है, मुझे तुलसी अधिक स्वाभाविक लगते हैं। मुस्कराने या हँसने से, संभव है, भोली वधुएँ समझ जातीं कि हम पर हँस रही हैं। अतः, तुलसी ने लिखा—'मन महँ मुसकानी।' इसका अभिप्राय है, सीता मन में सोचने लगीं—कैसी सीधी-सादी और भोली-भाली हैं ये! दूसरे, पति

के विषय में प्रश्न है, अतः गुदगुदी हुई; जिससे मुस्कराहट फूटी; परन्तु सीताजी ने उस मुस्कराहट को हृदय में ही रखा।

इसके बाद तुलसी की उत्कृष्ट कला का उदाहरण है। सीताजी मन में मुस्कराकर स्त्रियों की ओर देखने लगीं। क्यों? कहीं ये मजाक तो नहीं कर रहीं? या वास्तव में ये जानना ही चाहती हैं कि मेरे साथ ये कौन हैं? इसका समाधान कैसे हो सकता था, उन स्त्रियों की मुख-मुद्रा से? फलतः उन्होंने स्त्रियों की ओर देखा। उनके मुख पर वास्तविकता खेल रही थी। सीता को निश्चय हो गया, प्रश्न हृदय से है। अब तो वे पृथ्वी की ओर देखने लगीं। 'विलोक' शब्द का अर्थ है—जरा गौर से देखना, दृष्टि गड़ाना। तुलसी ने अन्यत्र भी इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है—

"एक बार बिलोकु मम ओरा।"

—रामचरित मानस

"वनिता बनी स्यामल गौर के बीच
बिलोकहु री सखी! मोहि-सी ह्वै।

—कवितावली

सीता ने थोड़ा ध्यानपूर्वक उन स्त्रियों की मुख-मुद्राओं को देखा। फिर पृथ्वी की ओर दृष्टि गड़ाई। क्यों? अन्तर्द्वंद्व की अवस्था है। सीता सोच रही हैं—उत्तर दूँ या न दूँ! यदि दूँ तो कैसे? मनुष्य जब खड़ा-खड़ा सोचता है, तब उसके नेत्र पृथ्वी पर गड़ जाते हैं। दूसरा यह भी भाव कहा जाता है—भूमि उनकी मा थी। मा के सामने पति के सम्बन्ध में पूछा जा रहा है। अतः, नेत्र मा पर जा टिके कि मा के सामने कैसे बताऊँ! सीता को दोनों ओर के संकोच ने घेर लिया—यदि स्त्रियों को उत्तर न दूँ तो ये मन में मुझे अभिमानिनी मानेंगी। यदि उत्तर दूँ, तो कैसे?

शीघ्र इस स्थिति से छुटकारा पा लिया बुद्धिमती सीता ने। पहले लक्ष्मण की ओर संकेत कर बताया—स्वाभाविक सुन्दर और गोरे तन वाले मेरे 'लघु' देवर लक्ष्मण हैं। 'लघु' शब्द में कई सार्थकता है—(१) लक्ष्मण भरत से छोटे थे। अतः 'लघु' देवर थे। (२) 'लघु' से लाड़-प्यार का भाव झलकता है—'लाड़ले देवर।' (३) इससे प्रतीत होता है, अवस्था में लक्ष्मणजी रामचन्द्रजी से कुछ अधिक छोटे थे।

अब शेष रहे राम! उनका परिचय कैसे दिया जाय? अनुभावों के बल पर, रस-धारा बहाकर उत्तर दिया रामप्रिया ने। निश्चय ही नाटककार की अपेक्षा अनुभाव अधिक सरसता एवं मार्मिकता से प्रकट हुए हैं। नाटककार की सीता मुस्कराई। तुलसी की सीता मुस्कराई नहीं; बस, मन में गुदगुदी पैदा हुई या मन में मुस्कराई। नाटककार की सीता ने लज्जा कर मुख नीचे किया। तुलसी की सीता ने भी नीचे मुख किया। मुस्कराना केवल पति को ही देखकर नहीं होता। शंका होती है कि शायद उन स्त्रियों

के इस प्रश्न पर मुस्कराई हों। नीचे मुख करना भी पति की ओर संकेत करने का स्पष्ट चिह्न नहीं हो सकता। जेठ, ससुर के सामने भी मुख नीचे हो जाता है। नाटक में सबसे बड़ा अनुभाव 'चंचल नेत्र' है, जिसने स्पष्ट ही बताया कि ये कौन हैं। नाटककार ने लिखा—स्पष्ट व्यंजना हो गई। किन्तु स्पष्टता पूरी नहीं हुई। तुलसी ने अवश्य स्पष्ट व्यंजनाएँ की हैं। उन्होंने भी नेत्रों को तिरछा करवाया है, परन्तु बाद में। इससे पूर्व दो अनुभाव और प्रयुक्त किए है। एक हैं अमोघ अस्त्र—मुख पर अंचल ढँकना और दूसरा है प्रिय पति की ओर देखकर भौंएँ टेढ़ी करना अर्थात् कटाक्ष करना। इसके बाद नेत्रों को चलाया, जो स्त्रियों की स्वाभाविक क्रिया है। इस प्रकार सीता ने 'स्पष्ट' नहीं, 'संकेतों में, सैनों से, इशारों से' अपना पति बता दिया।

निश्चय ही, प्रत्येक व्यक्ति कह देगा, तुलसी ने कच्चे सोने को कुंदन बना दिया है। नाटककार की प्रशंसा है कि उसने ऐसी सुन्दर उक्ति सोची और सरस शब्दावली में उसे प्रकट किया। मेरे कहने का कभी भी यह अभिप्राय नहीं है कि नाटककार किसी प्रकार कम है। मेरा भाव है, तुलसी ने प्रसंग उड़ाया मात्र नहीं, अपना बनाकर जड़ा है। नाटककार शृङ्गार को साथ लिए चला है, तुलसी मर्यादा को। फलतः, दोनों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से देखा। बाबाजी ने जो कुछ भी झोली में से दिया, चाहे वह उनका था या पराया, वह अपूर्व, अद्भुत, नवीन और मनोहर ही था। यही है तुलसी की मौलिकता!

कविता लसी या तुलसी की कला

काव्य हमारा महामान्य महामानव है। भावों के रूप में वह जीव धारण करता है तो शब्दों या भाषा से उसका शरीर निर्मित होता है। कला का सम्बन्ध इसी भाषा या शब्दों से ही है। कला, शब्दों को कई रूपों में सजाती एवं स्थापित करती है। उनमें से पाँच रूप प्रधान हैं—

(१) शब्द-योजना (२) शब्दों से चित्र खींचना (३) शब्दों को अलंकृत करके काव्य-सौन्दर्य बढ़ाना (४) अर्थ ध्वनन और (५) शब्द-शक्तियों से काव्य का मूल्य बढ़ाना।

(१) शब्द-योजना

सुकवि एवं महाकवि शब्दों के सम्राट् होते हैं। शब्दों का प्रयोग वे मनमाने ढंग से नहीं करते। उनके शब्द अपने स्थान पर अडिग आ बैठते हैं। वे यदि शब्दों के पर्यायों का प्रयोग करते हैं तो सोच-समझकर। हम उनका कोई शब्द हटाकर उसके स्थान पर उसका पर्याय नहीं रख सकते। उनके प्रत्येक शब्द का अपना स्थान, मूल्य, महत्त्व एवं सूक्ष्म अर्थ होता है। इस शब्द-योजना की कला में गोस्वामी तुलसीदासजी बेजोड़ हैं। कुछ उदाहरणों से यह सिद्ध हो जायगा। उन्होंने घर के अर्थवाले ८ पर्यायों का प्रयोग किया है। वे हैं—भवन, सदन, निकेत, मंदिर, गृह, घर, गेह एवं धाम। भवन का प्रयोग उन्होंने बड़े लोगों, राजाओं या राजकुमारों के घरों के लिये किया है—

जनक भवन कै सोभा जैसी।
भूपति गवने भवन तब दूतन्ह वास देवाइ।
भूप भवन किमि जाइ बखानी।
सोभा दसरथ भवन कइ, को कवि बरनै पार।
निज निज भवन गए महिपाला।
आए भवन ब्याहि सब भाई।
सुर नर नारि सनाथ करि भवन चले भगवान।
कोप भवन गवनी कैकेई।
राम रजायसु सीस धरि भवन गवनु तेह कीन्ह
भवन एक पुनि दीख बनावा।
हरि मंदिर तहँ भिन्न बनावा।

सुखदायक एवं सुन्दर, भवन से छोटे घरों को 'सदन' कहा है, विशेषतया जहाँ सदा रहा जाता है—

> सियनिवास सुन्दर सदन,
> सोभा किमि कहि जाति।
> सुन्दर सदन सुखद सब काला।
> निज निज सुन्दर सदन सँवारे।
> सेवक सदन स्वामि आगमनू।
> सुर-दुर्लभ सुख-सदन बिहाई।
> प्रिय परिवार सदन सुखदाई।
> रचे परन तृन सदन सुहाए।

भवन के साथ सुख, सुन्दरता एवं विस्तार-रहितता का भाव बँधा है तो धाम के साथ श्वेतता और विस्तार का। धाम का संबंध भी सामन्तवादी वर्ग से है। भवन और धाम में *अन्तर यही है कि भवन एक होगा, उसमें अनेक धाम होंगे। साथ ही धाम के साथ* पवित्रता एवं पूज्यता का भी भाव संबद्ध है—

> धवल धाम बहुबरन बनाए (यज्ञमंडप में)
> धवलधाम मनि पुरट पट सुघटित नाना भाँति
> तब नरनाह बसिष्ठ बुलाए।
> राम धाम सिख देन पठाए।

गृह साधारण शब्द है। प्रधानतः यह छोटे-बड़े सबके लिये प्रयुक्त हुआ है। राजा का घर, दीन का घर और देवता का घर—सबके लिये एक साधारण शब्द 'गृह' है।

इसी प्रकार 'देखने' के अर्थ में तुलसीदास ने देखना, हेरना, पेखना, लखना, निहारना, जोहना, चितवना, निरखना, बिलोकना, अवलोकना, चाहना—इन ग्यारह शब्दों का आवश्यकता, प्रसंग और मूल्य के अनुसार प्रयोग किया है। प्रेम के लिये भी वे अनेक शब्दों को प्रयोग में लाए हैं। वे हैं—प्रेम, प्रीति, चाह, स्नेह, नेह, अनुराग, प्यार, छोह, ममता, रति, हित, प्रणय इत्यादि, और सबके उचित प्रयोग का उन्होंने बड़ा ध्यान रक्खा है।

(२) शब्द-चित्र

चित्रकार तूलिका की रेखाओं से जैसे चित्र खड़ा करता है सिद्ध कवि कुछ शब्दों से वही काम करता है। सीताजी नीचे मुख किए बैठी हैं। वे बंदिनी हैं। उनके

नेत्र पैरों पर लगे हैं। वे आँखें बंद किए हुए हैं। बाहर एक पहरेदार खड़ा है। चित्रकार का कार्य तो रेखाएँ खींचकर समाप्त हो जाता, किन्तु कवि का नहीं हुआ है। वह काव्यालंकार भी जड़ता है, भव्य रंग भी भरता है और कहता है—

नाम पाहरू दिवस निसि,
ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रिका,
प्रान जाहिं किहि बाट।

शब्द-चित्रों के कुछ और उदाहरण लीजिए—

(क) बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी।
पियतन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि।
निजपति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि॥

(ख) चितवति चकित चहूँदिसि सीता।
कहँ गए नृप किशोर मनु चीता॥
जहँ बिलोक मृग सावक नैनी।
जनु तहँ बरिस कमल सित स्रेनी॥
लता ओट तब सखिन्ह लखाए।
स्यामल गौर किसोर सुहाए॥
देखि रूप लोचन ललचाने।
हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥
थके नयन रघुपति छबि देखें।
पलकन्हि हूँ परिहरीं निमेषें॥
लोचन मग रामहिं उर आनी।
दीन्हें पलक कपाट सयानी॥

(ग) पुरतें निकसी रघुबीर बधू,
धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की,
पुट सूखि गए मधुराधर वै।
फिरि बूझति हैं चलनो अब केतिक,
पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै।
तियकी लखि आतुरता पिय की,
अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै।

पहले दो उदाहरणों में स्थिर-चित्र हैं और तीसरे चौथे (ख एवं ग) में गत्यात्मक। इन अंतिम दो को तूलिकाबद्ध करना कठिन है। हाँ, लेखनीबद्ध किया जा सकता है। गोसाईंजी पूरे शब्द-चित्रकार हैं।

(३) शब्द-शृंगार

समर्थ कवि के सामने अलंकार हाथ जोड़े सेवक के समान खड़े रहते हैं। उसके संकेत-मात्र से वे अपने आसन पर आ विराजते हैं। गोस्वामीजी की लेखनी से अलंकार स्वतः प्रसूत होते रहते हैं। उनका अनुप्रास अपने आप आ बैठता है, रीति-काल के कवियों की नाईं बलपूर्वक स्थान नहीं बनाता। हमें प्रतीत ही नहीं होता कि अनुप्रास हमारी आँखों के सामने से सरक गया है।

बंदउँ गुरु पद पदुम परागा।
सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥
जन मन मंजु मुकुर मल हरनी।
किएँ तिलक गुनगन बस करनी॥
मति कीरति गति भूति भलाई।
जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥

कोई पन्ना पलट डालिए, अनुप्रास बैठा या लेटा अवश्य दिखाई पड़ेगा।

अर्थालंकारों के प्रयोग में भी गोस्वामीजी ने बड़ी निपुणता दिखलाई है। 'उपमा कालिदासस्य' प्रसिद्ध है। किन्तु इस प्रसिद्धि के एक बड़े अधिकारी तुलसी झट सामने आ जाते हैं और ऐसी-ऐसी उपमाएँ देते हैं कि पाठक या श्रोता सोचने लगता है, क्या दोनों हाथों में दो अनामिकाएँ नहीं होतीं। तुलसी जैसे लम्बे सांग-रूपक इतनी अधिक मात्रा में हिन्दी के किस कवि ने लिखे हैं। उनका 'मानस' रूपक कई पृष्ठों तक चलता है। उनकी उत्प्रेक्षाएँ बड़ी प्रभावपूर्ण हैं, ऊहा के बल पर बलात् खींची हुई नहीं। इसके पुष्ट उदाहरण उनके वर्षा और शरद् वर्णन हैं—

भूमि परत भा डाबर पानी।
जनु जीवहि माया लपटानी॥
दादुर धुनि चहुँ ओर सुहाई।
बेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई॥
निसि तम घन खद्योत बिराजा।
जनु दंभिन्ह कर मिला समाजा॥
फूलें कास सकल महि छाई।
जनु बर्षा कृत प्रगट बुढ़ाई॥

(८) अर्थ-ध्वनन

अर्थ न जानते हुए भी जब शब्द-श्रवण-मात्र से अर्थ का आभास हो जाय तो वहाँ अर्थ-ध्वनन होता है। शेक्सपियर की इसके लिये अत्यन्त प्रसिद्धि है। हिन्दी-में तुलसी ने भी इसका प्रयोग किया है। रामचरित मानस, कवितावली एवं गीतावली में यह भरा पड़ा है, विशेषतः रामचरितमानस में। दो उदाहरण देखिये—

पुष्पवाटिका में सीता जी आ रही हैं। वे आभूषणों से लदी हैं। दूर से उनके बजनेवाले आभूषणों की ध्वनि आ रही है। कवि ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है। जिनसे आभूषणों के बजने का आभास होता है—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लषन सन राम हृदय गुनि॥

यहाँ 'न' के अतिशय प्रयोग ने आभूषणों की ध्वनि का द्योतन कर दिया है। इसी प्रकार बादलों के गर्जन का वर्णन तुलसीदास करते हैं—

घन घमंड नभ गरजत घोरा।

संस्कृत-हिन्दी में इन विशेषताओं को गुणों के अन्तर्गत माना जा सकता है। किन्तु अर्थ ध्वनन और गुणों में कुछ अन्तर है। माधुर्यवाची शब्दों से अर्थ का द्योतन होना आवश्यक नहीं है अर्थध्वनन में यह आवश्यक है। गुण तीन हैं—माधुर्य, ओज एवं प्रसाद। गोस्वामीजी में तीनों गुण पूर्ण मात्रा में भरे हैं। होने भी चाहिए थे। वे सगुणवादी हैं और 'सगुणता' में उनका पूर्ण विश्वास है।

माधुर्य गुण का उदाहरण—

(क) देखि देखि री दोउ राज सुवन।
गौर स्याम सलौने लोने, लोने लोयननि
जिन्हकी सोभा तें सोहै सकल भुवन
—गीतावली

(ख) मुख पंकज कंज बिलोचन मंजु
मनोज सरासन सी बनी भौंहें।
कमनीय कलेवर, कोमल स्यामल
गौर किशोर, जटा सिर सोहैं।
—कवितावली

(ग) सकल सुमंगल अंग बनाएँ।
करहिं गान कलकंठि लजाएँ।

कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं।
चालि बिलोकि काम गज लाजहिं।

—रामचरित मानस

ओज गुण—

(क) क्रुद्ध कृतांत समान कपि
तन स्रवत सोनित राजहीं।
मर्दहिं निसाचर कटक भट
बलवंत घन जिमि गाजहीं।
मारहिं चपेटन्हि डारि दांतन्ह
काटि लातन्ह मींजहीं।
चिक्करहिं मर्कट भालु छल
बल करहिं जेहिं खल छीजहीं।

—रामचरित मानस

(ख) डिगति उर्वि अति गुर्वि,
सर्ब पब्बै समुद्र सर।
ब्याल बधिर तेहि काल,
बिकल दिगपाल चराचर।
दिग्गयंद लरखरत,
परत दसकंठ मुक्खभर।
सुर विमान हिम भानु,
भानु संघटित परस्पर।
चौंके विरंचि संकर सहित,
कोल कमठ अहि कलमल्यौ।
ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि,
जबहिं राम सिवधनु दल्यौ।

—कवितावली

प्रसाद गुण तो तुलसी में सर्वत्र विद्यमान है।

५. शब्द-शक्ति

काव्य में शब्द अपनी शक्ति से ही तो जीवित रहता है। शब्द की तीन शक्तियाँ हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इन शक्तियों के प्रयोग पर ही काव्य अधम, मध्यम या उत्तम माना जाता है। उत्तम काव्य में व्यंजना का प्राधान्य होता है। गोस्वामीजी ने भी लक्षणा और व्यंजना का प्रचुर प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण देखिए—

(क) मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू।
तुम्हहिं उचित तप मो कहँ भोगू॥
तत्व प्रेमकर मम अरु तोरा।
जानत प्रिया एकु मन मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं।
जानु प्रीति रसु एतनेहिं माहीं॥
बहुरि गौरिकर ध्यान करेहू।
भूप किसोर देखि किन लेहू॥
पुनि आउब ऐहि बिरियाँ काली।
अस कहि मन बिहँसी एक आली॥

—रामचरित मानस

(ख) बिंध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी, तुलसी, सो कथा सुनि भे मुनिबृन्द सुखारे।
ह्वै हैं सिला सब चंद्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू करुना करि कानन जो पगु धारे।

—कवितावली

ी प्रकार कला के सभी उपकरणों से तुलसी की कविता अलंकृत हुई है।

केशवदास की रामचन्द्रिका

हिन्दी जगत में महाकवि केशव का स्थान ऊंचा एवं अक्षुण्ण है। वैसे आलोचकों ने उनके ऊपर स्तुति के श्वेत पुष्प भी बरसाए हैं और निन्दा के पाषाण भी। हिन्दी साहित्य में एक दोहा परम प्रसिद्ध है—

सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केसवदास।
अबके कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास॥

इस दोहे में सूरदास और तुलसीदास को सूर्य्य और चन्द्र बतलाया गया है तो केशवदास को उडुगन अर्थात् आकाश गंगा। अकेले केशवदास अन्य सभी तारागणों के समान हैं। यह बहुत बड़ा मान है केशवदास का। दूसरी ओर आचार्य केशव की कटु आलोचना भी कम नहीं हुई है। जनश्रुति है कि एक बार केशवदास के प्रेत ने गोस्वामी तुलसीदासजी को पकड़ लिया था। केशवदास मरने के बाद प्रेत बने थे, यह तो कौन जान सकता है किन्तु आज हिन्दी संसार उन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' झट से कह देता है। उनकी कविता की क्लिष्टता को प्रकट करने के लिए एक काव्योक्ति सुनाई जाती है "कवि को देन न चहै बिदाई। पूछै केशव की कविताई।" केशव के काव्य में दोषों की खोज की गई है और उदाहरण स्वरूप उनके छन्द रक्खे गए हैं। आचार्य प्रवर पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने उन्हें हृदयहीन कवि बताया है।

आलोचना का इतना ऊहापोह उनकी रामचन्द्रिका को ही लेकर हुआ है और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जब उन्हें हृदयहीन घोषित करते हैं तो उनका ध्यान भी रामचन्द्रिका पर ही टिका है। कवि प्रिया और रसिक प्रिया लक्षण ग्रंथ हैं। अतः वहाँ उनका आचार्यत्व प्रधान है। रामचन्द्रिका में केशवदास एक शुद्ध कवि के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। रामचन्द्रिका की प्रसिद्धि भी उनके ग्रंथों में सबसे अधिक है। रामचन्द्रिका का नाम लेते ही तुलसीदास के महान ग्रंथ रामचरित मानस का स्मरण हो आता है। फलतः रामचन्द्रिका का मूल्यांकन अपेक्षित हुआ है, और होना भी चाहिए, क्योंकि रामचरित मानस ने हिन्दी जगत को अभिभूत कर लिया है एवं जन-मन में उसका स्थायी स्थान बन गया है। रामचरित मानस की तुलना में ही रामचन्द्रिका के दोष प्रस्फुटित हुए हैं. वैसे रामचन्द्रिका का अपना निजी अस्तित्व भी है।

प्रत्येक ग्रंथ-रत्न के दो रूप होते हैं—एक अपना व्यक्तिगत और दूसरा सापेक्ष। पहिले रूप में हम उसके निजी गुण-दोष देखते हैं और दूसरे में हम उसका तुलनात्मक

अध्ययन करते हैं कि वह परिवार या समाज के अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध से कैसा है। किसी कवि या पुस्तक के भी ये ही दो रूप होते हैं। रामचन्द्रिका की भी परीक्षा हम इन दोनों रूपों में कर सकते हैं। पहिले रूप में उसकी-अपनी विशेषताएँ ढूँढी जा सकती हैं और दूसरे रूप में रामचरितमानस के सामने खड़ा करके उसे मापा जा सकता है। अपने निजी रूप में रामचन्द्रिका की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं जिन्होंने रामचन्द्रिका को महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाया है। वे हैं—

(१) संवाद।
(२) वर्णन।
(३) अलंकार।
(४) व्यंजना-प्रयोग।

(१) संवाद

आचार्य केशव की रामचन्द्रिका अपने उत्कृष्ट संवादों के लिए विश्रुत है। यह बात नहीं है कि सभी संवाद सुन्दर और उत्तम हैं। उनका सुमति-विमति संवाद अलंकार प्रदर्शन के लिए हुआ है। यह संवाद प्रसन्न राघव के प्रथम अंक से ग्रहण किया गया है। प्रसन्न राघव में मञ्जीरक और नूपुरक राजाओं का वर्णन करते हैं किन्तु वहाँ अलंकारों का प्रदर्शन नहीं है और संवाद बहुत संक्षिप्त है। इसी प्रकार कौसिल्या राम का संवाद, बाँध कर जकड़ा गया है। ऐसे कुछ दो चार संवादों को छोड़ कर रामचन्द्रिका के अधिकांश संवाद सरल, सरस, सुन्दर और गतिमय हैं। बीच-बीच में सुन्दर व्यंजना को बिठा दिया गया है जिससे संवादों में बड़ी काव्यात्मकता आ गई है। उक्ति चमत्कार को तो कहीं भी केशवदास ने हाथ से नहीं खोया है। इसका सुन्दर उदाहरण है—अंगद रावण संवाद। कुछ आलोचकों की दृष्टि में यह संवाद तुलसी के अंगद-रावण संवाद से बढ़कर है। रामचन्द्रिका के ऐसे ही सुन्दर, अन्य संवाद हैं—रावण-बाण संवाद, विश्वामित्र-जनक-राम-लक्ष्मण संवाद, सीता-हनुमान संवाद, लव-कुश-विभीषण-अंगद संवाद। रामचन्द्रिका के संवादों की उत्कृष्टता देख कर रामलीला खेलने वाले बीच-बीच में रामचन्द्रिका के संवादों का उपयोग करते हैं। संवादों में इतनी सफलता आचार्य केशव को इसलिए प्राप्त हो गई क्योंकि वे स्वयं अच्छे वाक्पटु व्यक्ति थे। एक बार क्रुद्ध होकर सम्राट् अकबर ने ओरछा युवराज महाराज इन्द्रजीतसिंह पर एक करोड़ रुपए का अर्थ दंड घोषित कर दिया। छोटी-सी रियासत इतने भारी अर्थ दंड को देने में असमर्थ थी। इस अर्थ दंड से मुक्ति प्राप्त हो, यह भार आचार्य केशव को सौंपा गया। केशवदास अपनी तामझाम में बैठकर आगरे में राजा बीरबल के पास गए। बीरबल के भवन पर पहुँच कर एक सेवक से महाकवि केशव ने कहा—महाराज बहादुर, ओरछे के कवि केशव भेंट करने आए हैं। राजा बीरबल ने कहला

दिया—उदर में भयंकर शूल है अतः भेंट नहीं कर सकूंगा। केशवदास ने उत्तर दिया—सेवक, कह दो, मैं शीघ्र ही अपयश की कुछ काव्यात्मक चूर्ण-पुड़िया भेजूंगा, उससे उदर शूल अवश्य शान्त हो जायगा। सुनकर राजा बीरबल दौड़े आए। ऐसे वाक्‌पटु मनुष्य से आशा यही थी कि वह सुन्दर संवाद लिखता।

अंगद रावण संवाद में केशवदास ने अपने राजसभा के अनुभव को खूब भरा है और राजनैतिक दाँव पेचों के पांसों को इधर-उधर फिकवाया है। यह ठीक है कि यह संवाद हनुमन्नाटक के अंगद-रावण संवाद को सामने रखकर लिखा गया है किन्तु बन गया है नितान्त मौलिक। अंगद राजसभा में पहुँचता है। रावण उससे पूछता है तो अंगद उसका उत्तर बड़ी निपुणता से देता है—

रावण—कौन हो, पठये सो कौने, ह्याँ तुम्हें कह काम है।
अंगद—जाति बानर, लंक नायक दूत, अंगद नाम है॥
रावण—कौन है वह बाँधि कै हम देह पूंछ सबै दही।
अंगद—लंक जारि संहारि अक्ष गयो सो बात बृथा कही॥ १६-४

रावण प्रथम चरण में तीन प्रश्न करता है। अंगद दूसरे चरण में उन तीनों का संक्षिप्त, तीखा और स्पष्ट उत्तर दे देता है। साथ ही अंगद 'लंकनायक दूत' कहकर अपनी राजनैतिक निपुणता भी उत्तर में भर देता है। हनुमन्नाटक में अंगद कहता है—मैं राम का दूत हूँ।[1] किन्तु आचार्य केशव उसे बदल देते हैं और कहलाते हैं "लंकनायक दूत"। इस उत्तर से रावण के साथ-साथ श्रोता या पाठक की उत्सुकता जग जाती है कि 'लंकनायक' कौन ?

लंक नायक को ? बिभीषण देव दूषण को दहै।
मोहि जीवित होहि क्यों ? जग तोहि जीवित को कहै ?
मोहि को जग मारि है ? दुरबुद्धि तेरिय जानिये।
कौन बात पठाइयो कहि बीर बेगि बखानिये॥ १६-७

पहिले छन्द के पहिले चरण में एक वक्ता का कथन था तो दूसरे चरण में दूसरे वक्ता का। यही बात तीसरे और चौथे चरण में है। पंक्ति या चरण के पहिले वक्ता का नाम दिया गया है। इस दूसरे छन्द में चरण के पूर्व वक्ता का नाम नहीं लिखा गया है। इतने पर भी पाठक या श्रोता शब्दों के पढ़ने ही समझ जाता है कि कौन बोल रहा है ? यह केशवदास की अपूर्व सफलता है। साथ ही कथनों में क्लिष्टता या दुरूहता नाममात्र को भी नहीं है। लंकनायक बिभीषण है, अंगद ने यह उत्तर राजनैतिक विचधारा के साथ दिया है। वह रावण को बता देता है—राम ने बिभीषण

---

१. 'अवेहि मां रावण रामदूतं'—हनुमन्नाटक ८–१५

को लंका का राजा मान लिया है। राजनीति में प्रायः देखा जाता है कि सम्राट् या शक्तिशाली राजा जिसे जो पद दे दे, वह स्वीकार कर लिया जाता है। अंगद कहता है कि राम ने विभीषण को राजा मान लिया है, अतः अब लंकनायक विभीषण है ? दूसरे, विभीषण के राम से मिल जाने पर तेरा राज्य संकट में पड़ गया है, अब तू जीवित न रहेगा। तीसरे, मुझे यहाँ राम ने नहीं, तेरे भाई विभीषण ने भेजा है। अब भी अवसर है चेत जा। भाई को भाई का ध्यान है। अतः मैं लंकनायक विभीषण का दूत बनकर यहाँ आया हूँ। चौथे, यदि कहीं अंगद कह देता कि मुझे राम ने भेजा है तो रावण कह सकता था—अरे वह राज्य से निकाल दिया गया है, वनवासी है। एक राजा दूसरे राजा का सम्मान किया करता है, राजदूत की बातें सुना करता है, वनवासियों के हरकारों की नहीं। इस उत्तर से रावण की बोलती बन्द हो गई। केशवदास इस प्रकार व्यंजना भरे शब्दों का प्रयोग करके काव्यत्व उपजा देते हैं। इसी प्रकार का संक्षिप्त, सरल, चुभता हुआ और व्यंजना से भरा अंगद-रावण का दूसरा संवाद-छन्द देखिए—

कौन के सुत ? बालि के, वह कौन बालि, न जानिये ?
काँख चाँपि तुम्हें जो सागर सात न्हात बखानिये ॥
है कहाँ वह ? वीर अंगद देवलोक बताइयो।
क्यों गये ? रघुनाथ बान विमान बैठि सिधाइयो ॥ १६-६

इन संवादों में केशवदास की शब्द योजना दर्शनीय है। थोड़े से शब्दों के पीछे बहुत कुछ छिपा हुआ है। "न जानिये" की वक्रोक्ति और "रघुनाथ बान विमान बैठि सिधाइयो" की व्यंजना कैसी सबल और मार्मिक है ! पूरा छन्द ही व्यंजना को समेटे हुए है। यह छन्द हनुमन्नाटक के छन्द को आधार बनाकर लिखा गया है।[1] किन्तु हनुमन्नाटक के छन्द में वह व्यंजना नहीं है जो आचार्य केशव ने उपजाई है। उसमें जब रावण पूछता है कि तेरा पिता कुशल से है ? तो अंगद कह देता है—राम के अप्रसन्न होने पर कुशल कहाँ ?

रावण देखता है कि वाक्पटु अंगद से बातों में जीतना सरल नहीं है। वह राजनैतिक दाव-पेचों को अपनाता है और भेद-नीति का सहारा लेकर अंगद से कहता है—अंगद, तू अपने पिता का अच्छा पुत्र है और प्रत्येक सपूत अपने पिता का बदला लेता है। यदि वह पिता के बैर का प्रतिकार नहीं करता है तो जगत उसकी निन्दा करता है।[2] यह तो तू जानता ही है कि तेरे पिता को किसने मारा है ? राम ही ने ना ? तो तू राम से पिता का बैर चुका। पर तू नम्रता से कैसे सहता है ? सुग्रीव इत्यादि सब

१. हनुमन्नाटक ८-१०।
२. रामचन्द्रिका १६-१३।

राम के साथ हैं और तू अकेला है। अतः तू मेरी सेना ले जा और सुग्रीव सहित राम को मार डाल[1]। अंगद को अब भी अडिग देखकर रावण राजनीति का एक और अचूक अस्त्र फेंकता है। वह अंगद से कहता है—तुझे लज्जा नहीं लगती। तू बार-बार राम के गुण गाता है। एक काम कर, तू मेरे पास रह जा। मैं राम लक्ष्मण को मार कर तुझे वानरों का राजा बना दूँगा।

उरसि अंगद लाज कछू गहौ। जनक घातक बात वृथा कहौ।
सहित लक्ष्मण रामहिं संहरौं। सकल वानरराज तुम्हें करौं॥ १६–१८

'उरसि अंगद लाज कछू गहौ' में वक्रोक्ति और व्यंजना दोनों भरी हैं। आचार्य केशव ने अपने संवादों में वक्रोक्ति का पल्ला कसकर पकड़ा है। फलतः वे हृदयस्पर्शी बन गये हैं। वक्रोक्ति के अन्य उदाहरण देखिए—

लव लक्ष्मण से—**न हौं मकराक्ष, न हौं इन्द्रजीत।** ३६–१७

पुनः विभीषण से—

आउ विभीषण तू रण दूषण। एक तुही कुल को निजभूषण। ३७–१६

अंगद की अन्य उक्तियों में कथन की वक्रता देखिए—

वहै बिसरयौ जिन खेलत ही तोहि बाँधि लियो। १६–११
वेई सु तौ जिनकी चिर चेरिन नाच नचाइ कै छाँड़ि दियो॥ १६–१४
राखि भुज सीस तब और कहूँ राखहु। १६–१६

(२) वर्णन

रामचन्द्रिका वर्णनों का सागर है। ऐसा प्रतीत होता है कि महाकवि ने अलङ्कार एवं छन्द के बाद संवादों और वर्णनों पर ही विशेष ध्यान दिया है, अन्य बातों पर नहीं। राम के राज्य तिलक के बाद तो रामचन्द्रिका के ५ प्रकाशों (२८ से ३२ वें प्रकाश तक) में तो बस वर्णन ही वर्णन भरे हैं। सम्पूर्ण रामचन्द्रिका पर दृष्टि दी जाय, तो भी वर्णनों का विस्तार दिखाई देगा। बहुत से वर्णन तो वर्णन मात्र हैं और उनमें कोई सार्थकता भास नहीं होती है जैसे— दर्शनी वर्णन (२९), संगीत वर्णन, नृत्य वर्णन, ५६ प्रकार का भोजन वर्णन (३०), सीता का नखशिख वर्णन (३१)। प्रत्येक कवि का अपना अनुभव क्षेत्र होता है। जब वह अपने इस क्षेत्र में प्रवेश करता है तो उसे बड़ी सफलता मिलती है। केशवदास जी भी कुछ वर्णनों में पूर्ण सफल हुए हैं। वे वर्णन हैं—(१) आतंक भय त्रास वर्णन (२) वृद्धावस्था वर्णन (३) प्रातः काल वर्णन।

---

१. रामचन्द्रिका १६–१५।

आचार्य केशवदास ने आतंक-भय और त्रास का वर्णन बड़ा ही सुन्दर और श्रेष्ठ किया है। विश्व विश्रुत कोपावतार क्षत्रिय-द्रोही परशुराम के आते ही दशरथ की सेना की क्या दशा हो गई, कवि इसका रोमांचकारी वर्णन देता है। बड़े-बड़े शूरवीर सिर पर पैर रख कर भागे। जब दूसरों ने देखा कि दृष्टि में पड़ने वाले हैं तो झट से कंचुकियों और झाड़ियों का आश्रय लिया। मनुष्य ही नहीं पशु भी त्रस्त हो खड़े के खड़े रह गए। इस अवस्था का सजीव चित्रण महाकवि ने इन शब्दों में किया है :—

मत्त दंति अमत्त ह्वै गये देखि-देखि न गज्जहीं।
ठौर-ठौर सुदेश केशव दुंदुभि नहीं बज्जहीं॥
डारि-डारि हथ्यार सूरज जीव लै लय भज्जहीं।
काटि के तन त्रान एकहि नारि भेषन सज्जहीं॥ ७-२

अंगद जब रावण की राजसभा में प्रवेश करते हैं तो प्रतिहार सूर्य, चन्द्र, कुबेर, ब्रह्मा, नारद इत्यादि देवताओं को डाटता और फटकारता है। प्रतिहार की आतंक से भरी यह वाणी नाटकीय स्थल पर रक्खी गई है। इसका उद्देश्य है कि अंगद भी भयभीत हो जाय। प्रतिहार जोर से डाटता हुआ कहता है—

पढ़ौ विरंचि मौन वेद, जीव ! सोर छंडि रे।
कुबेर बेर कै कही, न यक्ष भीर मंडि रे॥
दिनेश जाय दूरि बैठि नारदादि संगही।
न बोल चंद मंद बुद्धि इन्द्र की सभा नहीं॥ १६-२

यह छन्द हनुमन्नाटक के निम्नलिखित छन्द का छायानुवाद है—

ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयस्तूष्णीं बहिः स्थीयतां।
स्वल्पं जल्प बृहस्पते जडमते नैषा सभा वज्रिणः॥
स्तोत्रं संहर नारद स्तुतिकथालापैरलं तुम्बुरो।
सीतारल्लकभल्लभग्नहृदयः स्वस्थो न लंकेश्वरः॥ ८-४५

आचार्य केशव ने छन्द के प्रथम दो चरण हनुमन्नाटक के आधार पर लिखे हैं और अन्तिम दो चरण स्वतन्त्र हैं। नाटककार ने कुबेर की चर्चा नहीं की है क्योंकि आचार्य केशव ने उसे भी रावण की राज्य सभा में स्थान दिया है। इससे रावण की समृद्धि का पता चल जाता है। केशवदास सूर्य को आज्ञा दिलवाते हैं—अरे तू वहाँ बहुत दूर पीछे बैठ जहाँ नारद इत्यादि ऋषि मुनि बैठे हैं। चन्द्रमा को कहा जाता है—तू बड़ा मूर्ख है ! क्यों बड़बड़ा रहा है। समझले, यह इन्द्र की सभा नहीं है। "इन्द्र की सभा नहीं" में गहरी व्यंजना का पुट है।

इसी प्रकार जब कुम्भकर्ण युद्ध के लिए प्रस्थान करता है तो जगत एवं राम-सेना पर भय और त्रास का पर्दा पड़ जाता है। उनकी क्या दशा होती है कवि के शब्दों में पढ़िए—

कुंभकर्ण रावणै प्रदक्षिणा सु दै चल्यो।
हाय - हाय ह्वै रह्यो अकास आसु ही हल्यो॥
उड़े दिसा दिसा कपीस कोटि कोटि स्वांस ही।
चपें चपेट बाहु जानु जंघ सों जहीं तहीं।
लिये लपेट ऐंचि ऐंचि बीर बाहुबात ही।
भखे ते अन्तरिक्ष ऋक्ष लक्ष लक्ष जात ही॥ १८-२१

जब राम की सेना अश्वमेध का घोड़ा लिए जग विजय के लिए प्रस्थान करती है तो कैसा आतंक और त्रास फैलता है, इसका वर्णन देखिये—

नाद पूरि धूरि पूरि तूरि बन चूरि गिरि,
सोखि सोखि जल भूरि भूरि थल गाथ की।
केशोदास आस पास ठौर ठौर राखि जन,
तिनकी सम्पति सब आपने ही हाथ की।
उन्नत नवाय नत उन्नत बनाय भूप,
शत्रुन की जीविकाऽति मित्रन के साथ की।
मुद्रित समुद्र सात मुद्रा निज मुद्रित कै,
आई दिसि - दिसि जीति सेना रघुनाथ की॥ ३५-१०

आचार्य केशव ने वृद्धावस्था का चित्रण बड़ा ही स्वाभाविक, सुन्दर, सजीव और सम्पूर्ण किया है। वृद्धावस्था के ऐसे सजीव चित्र बहुत ही कम प्राप्त होते हैं। दो उदाहरण देखिये—

वृद्धा स्त्री अनुसूया का वर्णन—

सिर सेत विराजै कीरति राजै, जनु केशव तपबल की।
तनु वलित पलित जनु,सकल वासना,निकरि गई थल थल की।
कांपति शुभ ग्रीवा, सब अंग सींवा, देखत चित्त भुलाहीं।
जनु अपने मन प्रति, यह उपदेशति, या जग में कछु नाहीं॥ ११-५

वृद्धावस्था में आंगोपांगों की क्या दशा हो जाती है इसका यथातथ्य और हृदयस्पर्शी चित्र देखिए—

कँपै उर बानि डगै बर डीठि त्वचाऽति कुचै सकुचै मति बेली।
नवै नवग्रीव थकै गति केशव बालक ते सँग ही सँग खेली॥

निये सब आधिन ब्याधिन संग जरा जब आवै ज्वरा की सहेली।
भंग सब देह दशा, जिय साथ रहै दुरिदौरि दुराश अकेली ॥२४-११

रामचन्द्रिका में केशवदास ने प्रकृति वर्णन बड़े विस्तार से किया है। भक्तिकाल के दो ही कवि हैं जिन्होंने प्रकृति को इतना प्रमुख स्थान दिया है; वे हैं जायसी और केशव। जायसी का प्रकृति वर्णन उद्दीपनात्मक है तो केशव का अलंकृत। केशवदास ने प्रधानतया प्रकृति के आलम्बन रूप को अलङ्कारों से सजाया है। उद्दीपनात्मक प्रकृति वर्णन भी है। रामचन्द्रिका में आरम्भ से अन्त तक प्रकृति वर्णन प्रचुरता से व्याप्त है।[1] इस समूचे प्रकृति वर्णन में अनेक छन्द बड़े सुन्दर हैं, विशेपकर प्रातः काल सम्बन्धी।

अभी सूर्योदय नहीं हुआ है। ऊषा की लालिमा पूर्व दिशा में बिखर चुकी है। कवि इस लालिमा का वर्णन करता हुआ कहता है—

व्योम में मुनि देखिये अति लालश्री मुख साजहीं।
सिंधु में बड़बाग्नि की जनु ज्वाल माल विराजहीं ॥ ५-१२

अब सूर्य उदय हो गया है। वह भी लाल मुख है। धीरे-धीरे वह आकाश में ऊपर चढ़ता है। तारे छिप जाते हैं। लाल सूर्य को लालमुख बानर बनाते हुए कवि एक सुन्दर सांग रूपक देता है—

चढ़ो गगन तरु धाय, दिनकर बानर अरुन मुख।
कीन्हो झुकि झहराय, सकल तारका कुसुम बिन ॥ ५-१३

सूर्योदय के साथ जग-जीवन में स्पन्दन आ गया है। भौंरे उड़ने लगे हैं, दीप-ज्योति मलीन हो गई है, चकवे के पास चकवी पहुँच गई है—

अमल कमल तजि अमोल, मधुप लोल डोल डोल,
बैठत उड़ि उड़ि करि - कपोल दान - मानकारी।
मानहु मुनि ज्ञानवृद्ध, छोड़ि छोड़ि गृह समृद्ध,
सेवत गिरिगण प्रसिद्ध, सिद्ध - सिद्धि - धारी ॥

---

१. रामचन्द्रिका—बाग वर्णन (१-३० से ३५ तक एवं ३२-२ से लेकर २० तक; वन वर्णन (३-२; ८-३६, ३७, ४४; एवं ११-१६ से लेकर २२ तक); पंचवटी वर्णन (११-१७, १८, १९); गोदावरी वर्णन (११-२३ से लेकर २६ तक); पंपासर वर्णन (१२-४७ से लेकर ५० तक); पर्वत वर्णन (१३-७, ८), वर्षा वर्णन (१३-९ से लेकर २२ तक); शरद वर्णन (१३-२१ से लेकर २७ तक); समुद्र वर्णन (१४-४१, ४२); त्रिवेणी वर्णन (२०-२९ से लेकर ३३ तक); [illegible] वर्णन (२८-३५ से लेकर ४१ तक); चन्द्र वर्णन (३०-४१ से ४६ तक); बसंत वर्णन (३०-३२ से ४० तक); कृत्रिम पर्वत, सरिता और जलाशय वर्णन (३२-२१ से लेकर २६ तक) योग २१५ छन्द हुआ।

तरणी किरणी उदित भई, दीपज्योति मलिन गई,
सदय हृदय बोध उदय, ज्यों कुबुद्धि नासै ॥
चक्रवाक निकट गई चकई मन मुदित भई,
जैसे निज ज्योति पाय, जीव ज्योति भासै ॥ ३०-१९

(३) अलङ्कार

आचार्य केशव अलङ्कारवादी हैं यह तो उनकी स्वीकारोक्ति से स्पष्ट है। वे कहते हैं—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिन न विराजई कविता बनिता मित्त ॥

इस सिद्धान्त के उदाहरण स्वरूप ही रामचन्द्रिका लिखी प्रतीत होती है। अलंकारों में भी आचार्य केशव को विरोध मूलक अलंकार अधिक प्रिय हैं, यद्यपि उन्होंने साम्य मूलक अलंकारों का खुलकर बाजार सजाया है। सरल और क्लिष्ट श्लेष रामचन्द्रिका में मिल जायेंगे; उल्लेख के सरस उदाहरण पर्याप्त मिलेंगे, रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा की राशि खुली मिलेगी। इतने पर भी उनका स्वामित्व है परिसंख्या और विरोधाभास पर। जिस प्रकार सेनापति श्लेष के लिये; दीनदयाल गिरि अन्योक्ति के लिये, जायसी हेतूत्प्रेक्षा के लिये; तुलसी उपमा और सांग रूपक के लिये प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार केशव अपने परिसंख्या और विरोधाभास के प्रयोग के लिए ख्यात हो गए हैं। दोनों अलङ्कारों के उदाहरण देखिए—

परिसंख्या—

(क) मूलन ही की जहाँ अधोगति केशव गाइय।
होम हुताशन धूम नगर एकै मलिनाइय ॥
दुर्गति दुर्गन ही जु कुटिल गति सरितन ही में।
श्रीफल को अभिलाष प्रगट कविकुल के जी में ॥ १-४८
अति चंचल जहँ चलदलै विधवा बनी न नारि।
मन मोह्यो ऋषिराज को अद्भुत नगर निहारि ॥ १-४९

(ख) चित्र ही में आज वर्णसंकर विलोकियत,
ब्याह ही में नारिन के गारिन सों काज है।
ध्वजै कंपयोगी निशि चक्कै है वियोगी,
द्विजराज मित्र दोषी एक जलद समाज है ॥
मेघै तो गगन पर गाजत नगर घेरि,
अपयश डर यश ही को लोभ आज है।

दुःख ही को खंजन है, मंडन सकल जग,
चिरु - चिरु राज करो जाको ऐसो राज है ॥ २७-५

(ग) लूटि बे के नाते पाप पट्टने तो लूटियत,
तोरिबे को मोह तरु तोरि डारियतु है।
घालिबे के नाते गर्ब घालियतु देवन के,
जारिबे नाते अघ ओघ जारियतु है ॥
बाँधिबे के नाते ताल बाँधियत केशोदास,
मारिबे के नाते तो दरिद्र मारियतु है।
राजा रामचन्द्रजू के नाम जग जीतियतु,
हारिबे के नाते आन जन्म हारियतु है ॥ २८-१३

महाकवि केशव ने परिसंख्या का खुलकर प्रयोग किया है जो बड़ा सरस और सरल है। परिसंख्या का प्रयोग यत्र-तत्र बिखरा पड़ा है।[1]

विरोधाभास[2]—

विषमय यह गोदावरी अमृत के फल देति।
केशव जीवन हार को दुःख अशेष हरिलेत ॥ ११-२६

(४) व्यंजना

उत्तम काव्य में व्यंजना मिला करती है। आचार्य केशव ने भी व्यंजना को हाथ में संभाले रक्खा है, विशेषतया संवादों में। व्यंजना के कुछ उदाहरण संवाद के अन्तर्गत दिए जा चुके हैं। अन्य कुछ उदाहरण देखिये—

(क) राम की याचना ऋषि विश्वामित्र ने की। राजा दशरथ ने राम को विश्वामित्र के साथ, भरे हृदय और नेत्र से कर तो दिया किन्तु वे अत्यन्त व्यथित थे। कवि इसका वर्णन करता है—

राम चलत नृप के युग लोचन। वारिभरित भये वारिद रोचन ॥
पांयन परि ऋषि के सजि मौनहिं। केशव उठि गये भीतर भौनहिं ।२-२७

(ख) बाण—जाने को केशव केतिक बार मैं सेस के सीसन दीन्ह उसासी ।४-१२

(ग) रावण—का करि हौं हम यौंही बरैंगे।
बाण—हैहय राज करी सो करैंगे ।४-२२

---

१. रामचन्द्रिका—२०-३८, ३९ ४१। २७-३। २८-७, ८, ९, ११, १२, १५, १६, १७, १८। २९-१९, २०।

२. रामचन्द्रिका—१-३४, ३५, ३८। ११-२५, २६। २७-२, ४।

(घ) लव—अंगद जो तुम पै बल होतो। तौ वह सूरज को सुत को तो
देखत ही जननी जु तिहारी। वा संग सोवति ज्यौं नर-नारी ॥ ३८-९

यह हुआ रामचन्द्रिका का निजी मूल्यांकन। किन्तु जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं रामचरित मानस से निरपेक्ष इसका क्या, किसी भी हिन्दी के राम काव्य का समुचित रूप से मूल्यांकन हो ही नहीं सकता। रामचरित मानस को सामने रखकर रामचन्द्रिका की परीक्षा करने पर कुछ और ही मूल्य प्राप्त होता है। रामचरित मानस की कथा अत्यन्त पुष्ट एवं सुश्रृङ्खलित है। उसमें गति और प्रवाह है। इधर रामचन्द्रिका की कथा कभी लंगड़ाती, कभी कूदकर, कभी धीरे-धीरे, और कभी तीव्रता से आगे बढ़ती है। उसकी श्रृङ्खलाएँ दृढ़ता से जुड़ी नहीं हैं।

उदाहरण देखिये।

(क) राम विवाह का वर्णन बड़े विस्तार से हुआ है किन्तु राम वन गमन विश्रृङ्खलित है। राजा का राज्यतलिक देने का विचार, वशिष्ठ से परामर्श, तैयारियाँ, कैकेयी का सुनना, क्रोध करना, वर मांगना, राजा की दशा, राम का दशरथ के पास आना, आज्ञा मांग कर वन जाना—ये सब कार्य ५ छोटे छन्दों में हो गया है।

(ख) भरत ननिहाल में थे। उन्हें राजा दशरथ के मरण और वन गमन का समाचार कैसे मिला—इसका कोई पता रामचन्द्रिका से नहीं चलता। कवि रामसीता को चित्रकूट पर पहुँच कर आगे लिखता है।

आनि भरतथ पुरी अवलोकी। थावर जंगम जीव ससोकी॥ १०-१

इसी प्रकार भरत ने पिता दशरथ की दाह क्रिया की और बस राम से मिलने चल दिये। इसके बीच की श्रृंखला नदारद है।

क्रिया भरत कीनी। वियोग रस भीनी॥
तजी गति नवीनी। मुकुंद पद लीनी॥ १०-१२

पहिरे बकला सुजटा धरिकै। निज पायन पंथ चले अरि कै।
तरि गंग गये गुह संग लिये। चित्रकूट विलोकत छांड़ि दिये॥ १०-१३

इसी प्रकार चरित्र-चित्रण की ओर आचार्य केशव ने बहुत अधिक ध्यान नहीं रक्खा है। उन्हें बने बनाये पात्र वाल्मीकि से मिल गये थे। उन्हें उन्होंने उठा लिया और घटनाओं में उन पात्रों को जड़ दिया है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। रामचरित मानस के परशुराम, राम, लक्ष्मण संवाद में तीनों के तीन पुष्ट चरित्र प्राप्त होते हैं। लक्ष्मण उग्र और चिढ़ाने वाले स्वभाव के हैं राम हैं सौम्य एवं साधु प्रकृति के, उधर परशुराम नाक पर गुस्सा लिटाए और झट से चिढ़ जाने वाले क्रोधी ब्राह्मण। तीनों के तीन स्पष्ट चित्र सामने आ जाते हैं। रामचन्द्रिका के परशुराम, राम, लक्ष्मण, भरत,

राम-लक्ष्मण संवाद में परशुराम अवश्य क्रोधी है किन्तु अन्यों के स्पष्ट एवं सजीव चित्र सामने आकर नहीं खड़े होते । कैकेयी, भरत और कौशिल्या के चित्रों में उन्होंने रंग ही नहीं भरे हैं । रामचन्द्रिका में रामचरित मानस की न सरलता है न सुबोधता, न विचार प्रौढ़ता है न सरसता; न गति है न गरिमा । पग पग पर बदलते छन्द कथा की गति में तो बाधा देते ही हैं, सरसता को भी धक्का पहुँचाते हैं । रामचन्द्रिका की सबसे बड़ी त्रुटि है मार्मिकता की कमी ।

किसी प्रबन्ध काव्य में मार्मिकता कहाँ से आती है ? जीवन के हृदयस्पर्शी प्रसंगों के निर्वाचन और प्रयोग से । महाकवि केशव ने राम कथा का ढाँचा तो पा लिया था, बस उसे लेकर छन्दालंकार, वर्णन और संवाद से सजाने बैठ गये । उन्होंने राम कथा के मार्मिक स्थलों की न खोज की, न उनकी आवश्यकता ही समझी । परिणाम हुआ है कि उन्हें हृदयहीन कवि कह दिया गया । यह दोषारोपण असत्य नहीं है । कुछ उदाहरणों से सिद्ध हो जायगा कि उनमें मार्मिक स्थलों के निर्वाचन की शक्ति न थी । रामकथा का सबसे मार्मिक स्थल है राम का वन गमन प्रसंग । आचार्य केशव का हृदय इस प्रसंग की मार्मिकता को नहीं पकड़ पाया है । तुलसी की मंथरा यदि रामचन्द्रिका में नहीं है तो कोई विशेष बात नहीं । किन्तु कैकेयी प्रसंग भी अत्यन्त नीरस और इतना सूक्ष्म है कि बेगार रूप में लिखा प्रतीत होता है । ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य केशव का हृदय उस समय उनके पास नहीं था और वे जल्दी जल्दी लेखनी की स्याही पिला कर दौड़ा रहे थे कि किसी भांति यह प्रसंग समाप्त हो । प्रसंग को कवि ने इतने भद्दे और रूखे रूप में रंगा है कि पढ़ कर क्षोभ होता है ।

राजा दशरथ ने एक दिन वशिष्ठ को बुला कर कहा ।

दिन एक कहो शुभ सोभ रयो । हम चहत रामहिं राज दयो ॥ ६-२

यह गुप्त मंत्रणा है । केवल राजा दशरथ और वशिष्ठ ही इस बात को जानते हैं । राजा ने केवल शुभ दिन पूछा है । वशिष्ठ ने कोई उत्तर नहीं दिया है । न उन्होंने कहा कि राम को राज्य दे दो और न कोई शुभ दिन ही स्थिर किया है । जनता में इसकी कोई चर्चा ही नहीं है क्योंकि किसी प्रकार की कोई तैयारी हो ही नहीं रही है । कवि तुरन्त इसके बाद कहता है—

यह बात भरत्थ की मातु सुनी । पठऊँ बन रामहिं बुद्धि गुनी ।

प्रश्न है, भरत की माता ने कौन सी बात सुनी ? जब राज्य तिलक की कोई तैयारी नहीं है तो राज्य तिलक दिया जा रहा है, यह तो सुना नहीं होगा । अनुमान होता है, उसने यही सुना होगा कि राजा दशरथ ने वशिष्ठ से शुभ दिन पूछा है । यह बात राजा और वशिष्ठ के बीच हुई थी । कोई तीसरा व्यक्ति जानता ही न था । फिर किसने यह बात कही ? अवश्य ही वशिष्ठ ने जा कर कैकेयी से कह दिया होगा कि

राजा ने मुझ से राम के राजतिलक के लिए शुभ दिन पूछा है। तब तो वशिष्ठ कैकेयी के षडयंत्र में सम्मिलित थे, इससे स्पष्ट होता है। यह भी स्पष्ट होता है कि कैकेयी की राम से घोर शत्रुता थी। तभी तो वह यह सुन कर क्रुद्ध हो गई कि राम के राज्यतिलक का शुभ दिन पूछा गया है। प्रश्न है, राम से यह शत्रुता क्यों थी? एक ही उत्तर हो सकता है कि राम उपद्रवी लड़के थे और उनसे कैकेयी अप्रसन्न थी और वह अपने लड़के को राज्य दिलाना चाहती थी। इस प्रकार वह स्वयं ही दुष्टा थी। वह राजा के पास जाती है और पुराने दो वरों से भरत को राज्य एवं राम को चौदह वर्ष वनवास मांग लेती है। राजा की क्या दशा हुई—

यह बात लगी उर वज्र तूल। हिय फाट्यो ज्यों जीरन दुकूल।।

राजा दशरथ का हृदय फट गया। वे मरणासन्न हो गये। राम ने जब पिता की मरणासन्न अवस्था सुनी तो उन्होंने क्या किया? क्या वे पिता के साथ वास्तविक बात जानने और उनसे सहानुभूति प्रकट करने आये? नहीं, वे तुरन्त वन को चल दिये, मानो वे पहिले से ही तैयारी किए बैठे थे और एक क्षण की सूचना पाकर वन मार्ग पर अग्रसर हो गये।

उठि चले विपन कहँ सुनत राम। तजि तात मातु तिय बंधु धाम। ९-५

यह भी स्पष्ट होता है कि राम, राजा के व्यवहार से असंतुष्ट थे। तभी तो राजा के पास न आकर वन की ओर दौड़ चले। राम को परिवार, धन, धाम, सब बुरा लग रहा था। अतः उन्होंने इधर उधर से कुछ ऊटपटांग बात सुनी और वन की ओर मुख कर लिया। राम माता कौसिल्या के पास जाते हैं। माता से सुनी सुनाई बात पर विश्वास कर कहते है कि मैं बन को जा रहा हूँ। मां कौसिल्या तुरन्त भरत, कैकेयी और राजा दशरथ को गाली देती हुई राम को बन जाने से रोकती है और कहती है:—

रहौ चुप ह्वै सुत क्यों बन जाहु। न देखि सकैं तिनके उर दाहु।।
लगी अब बाप तुम्हारेहिं बाय। करैं उलटी विधि क्यों कहि जाय।। ९-८

राम को यह बात अच्छी न लगी। वे पुत्र का धर्म बखानते हुये पिता को अधिक मान्यता प्रदान करते हैं। सबसे मजेदार बात है कि वे माता के सामने पतिव्रत-धर्म पर एक विस्तृत व्याख्यान झाड़ देते हैं। खैर, यहाँ तक सहन तो किया जा सकता है। किन्तु तुरन्त ही वे विधवाओं को क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, इस पर भी एक भाषण दे डालते हैं। इसका सीधा सा अर्थ है कि राम सोच रहे हैं माता को विधवा तो होना ही है, चलो, विधवाओं के कर्तव्य बता दूँ। कहीं ऐसा न हो कि मां कौसिल्या, विधवाओं के मार्गों को छोड़ बैठें। वे कहते हैं विधवा होने पर मां! तू माला मत, गर्म भोजन मत करना, शीतल जल मत पीना, न तेल का प्रयोग करना और न खेलों में भाग लेना, खाट पर मत सोना, शीतल जल से कभी स्नान न करना, न सीधा

खाना और न पैरों में पनहीं पहिनना। कितना बेसुरा राग है यह। करुण प्रसंग का ध्यान ही उन्हें नहीं रहा। तुलसी के इसी प्रसंग को देखने से रामचन्द्रिका का वर्णन अत्यन्त कुरूप दिखलाई पड़ता है।

(२) दो, राजकुमार मृगछाला पहिने नंगे पैर वन की कंटकाकीर्ण भूमि पर विचर रहे हैं। उनके साथ एक अनिन्द्य सुन्दरी है जो अत्यन्त सुकुमारी है। उनके वन गमन की कथा नगर-नगर, वन-वन में व्याप्त हो जाती है। जहाँ-जहाँ वे जाते हैं मार्ग में पड़ने वाले नर-नारी उत्सुकता से उनके पास आते हैं और उनकी सहायता करना चाहते हैं। स्वभावतः नारियों का हृदय अधिक द्रवणशील होता है। अतः वे सीता से कुछ पूछती हैं। तुलसी ने इस प्रसंग को हृदय की पूरी भावुकता से ऐसा संजोया है कि सुनकर या पढ़कर मन मुग्ध हो जाता है। रामचन्द्रिका में भी इस प्रसंग का वर्णन है। मार्ग के नर-नारी राम से पूछते हैं—तुम कौन हो ?

> कौन हो कितते चले कित जात हो केहि काम जू।
> कौन की दुहिता बहू कहि कौन की यह बाम जू॥
> एक गाँव रहौ कि साजन मित्र बंधु बखानिये।
> देश के परदेश के किधौं पंथ की पहिचानिये॥ ९-३३

सहसा राम के सामने प्रश्नों का ढेर लगा देते हैं। राम बेचारे विमूढ़ से बन कर इधर-उधर देखते हैं। तभी पुनः गोला-बारी हो जाती है और वे नारी-नर पूछते हैं—

> **किधौं यह राज पुत्री बरही बरी है किधौं,**
> **उपदि बर्‌यो है यह सोभा अभिरत हौ।**
> **किधौं रति रतिनाथ जस साथ केशोदास,**
> **जात तपोबन सिव बैर सुमिरत हौ॥**
> **किधौं मुनि शाप हत, किधौं ब्रह्म दोष रत,**
> **किधौं सिद्धयुत सिद्ध परम बिरत हौ।**
> **किधौं कोऊ ठग हौ ठगौरी लीन्हें किधौं तुम,**
> **हर हरि श्री हौ सिवा चाहत फिरत हौ॥ ९-३४**

वे पूछते हैं कि इस राजपुत्री ने तुम्हें स्वयं वरा है या तुम इसे बलपूर्वक उठा लाए हो। फिर कवि उपमानों की राशि लगा देता है। बस, लोगों ने पूछ लिया और राम ने कोई उत्तर नहीं दिया। हो गया, मार्ग प्रसंग। आगे स्त्रियाँ सीता मुख की प्रशंसा आरम्भ करती हैं, (९-४०, ४१, ४२)।

(३) अन्य अनेक प्रसंगों पर आचार्य केशव ने यही किया है। राम रावण युद्ध प्रसंग का एक वर्णन देखिए। रावण अपने रनिवास में यज्ञ कर रहा था। अंगद, सुग्रीव, हनुमान इत्यादि ने यज्ञ का विध्वंस किया और उत्पात मचाया। मंदोदरी

चित्रशाला में जा छिपी। अंगद ने मन्दोदरी के बाल पकड़े और उसे चित्रशाला से घसीट कर बाहर निकाला। मन्दोदरी की क्या दशा हुई—

छुटी कण्ठमाला लुरें हार टूटे। खसें फूल फैलें लसें केश छूटे॥
फटी कंचुकी किंकिनी चारु छूटी। पुरी काम कीसी मनो रूप लूटी॥ १४-३०

यहाँ तक तो कुछ अनुचित न हुआ। प्रायः कवियों के शत्रु स्त्रियों की दुर्दशा का वर्णन किया है। भूषण ने तो इस दिशा में कोई कसर नहीं छोड़ी है। वाल्मीकि रामायण में भी राक्षस स्त्रियों की ऐसी दुर्दशा चित्रित है। किन्तु महाकवि केशव ने एक डग और आगे बढ़ाया और अपनी शृङ्गारिक प्रवृत्ति का प्रसंग पाकर मन्दोदरी के कँचुकी रहित उरोजों का वर्णन करने फुरसत से बैठ गये। यही है केशवदास की हृदय हीनता। मानलिया कि वह राक्षसी है किन्तु है तो स्त्री। उसकी दुर्दशा तक ही वे सीमित नहीं रहे वरन् उरोजों के चित्रण में डूब गए। इसीलिए रामचन्द्रिका के दोष गिनाए गए हैं। निश्चय ही रामचरित मानस के सामने रामचन्द्रिका सिर थाम कर बैठ जाती है।

सतसईकार बिहारी और मतिराम

बहुत अधिक समय नहीं हुआ कि देव और बिहारी में कौन श्रेष्ठ है, इस विषय पर बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ था। पक्ष और विपक्ष में पुस्तकें लिखी गईं। एक ने कहा, कहाँ बिहारी और कहाँ देव ?[1] तो दूसरे ने कहा, देव देव हैं, बिहारी वहाँ कैसे पहुँच सकता है ?[2] तथ्य यह है कि यह विवाद लहरों का गिनना मात्र था, क्योंकि देव और बिहारी में साम्य तो बहुत ही कम है, विषमता ही अधिक है। कहाँ बिहारी का लघु-काय दोहा और कहाँ देव का भीम-काय कवित्त; कहाँ बिहारी का ऊहात्मक चमत्कार और कहाँ देव का भाव-गाम्भीर्य; कहाँ बिहारी की स्वतन्त्र प्रकृति और कहाँ देव का आचार्यत्व से बँधा गुरु स्वभाव ? देव अपने क्षेत्र के अधिपति हैं तो बिहारी अपने प्रान्त के सम्राट्। इसे कौन नहीं मानेगा कि शृंगारिक दोहों के लिखने में बिहारी का स्थान अद्वितीय और अनुपम है। हाँ यदि कोई इस क्षेत्र में खम ठोक कर सामने आता है तो वह है "मतिराम"। मतिराम पुकार कर घोषित करता है मेरी भी परीक्षा कीजिए, मेरे दोहों को भी देखिए, इनकी सरलता एवं स्वाभाविकता से भरा रूप सौष्ठव निहारिए। बिहारी और मतिराम में अनेक विस्मयकर साम्य हैं। दोनों महाकवि समकालीन थे। बिहारी की सतसई का निर्माण १७०४ के लगभग हुआ। बिहारी सतसई के अन्तिम दोहों[3] में बलख की लड़ाई का वर्णन है जो १७०४ में लड़ी गयी थी।[4] मतिराम सतसई का रचना काल १७१६ वि० है।[5] इस प्रकार इसका निर्माण १५ वर्ष बाद हुआ। किन्तु दोनों सतसइयों में आश्चर्यकर समानताएँ दिखाई पड़ती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि बिहारी की प्रसिद्धि ने मतिराम को प्रभावित किया था।

दोनों महाकवियों का छन्द दोहा है। दोहों के अलंकरण पर भी दोनों ने बड़ा ध्यान दिया है। हाँ, मूल भूत अन्तर है, दोनों की स्थापना में, दोनों के कौशल में। बिहारी ने वक्रता और चमत्कार पर ध्यान रखा है, मतिराम ने उसी बात को स्वाभाविक एवं सरल ढंग से कह दिया है। हाँ, कल्पना को दोनों ही ने सजाया है। दोनों महा-कवियों में निम्नलिखित क्षेत्रों में साम्य दिखलाई पड़ता है —

---

१. बिहारी और देव—ले० भगवान दीन
२. देव और बिहारी—ले० कृष्ण बिहारी मिश्र
३. बिहारी रत्नाकर, [illegible] एवं [illegible] का ७११ वाँ दोहा।
४. मतिराम [illegible] (सं० [illegible] भूमिका पृ० २५)
५. [illegible]

विषय, भाव, उपमान और पद।

विषय—दोनों ने सतसइयों में शृंगार का पल्ला पकड़ा है, बीच-बीच में भक्ति और नीति का पुट भी दिया है। शृंगार के अनेक पक्षों का उद्घाटन दोनों ने विविध रूपों में किया है। नायिकाओं का नख-शिख दोनों ने चित्रित किया है। बिना काजर की अँखियों पर दोनों ने नेत्र फेंके हैं। हाँ, उन नेत्रों में दोनों ने अपना व्यक्तित्व भरा ही है। विहारी ने माधुर्य एवं शब्द लालित्य का सहारा लिया है।[1] मतिराम ने नायिका की स्वाभाविक भूल की दाद दी है।[2] नायिका के वस्त्राभूषणों को दोनों ने बारीकी से निहारा है। नायक-नायिकाओं की क्रीड़ाओं (चोर मिहींचनी इत्यादि) को भी दोनों ने समेटा है। विहारी ने तो नायिकाओं की मुद्राओं को भी काव्य में उतार दिया है। विहारी की गंवारिनी और मतिराम की गंवारिनी में काव्य-कौशल का अन्तर है, नहीं तो दोनों ने नागरी-नायिकाओं की प्रति-स्पर्द्धा में उसे ला खड़ा किया है। विहारी की गंवारिन हूठ्यो दे कर इठलाती है और नयन-मार करती है[3] तो मतिराम की नायिका नयन धनुहिया से तीर फेंकती है।[4]

भाव—दोनों महाकवियों में भाव साम्य भी बहुतायत से है। यह भाव-साम्य दो क्षेत्रों में दिखलाई पड़ता है—(१) भक्ति क्षेत्र और (२) शृंगार-क्षेत्र।

भक्ति क्षेत्र—दोनों सतसइयों के मंगलाचरण में एक सी भक्ति भावना मिलती है। दोनों कवियों ने श्री राधिका जी से प्रार्थना की है। दोनों ने स्पष्ट किया है कि राधा जी की प्रार्थना हम इसलिये करते हैं कि राधा जी भगवान कृष्ण से बढ़ कर हैं। दोनों के कृष्ण, राधा को देख कर फूल उठते हैं। अन्तर है दोनों की अपनी शैली का। विहारी भव बाधा दूर कराते हैं तो मतिराम मन का अज्ञान। विहारी ने श्लेष के बल पर दोहे में अनेक अर्थ भर दिये हैं। प्रचलित अर्थों के अतिरिक्त वैद्यक और रतिपरक अर्थ भी लगाये गये हैं। श्लेष के अतिरिक्त सात-आठ अन्य अलंकार भी सामने रखे हैं। अलंकार चमत्कार के अतिरिक्त उक्ति का चमत्कार भी छिपा बैठा है।

(१) कबीर इत्यादि सन्तों ने नारी को भव की सबसे बड़ी बाधा माना है। विहारी उससे भव बाधा दूर कराते हैं। स्वयं आगे विहारी ने भी उसे बाधा

---

१. रस सिंगार मंजन किए, कंजन भंजन दैन
अंजन रंजन हू बिना, खंजन गंजन नैन (वि०)

२. सखी सलोनी देह में, सजे सिंगार अनेक
कजरारी अँखियान में, भूल्यो काजर एक (म०)

३. गदराने तन गोरटी, ऐपन आड़ लिलार
हूठ्यो दै इठलात दृग, करै गँवारि सुमारि। बि० दो० ५८८॥

४. नागरि नैन कमान सर सरस न कहूँ और।
जैसो सरस गंवारि के दृग धनुहा के तीर॥ म० स० ५॥

कृपा है, जिससे जीव ईश्वर के निकट नहीं जा पाता।[1]

(२) राधा बड़ी चतुरा हैं। वे किसी प्रकार भव-बाधा दूर कर ही देंगी। कृष्ण भगवान् भी तो उनके वश में हैं। उनसे ही दूर करा देंगी।

(३) बिहारी वैद्यक-ग्रंथों का निरूपण और कामोपचार जानते थे। यह भी इस दोहे से ज्ञात होता है।

(४) गाँव की भोली-भाली ग्रामीण राधा को नगर वासिनी नागरी बना कर उससे भव-बाधा दूर करवाई है। औषधोपचार की सुविधा नगर ही में तो मिलती है। नागरिक बिहारी के लिए यह स्वाभाविक भी था।

(५) "हरित" दुति के अर्थ-चमत्कार सर्व विदित हैं।[2] मतिराम ने अपने मंगला-चरण वाले दोहे में राधिका जी से मन के अन्धकार दूर करने के लिए प्रार्थना की है।[3] अन्धकार को सूर्य और चन्द्र दोनों हरते हैं। किन्तु महाकवि मतिराम हृदय के तम-तोम को राधा के मुख चन्द्र से दूर कराने की कामना करते हैं। चन्द्रमा, शीतलता, सुधा और आनन्द देता है। राधिका का मुख चन्द्रमा ही हो सकता है, सूर्य नहीं। वह मुख पूर्ण चन्द्रमा है जिसे देख कृष्ण का आनन्द सागर बढ़ जाता है। अलंकार और माधुर्य गुण तो दोहे में हैं ही, सबसे बड़ी बात है सरलता और स्वाभाविकता। केवल भक्ति परक अर्थ लगता है। कवि उस राधा से अपने मन के अन्धकार को दूर कराना चाहता है जो कृष्ण को भी आनन्द देती है। उधर बिहारी की राधा, कृष्ण का रंग बदल देती है, चमक छीन लेती है, हराभरा बना देती है और श्यामलता हर लेती है। ये सब गुण राधा में क्या, राधा की छाया में हैं। इस प्रकार दोनों सतसइयों के मंगलाचरण दोहे एक से होते हुए भी अपनी विशेषताएँ साथ लपेटे हैं।

दोनों कवियों ने गोपाल को अपने हृदय में बैठने के लिये निमन्त्रित किया है। दोनों ने कृष्ण को एक सा गोप वेश दिया है और फिर कृष्ण से इस वेष के साथ हृदय में ही सदा रहने की प्रार्थना की है।[4] दोनों ने सिर के मुकुट और उर की माला का

१. या भव पारावार को उलंघि पार को जाय।
तिय छवि छाया ग्राहिनी गहै बीच ही आय।

२. मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोय
जा तन की झाँई परैं स्यामु हरित दुति होय॥ बि० बो० १॥

३. मो मन तम तोमहि हरौ राधा को मुख चन्द।
बढ़ै जाहि लखि सिन्धु लौं नंद-नंदन आनंद॥ म० स० १॥

४. मोर मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
इहि बानक मो मन बसौ सदा बिहारीलाल (बिहारी)
[illegible]
[illegible] (मति०)

वर्णन किया है। दोनों दोहों में भक्ति से अधिक श्रृङ्गार प्रधान हो गया है। दोनों में उक्ति चमत्कार है। मतिराम कहते हैं कि उर पर गुंजमाल और सिर पर मोर-मुकुट पहने हुए, ए कुञ्जों में विहार करने वाले कृष्ण! विहारीपने की आदत छोड़कर मेरे ही मन रूपी कुंजों में विहार करिये! आप कुंज विहारी हैं, मेरा मन भी एक कुंज है। कुंज के समान अंधकार और एकान्त यहाँ भी है। अतः मेरे मन में वास कीजिये। कवि, भक्त अथवा नायिका की उक्ति कही जा सकती है। मतिराम ने गोप वेश के दो ही चिन्ह प्रकट किये हैं—'मंजु-गुंज के हार उर' और 'मुकुट मोर पर पुंज'। उधर बिहारी ने गोप वेश के चार प्रतीक रक्खे हैं—मोर-मुकुट, कटि-काछनी, कर-मुरली, उर-माल। बिहारी में आकार की पूर्णता आ जाती है। 'विहारीलाल' शब्द बड़ा चमत्कार पूर्ण है। बिहारीलाल कवि का नाम है! कवि कहता है, गोप वेश से मेरे मन में बसिए। श्रृङ्गार परक अर्थ बड़ा सरस और व्यंग्य है। नायिका कहती है, ऐ लाल! लाल का अर्थ चमत्कार से भरा है। लाल का एक अर्थ है प्रिय। दूसरा, लाल की भाँति अमूल्य, और तीसरा, अनुराग से भरे। सो ऐ लाल! तुम विहारी हो; विहार करने वाले हो। एक स्थान पर कभी रहते नहीं हो, बस इधर-उधर क्रीड़ा करते फिरते हो। सो अपना यह विहारीपना अब छोड़ दो, नहीं तो बदनाम हो जाओगे। यह आदत सज्जन और बड़ों के लिये शोभनीय नहीं है। अब एक स्थान पर स्थिर होकर बैठो। अच्छा, एक स्थान पर रहकर अपनी आदत से मजबूर होकर क्रीड़ा करना—बिहार करना, ही चाहते हो तो मेरे मन में सदा के लिये बैठकर विहार करो। तुम्हारे लिये यह स्थान सर्वथा उपयुक्त है। कोई दूसरा न देख पायेगा, तुम्हें सुख मिलेगा, निन्दा भी न होगी। "सदा" शब्द भी चमत्कार पूर्ण है। नायिका कहती है—इस स्थान को कभी छोड़ना मत। दोहा उक्ति-चमत्कार का अच्छा उदाहरण है। उधर मतिराम में थोड़ी सी रूपक की शोभा है, और है बड़ी सरलता। दोनों के दोहों का भक्ति परक अर्थ भी हो सकता है।

श्रृंगार क्षेत्र—श्रृङ्गार के क्षेत्र में तो विहारी और मतिराम का व्यक्तित्व और अधिक स्पष्ट है, यद्यपि साम्य भी मिलता है।

परकीया नायिका, नायक के यहाँ कुछ लेने आती है और नायक के हृदय की स्थिति बदल जाती है। इस भाव को दोनों महाकवियों ने अपने-अपने ढङ्ग से प्रकट किया है। साधारणतया समझा जाता है कि प्रेम बहने वाला पदार्थ है। प्रेम से हृदय तरल हो जाता है। वह लहरों की नाईं चंचल एवं तरंगित बन जाता है। किन्तु बिहारीलाल ने प्रेम को दही के समान जमना दिया है। नायक के हृदय में "नेह" जम जाता है।[1] जावन (दही) से दूध जमता है किन्तु यहाँ तो 'तेल' या घी (नेह)

1. फेरु कछुक कर पौरितैं, फिरि चितई मुसुकाय।
आई जावनु लैन तिय, नेहैं चली जमाइ॥ वि० दो० १८२।

सो उससे जम गया है। यह चमत्कार नहीं तो क्या है? इसके अतिरिक्त नायिका की हाव भाव भी बड़ी सुन्दर हैं। नायिका जावकु लेकर चल दी। उसने आगे बढ़कर कुछ बहाना किया— "और मेरी कटोरी कहाँ गई? देह! मेरा आँचल कहाँ अटक गया; अरी! कल लेके घर भी आना।" द्वार से आगे बढ़कर उसने मुस्करा कर नायक की ओर देखा। बस नायक बेचारे दिल थाम के बैठा, नेह जम गया। नायिका को जमाने का काम अपने घर में करना था, परन्तु वही काम उसने कर दिया नायक के घर में।

मतिराम का दोहा भी कुछ इसी प्रकार का है।[1] इसमें नायिका प्रेम प्रकट करने के लिए नैन जोड़ती है, कुछ मुख मोड़ती है और हँसती है। अतः अनुभाव मुद्राएँ मानी जाएँगी। नायिका आग लेने नायक के घर आयी थी, उसके हृदय में आग लगा गयी। कुछ थोड़ा चमत्कार अवश्य है परन्तु बिहारी जैसा नहीं। आग लेने आई थी, लगाने नहीं। पर वह तो आग लगा गयी, वह भी नायक के हृदय में। स्वाभाविकता भी है, प्रेम में "आग लगना या लगाना" प्रसिद्ध है और कवि परम्परा बन गई है। मतिराम ने नायिका की कई मुद्राओं का सुन्दर और स्वाभाविक चित्रण किया है। पहिले नायक की ओर देखा, फिर कुछ लजाकर मुख मोड़ा, पुनः हँसी और थोड़ा सा प्रेम प्रकट कर दिया।

प्रेम जगत में नेत्रों का बड़ा महत्व है। नेत्र ही तो वे माध्यम हैं जो दिल पर नेह का बिरवा जमा देते हैं, ये नेत्र, रूप को देखते हैं, पर इनकी प्यास नहीं बुझती, अधिकाधिक देखने, निहारने और जोहने की इच्छा होती है। इस एक भाव को दोनों महाकवियों ने अपने-अपने दोहों में भरा है। बिहारीलाल कहते हैं[2] कि रूप की प्यास देखने से नहीं बुझती। इस दोहे के तीन प्रसंग हैं अतः अर्थ भी तीन हो जाते हैं। (१) भक्त या कवि सगुण रूप का उपासक है अतः कहता है—हे भगवान्! तुम्हारा सगुण रूप बड़ा सुन्दर (सलोना) है। ज्यों-ज्यों इस रूप को पीता हूँ और अधिक प्यास बढ़ती है। (२) नायक नायिका से कहता है—तेरा रूप बड़ा सलोना है (सुन्दर है)। वह रूप, गुणों से भरा है। उसे जैसे-जैसे नेत्रों से पीता हूँ; प्यास बढ़ती ही जाती है। नायक, नायिका की सखी या दूती से भी उक्त कथन कर सकता है। (३) गोपिका कृष्ण से कहती है—तुम्हारा सगुण रूप तो है ही, यह बड़ा सुन्दर (सलोना) भी है। जैसे-जैसे मैं इसे नेत्रों से पीती हूँ, प्यास बढ़ती जाती है। गोपी का तात्पर्य है कि हम तो तुम्हारे सगुण रूप को ही चाहती हैं। सलोना शब्द

१. नैन जोरि मोरि हँसि नैसुक नेह जनाइ।
आगि लैन आई हिये गई धरे अगिलाइ (मतिराम)

२. ज्यौं-ज्यौं पावति रूप त्यौं-त्यौं पियत अघाइ
सगुन सलोने रूप की जु न चख तृषा बुझाइ (वि० र० ४१७)

बड़ा अर्थ पूर्ण है—स+लोने का अर्थ है लावण्य मय एवं नमक मय। नमक से अधिकाधिक प्यास लगती है। इसी प्रकार रूप देखने से प्यास बढ़ती है। मतिराम भी इसी भाव को व्यक्त करता है किन्तु बड़े सरल एवं स्वाभाविक ढङ्ग से[1]। सीधा प्रसंग है और सीधा अर्थ। सखी नायिका से कहती है, पिय के नैन तेरी कोमल मुसक्यान पीते रहते हैं, बराबर देखते रहते हैं। बड़ा आश्चर्य है, हे चन्द्रमुखी, उसके नेत्रों की प्यास कम नहीं होती। चन्द्रमा बार-बार देखा जाता है। अतः चन्द्रमुखी भी बार-बार देखी जाती है। चन्द्रमा का आकर्षण नायिका के मुख में है।

दोनों महाकवियों ने विरहाग्नि से भरी नायिका की दयनीय दशा का चित्रण किया है। नेत्रों का अनवरत प्रवाह भी विरह आग को शान्त नहीं कर रहा है, यही वर्णन दोनों के दोहों में हुआ है। तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी का ध्यान चमत्कार के मोह में फँसा है तो मतिराम वैज्ञानिक स्वाभाविकता का आश्रय लेता है। बिहारी कहता है[2] हे लाल तूने मेरी सखी को सबसे अद्वितीय वियोग अग्नि दी है, जो असीम है और समाप्त होने पर नहीं आती है। भयङ्कर से भयङ्कर आग वर्षा के जल से बुझ जाती है किन्तु यह आग नहीं बुझती है। पानी बरसता है तो यह आग और सरसती (फैलती) है—मानों घी पड़ रहा है। एवं उस आग की लपटें (झारि) पानी की झड़ी (झर) से भी नहीं मिटती हैं। कैसा आश्चर्य है! उधर इसी भाव का चित्रण मतिराम में देखिए[3] —महाकवि मतिराम ने नेत्रों से नदी नहीं बहवाई, वरन् समुद्र प्रवाहित कराया है। एक वैज्ञानिक तथ्य है कि सागर के पेट में बड़वाग्नि जीवित है। वियोग की आग वही आग है। नयनों का सागर वियोग की बड़वाग्नि को नहीं बुझा पाता है। चमत्कार लाते हुए भी स्वाभाविकता की रक्षा हुई है। नेत्रों से बढ़ा हुआ सागर अपार है। उधर बिहारी की अग्नि अपार थी। निश्चय ही मतिराम के सागर की "अपारता" अधिक स्वाभाविक है, क्योंकि सागर का नाम ही पारावार है। इसे "पारावार" की आग अपार है। इस प्रकार भाव साम्य होते हुए भी दोनों महाकवियों की वर्णन शैली में बहुत बड़ा अन्तर है। एक उक्ति की वक्रता को पकड़े हुए है तो दूसरा स्वाभाविकता लिये हुए है। यदि मतिराम ने वक्रता गही है, तो भी बिहारी के सामने वह वक्रता अत्यन्त अल्प है।

उपमान—उपमान साम्य में भी यही अन्तर देखा जा सकता है। दोनों महाकवियों ने नायिका की देह को "दीपशिखा" सी माना है। दोनों की कथन शैली देखिए।

---

१. पियत रहत पिय नैन यह तेरी मृदु मुसक्यान।
   तऊ न होति [illegible] तृषित [illegible] की [illegible]॥

२. लाल तिहारे बिरह की, अगिनि अनूप अपार।
   सरसै बरसै नीरहू मिटै न झर हू झार॥ —बिहारी

३. नारि नैन के नीर को, वारिधि नैं अपार।
   आजौं न वियोग कै बड़वानल की झार॥ —मतिराम

बिहारी कहते हैं[1] —कि नायिका का शरीर 'दीपशिखा' के समान है जिसके आभूषण भी बड़े चमत्कार पूर्ण हैं। परिणाम यह है कि घर में दीपक बढ़ा दिये जाने पर भी प्रकाश बना रहता है। अलंकारों की छटा के आंतरिक अर्थ सम्बन्धी चमत्कार भी उपस्थित हैं। दिया क्या बढ़ाया जाता है—(१) तेल के पैसे बच जाते हैं। (२) नायक रति-प्रसंग में दीपक बुझा देता है। (३) नायिका की इस प्रसिद्धि की परीक्षा की जाती है कि उसका शरीर सदा चमकता रहता है और प्रकाश देता है। उस मुहल्ले के पाठक पुस्तक पढ़ने का काम उसी प्रकाश में करते होंगे। एक शंका उठ खड़ी होती है। संभव है—यह आभूषणों की ही करामात हो। सो बात नहीं है। यही नायिका एक बार कृष्णाभिसारिका बनी।[2] काले वस्त्र पहिन लिए। घनघोर अँधेरी रात्रि थी। बेचारी चल तो पड़ी परन्तु बड़ी दुर्गति हुई। वह अपने को काले वस्त्रों में छिपा न सकी, क्योंकि उसकी "दीप शिखासी देह" दूर तक प्रकाश फेंक रही थी।

मतिराम भी इसी उपमान को पकड़ कर कहते हैं[3] —वास्तव में तेरी देह 'दीपशिखा'-सी है। क्यों ? दीपशिखा दिन में पीली पड़ जाती है, दुर्बल बन जाती है परन्तु रात्रि में तेल पाकर चमक उठती है। यही हाल तेरी देह का है। यह दिन में पिय से अलग होकर पीली पड़ जाती है। दोहा स्वाभाविकता से युक्त है। एक दूसरे स्थान पर मतिराम कहते हैं[4], मैं देह को दीपशिखा के समान अवश्य बताता हूँ किन्तु दोनों में एक अन्तर भी है। देह, दीपशिखा के समान होते हुए भी, कुछ अपनी विशेषता लिए है। (१) दीपक में प्रकाश होता है परन्तु उसकी ओर घर-वाले विशेष ध्यान नहीं देते। देह जैसे-जैसे चमकती है, वैसे-वैसे नायक का नेह (प्रेम) बढ़ता जाता है। (२) दूसरा भाव यह भी हो सकता है—जैसे-जैसे दीपक जलता है, वैसे-वैसे उसमें तेल की मात्रा बढ़ाई जाती है। इसी प्रकार जैसे-जैसे नायिका की देह सुन्दर होती जाती है वैसे-वैसे उसका स्नेह भी बढ़ता जाता है। (३) नायिका की देह, दीप-सिखा सी तो है किन्तु यह दीपशिखा भिन्न प्रकार की है। क्यों ? साधारण दीपसिखा जलती है तो तेल घटता जाता है। यह देह चमकती है तो स्नेह बढ़ता जाता है। तीसरे अर्थ में अलंकार की विशेषता प्रकट की गयी है।

---

१. अंग अंग नग जगमगैं दीप सिखासी देह।
दिया बढ़ाये हू रहै, बड़ो उजेरो गेह॥ —बि० बो० १४७

२. निसि अँधियारी नील पट पहिरि चली [illegible]।
[illegible] दीप [illegible] सी देह। —बि० बो० ३१२

३. [illegible]
[illegible] ॥ —३७६

४. [illegible] दीप [illegible]।
[illegible] ॥ —१६

दोनों महाकवियों ने 'जल चादर दीप' उपमान ग्रहण करके सुन्दर वर्णन किया है। बिहारी कहते हैं[१] — नायिका ने श्वेत साड़ी पहिन रक्खी है जो पाँच तोले की है इससे नायिका के शरीर की शोभा ऐसी प्रतीत होती है जैसी कि जल चादर के पीछे दीपकों की शोभा। पाँच तोले की साड़ी कहने में बिहारी ने चमत्कारिक ढंग पकड़ा है। बिहारी का भाव है—(१) नायिका कोमलांगी है। अतः पाँच तोले या एक छटांक भार की साड़ी पहिन रक्खी है। (२) कामदेव के पाँच बाणों की तुलना में पाँच तोले की साड़ी ही उपयुक्त है। (३) पाँच तोले वाली साड़ी से व्यंजना की गयी है कि साड़ी इतनी महीन है कि जल चादर दीपों के समान नायिका के अंग दिखलाई पड़ते हैं। मतिराम ने इसी उपमान को ग्रहण कर कहा है[२] बरौनिओं से बहते आँसू जल चादर का रूप लिये हैं। स्वच्छ कपोल की चमक दीपक है। इस प्रकार आँखों से बहकर आँसू कपोल पर जाते हैं, आँसुओं के पीछे कपोल ऐसी शोभा गहता है मानों जल चादर के पीछे दीपक दिखाई दे रहा है। कपोलों पर बहते श्वेत आँसुओं का स्वाभाविक उपमान है। उधर बिहारी पंचतोरिया साड़ी को जल-चादर बताते हैं और नायिका के सभी अंगों को दीपक बनाते हैं। यही दोनों कवियों की दृष्टि का अन्तर है।

दोनों कवि नायिका के नेत्रों को मृग मान कर उनसे आखेट कराते हैं। बिहारी कहते हैं[३]—कामदेव बड़ा निपुण शिकारी है, उसने अद्भुत शिकार खेलना सिखाया है। संसार में नगर के रहने वाले काननचारी मृगों का शिकार खेलते हैं। किन्तु यहाँ विपरीत अवस्था है। कानन चारी (श्लेष से कानों तक फैले हुए) नैन-रूपी मृग चतुर मनुष्यों का शिकार खेलते हैं। ये मृग मूर्खों पर नहीं, नगर के रहने वाले चतुरों पर वार करते हैं। बिहारी ने नगर के रहने वालों की शृङ्गारिक प्रवृत्ति पर भी व्यंग्य किया है। मतिराम ने भी नायिका के नेत्रों को मृग बताया है।[४] ये नयन रूपी हरिन शिकार खेलते हैं। किन्तु इनकी आखेट में स्वाभाविकता है, चमत्कार नहीं। ये मृग, मृगों के शिकार में सहायता देते हैं। [illegible] बरौनियाँ एक पाश लिए है वह नायिका के नयन मृगों के द्वारा नायक के नयन मृग को पकड़ता है।

---

१. सहज सेत पचतोरिया पहरे अति छबि होति।
जल चादर के दीप लौं जगमगाति तन जोति॥ —बि० बि० १२१

२. अँसुआ बरुनी ह्वै चलत जल चादर कौ रूप।
अमल कपोलन की झलक झलकति दीप अनूप॥ ११८

३. खेलन सिखये अलि भलै [illegible] अहेरी मार
[illegible] नैन मृग नागर [illegible]।

४. [illegible] नार [illegible], जोरे [illegible]
नैन मृगने सों बाँधि कै [illegible]॥

केवल मृग ही नहीं, दोनों ने नायिका के नेत्रों को "मुँह जोर तुरंग"[1] माना है तो सुभट (वीर योद्धा)[2] भी बनाया है। तुरंग और सुभट बन गये तब नेत्रों को बाण भी बनना ही चाहिए।[3] ऐसे अनेक उपमान दोनों में मिलेंगे जो बहुत समानता रखते हैं। साम्य रखते हुए भी दोनों की शैली बड़ी भिन्न है।

उपमान साम्य ही नहीं, दोनों में पदों की समानता भी मिलती है।

(क) लाज लगाय न मानहीं नैना मो बस नाहिं।
ये मुँह जोर तुरंग लौं, ऐंचत हूँ चलि जाहिं॥

—बिहारी

मानत लाज लगाय नहिं, नेकुन गहत मरोर।
होत तोहि लखि बाल के, दृग तुरंग मुँह जोर॥

—मतिराम

(ख) आसौं लागै पलक दृग, लागैं पलक पलौन।

—बिहारी

नवल बाल पर्यंक परी पलक न लागत नैन॥

—मतिराम

(ग) वह चितवनि औरै कछू, जिहिं बस होत सुजान।

—बिहारी

औरे कछु चितवनि चलनि, औरे मृदु मुसक्यानि॥

—मतिराम

पदों और शब्दों का साम्य यह स्पष्ट करता है कि बिहारी का प्रभाव मतिराम पर अवश्य पड़ा था। हम तो यह नहीं कह सकते कि मतिराम जैसे समर्थ कवि ने बिहारी से पद और शब्द उठा लिये हैं। भाव एवं उपमान साम्य के कारण भी शब्द साम्य आ गया है। अनजाने रूप से भी बिहारी के प्रभाव ने यह काम करा दिया है। जब हम किसी कृति से प्रभावित होकर उसे पचा जाते हैं तो लिखते समय उसके कुछ पद एवं शब्द प्रतिफलित हो जाते हैं। बिहारी में भी गाथा सप्तशती एवं अमरुक-शतक के भाव, विचार, विषय एवं कहीं-कहीं शब्द भी आ बैठे हैं।

---

१. बि० रत्नाकर ६१० । मतिराम ग्रन्थावली की म० सतसई ३७३ ॥
२. बि० बो० ६८ । ,, ,, ,, ३२६ ॥
३. बि० बो० ५७ व ७३ । सतसई सतक में मतिराम सतसई ४०? व ६१ ॥

बिहारी की विरहिनी

सेनापति की विरहनी डरी हुई है अतः विष की डरी खाती है। सूर की वियोगिन के पास से वर्षा के बादल कभी दूर नहीं होते और उसके आँसुओं में वर्षा की झड़ी आ छिपती है। पद्माकर की वियोगिन चैती चांदनी में चुर जाती है। ऐसी अनेक विरहिनियाँ मध्यकालीन काव्य जगत में बिखर रही हैं। किन्तु बिहारी की विरहिनी इनकी सिरताज है। सभी विरही एवं बिरहिनियों की छाती हलवाई की भट्ठी या भड़भूँजे की भाड़-रेणुका बनी रहती है किन्तु बिहारी की बिरहिनी का ताप बड़ा ऊँचा और भयानक है। उसकी छाती को जलता देख कर एक सखी को दया आगई। उसने गुलाब जल की बोतल उलट दी। पर यह क्या ? गुलाब जल की एक बूँद भी उसकी छाती तक न पहुँची। सारा जल छाती की जलन से भाप बनकर बीच ही में छूमंतर हो उड़ गया[1]। उस बेचारी की आँखों से आँसू निकलते हैं। वे कपोलों से आगे बढ़ते हैं। छाती की ओर गतिमान होते हैं। पर क्या वे छाती पर पहुँच पाते हैं ? नहीं। जलते तवे पर जिस प्रकार बूँदें पड़ कर छन-छन का शब्द करती हैं और बूँदें छिप जाती हैं- उसी प्रकार आँसुओं की बूँदें छन-छन का शब्द कर उड़ जाती हैं। वे भी भाप बन जाती हैं।[2] उस काल में पापड़ों का रिवाज नहीं था। नहीं तो गाँव या नगर वाले अपने-अपने पापड़ लेकर वहाँ पहुँच जाया करते। यह नायिका पंजाब के किसी गाँव या नगर में न थी। नहीं तो तंदूर के इच्छुकों की भीड़ लग जाती।

वियोग की यह भयावनी आग बढ़ती ही गई। विरहिनी ज्वालामुखी बन गई।[3] वह नायिका कपूर की भाँति बल उठती है[4]। सखी, सास, ननद सभी उपाय करके थक गईं। कुछ पार न पड़ता था। अन्त में उसके पास तक आना कठिन हो गया। जाड़े की रात में भी इतनी गर्मी निकलती थी कि उसकी [illegible] साड़ियाँ एवं चोलियाँ

---

१. औंधाई सीसी बिलखि, विरह विकल बिललात।
बीच ही सूखि गुलाब गो, छींटौ छुओ न गात॥

२. पलनु प्रगटि बरुनीन [illegible] नहिं कपोल ठहरात।
अँसुवा परि [illegible], [illegible] जात॥

३. [illegible]।

४. [illegible]।

को पानी में तर करके विरहिनी को खाना या दवा देने जाती थीं।[1] यदि गीले वस्त्रों से न जातीं तो स्वयं जल जातीं। घर वालों का ही नहीं, पड़ोसियों का भी बुरा हाल था। पौष-माघ-फागुन का भयंकर शीत पड़ रहा था। पड़ोसियों को पसीना बह रहा था और वे झुलसे जा रहे थे। फलतः उन्होंने खस के पर्दों और खस की टट्टियों का सहारा पकड़ा। इस प्रकार जाड़े की शिशिर एवं हेमन्त ऋतुओं को तो काट दिया। परन्तु ये पड़ोसी वैशाख जेठ में कैसे जिन्दा रहेंगे[2]? यह समस्या बड़े भीषणरूप में उनके सामने खड़ी है। इसी शिशिर हेमंत ऋतु में एक विचित्र परिवर्तन देखा गया। माघ का महीना था। हाड़ कंपाने वाला शीत दाँत बजवा रहा था—लोग चिल्ला रहे थे "सब पशु पक्षी जम जायेंगे, सब नारी-नर जकड़ जायेंगे। यह शीत नहीं, जग-काल है। ऐसी ही एक रात में विरहिनी का पति एक धर्मशाला में आकर ठहरा। सूचना मिल गई थी कि विरहिनी के शरीर का क्या हाल है? धर्मशाला में उसे एक पथिक मिला। बात ही बात में नायक ने जान लिया कि यह पथिक उसके गाँव के पास से होकर आया है। सो उसने पूछा—क्यों भइया यात्री! तुम उस गाँव से होकर आए हो? वह यात्री बोला-नहीं उस गाँव से होकर नहीं आया, मैं चक्कर काट कर बड़े बीहड़ मार्ग से आया हूँ। नायक ने पूछा—क्यों भाई! ऐसा क्यों किया? सीधा मार्ग तो उसी गाँव में से होकर है? यात्री ने उत्तर दिया—आप ठीक कहते हैं। पर मैं करता तो क्या करता। उस गाँव में तो लुएँ चल रही थीं, वे भी ऐसी भयंकर लुएँ कि मनुष्य जले जा रहे थे। ऐसा तो न कभी देखा था, न कभी सुना था। नायक जो अब तक अपनी प्राणप्रिया के लिए घबड़ा रहा था, मुस्करा उठा। क्यों? क्योंकि उस गाँव में अकेली उसी की पत्नी विरहिनी थी। लुओं का नाम सुनते ही वह समझ गया कि मेरी प्रिया जीवित है। यदि जीवित न होती तो लुएँ कैसे चलतीं।[3]

चन्द्र कला भी विरह में शीत से जलती है और धीरे धीरे क्षीण होती है। नायिका भी विरह की भट्ठी में मांस जला-जला कर क्षीण और कृशकाय हो गई है। विरहिनी की दुर्बलता और कृशता का क्या वर्णन किया जाय? बेचारी विरहिनी विरह में ऐसी मुरझाई है और दुर्बल बन गई है कि सदा समीप रहने वाली सखियां भी नहीं

---

१. आड़े दै आले बसन, जाड़े हू की राति।
साहस ककै सनेह बस, सखी सबै ढिग जाति॥

२. सीरैं जतननि सिसिर ऋतु, सहि बिरहिनि तन ताप।
बसिबे कौं ग्रीषम दिनन, परयौ परोसिन पाप॥

३. सुनत पथिक मुँह माह निसि, लुएँ चलति उहि गाम।
बिन बूझे बिन ही कहे, जियति बिचारी बाम॥

पहिचान पातीं[1]। नायिका क्षीण होती गई। दशा यहाँ तक हुई कि वजन कुछ माशे तोले रह गया। जैसे सूखा पत्ता हवा के साथ उड़ता है उसी प्रकार वह श्वासों के साथ आगे पीछे उड़ने लगी। बड़ा बुरा हाल था। श्वांस बाहर निकली तो छै सात कदम आगे जा गिरी। पुनः श्वांस नाक के अन्दर गई तो छै सात हाथ पीछे जा टिकी। बस इसी प्रकार श्वास-प्रश्वास के साथ दौड़ती फिरती है, आगे पीछे हिलती है जैसे घड़ी का पेंडुलम[2]। विरहिनी के मन में भी अधिक चलायमान है उसका शरीर जो हिंडोले की नाई आगे पीछे भूल रहा है।

कृशता बढ़ती गई। अब विरहिनी प्राण त्याग करेगी। वह इतनी दुर्बल एवं क्षीणकाय हो गई है कि दिखाई तक नहीं देती। वास्तव में अब जीवितों में उसकी गणना करना व्यर्थ है। वह जीवित भी मरी के सदृश है।[3] मृत्यु अपने नगर से निकल कर इस दुबली-पतली विरहिनी को ढूंढ़ने के लिए चली। विरहिनी सूख कर कांटे से भी अधिक कृश थी। वह दिखलाई न पड़ी। मृत्यु ने इधर-उधर बहुत खोजा परन्तु वह मृत्यु की गीधयाई आँखों को भी न दिखाई पड़ी। हार कर मृत्यु ने खुर्दबीनी ऐनक आँखों पर लगाई जिसके शीशों से चींटी, हाथी से बड़ी दीखती थी। परन्तु तब भी विरहिनी दिखाई न दी। इस प्रकार मृत्यु के पंजे से बची वह।[4]

विरहिनी मकान के बाहर आकर बैठ गई। इसके दो कारण थे। पति की राह देखूँगी और साथ ही उसका यह भी विचार था कि मृत्यु कमरे में नहीं खोज पाती है, बाहर सरलता से मुझे देख लेगी। सखी उसके साथ थी। अचानक वह खड़ी हुई और सखी का हाथ पकड़ कर बोली—सखी, सखी, घर के अन्दर चल। देख वे अंगारे बरस रहे हैं। सखी ने इधर-उधर आँखें गड़ाईं और जाना कि रात्रि में जो जुगनू चमक रहे हैं उन्हें ही विरहिनी सखी आग की चिनगारियाँ समझ रही है।[5] सखी ने समझाया—अरी, बावली, ये तो जुगनू हैं जो तेरे प्रियतम के मार्ग को उजेला दे रहे हैं क्योंकि चन्द्रमा अभी निकला नहीं है। देख, देख, वह चन्द्रमा ऊपर आ

---

१. करके मीड़े कुसुम लौं, गई बिरह कुंभिलाय।
सदा समीपिनि सखिन हूं, नीठ पिछानी जाय॥
२. इत आवति चलि जाति उत, चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं सैं रहै, लगी उसासनु साथ॥
३. गनती गनिबे तैं रहे, छत हू अछत समान।
४. करी बिरह ऐसी तऊ गैल न छाड़तु नीचु,
दीनै हू चसमा चखनि चाहै लहै न मीचु॥
५. बिरह जरी लखि जीगननि, कह्यौ न उहि कै बार।
अरी आव भजि भीतरैं, बरसत आजु अंगार॥

चुका है । विरहिनी चन्द्रमा को देख बोली—अहा, आग, आग, मैं जलूँगी, कूदूँगी, कितना प्रस्तुत है । सखी बोली—पगली, बैठ, देख नदी में कमल मुँद गए हैं । तू भी नेत्रों को मूँद कर भाग । अब विरहिनी कमल की ओर दौड़ी कि मेरी आँखें भी कमल के समान मुँद जावें । दिन निकल आया । कमल खिल उठा । उसका लाल रंग देख विरहिनी आग समझ पुनः उसकी ओर दौड़ी । इसी समय सुगंधित वायु चलने लगी । विरहिनी का अंग जलने लगा । उसने सोचा—जहाँ से वायु आग लेकर आ रही है, वहाँ पहुँच कर जल सकूँ, जरूर वहाँ आग का ढेर होगा[१] ।

यदि शिशिर-हेमन्त में ऐसी एक-दो विरहिनियाँ काश्मीर-जम्मू में बिहारी से उधार लेकर पहुँचा दी जाया करें तो न तो वहाँ पानी जमेगा, न मार्ग बर्फ से अवरुद्ध होंगे और न मनुष्य ठण्ड से जड़ीभूत होंगे । विरहिनी जब कभी दुःख से अभिभूत होकर रोने लगती है तो जल-थल में प्रलय का दृश्य उपस्थित हो जाता है । वह नदी के किनारे पर जाकर रोती है तो नदी का धरातल जल उठता है[२] क्योंकि नेत्रों से हृदय की आग पानी रूप में बहती है । कैसे ? आग से हृदय पसीजता है और भाप आँसू बन कर बाहर आती है ।[३] कभी विरहिनी घर में बैठ कर ही नेत्र-झड़ी लगाने लगती है तो गाँव में बाढ़ आ जाती है और लोग आँसू-नदियों को नाव से या तैर कर पार करते हैं ।[४] बरसाती बाढ़ चार महीने आती है किन्तु यह बाढ़ बारहों महीने बहती फिरती है । बड़ी मुसीबत है गाँव या नगर वालों की । राजस्थान हरा-भरा मैदान बन जाता यदि बिहारी अपनी दस-बारह ऐसी विरहिनियों को बीकानेर-जैसलमेर के टीलों पर बैठा देते । इस नायिका की दशा बड़ी हृदय द्रावक थी । इसके पास एक तोता था । वही इस विरहिनी की दशा बाजार, चौराहा और मेलों-ठेलों में कहता-फिरता था । जब वह बोलता था तो सुनने वाले खड़े-खड़े रोते रहते थे ।[५]

खैर यही है कि उस विरहिनी ने स्वयं कुछ नहीं कहा था । बस वह जलती थी रोती थी और चंद्रमा के सामने दौड़ती थी । बिहारी की विरहिनी हिन्दी जगत में अपने समान केवल आप ही है ।

---

१. मरिबे को साहस ककै, बढ़े विरह की पीर ।
दौरति है समुहैं ससी, सरसिज सुरभि-समीर ॥

२. अंसुवन करति तरौंस कौं, खिन खौरौंहौं नीर ।

३. तच्यौ आँच विरह की रह्यौ प्रेम रस भीजि ।
नैननि के मग जल बहै हियो पसीजि-पसीजि ॥

४. गोपिन के अँसुवन भरी, सदा असोस अपार ।
डगर-डगर नै ह्वै रही, बगर-बगर के बार ॥

५. कहे जु वचन वियोगिनी विरह विकल विललाय ।
किये न को अंसुवा सहित, सुआ तिबोल सुनाय ॥

सेनापति का प्रकृति चित्रण

रीतिकाल के कवियों में सेनापति अपने प्रकृति चित्रण के लिए परम प्रसिद्ध हैं। उन्होंने प्रकृति का निम्न रूपों में चित्रण किया है—

(१) उद्दीपन रूप में।
(२) आलम्बन रूप में।
(३) अलंकार रूप में।

उद्दीपन रूप

काव्य शास्त्रियों ने प्रकृति-चित्रण को उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत स्थान दिया है। फलतः रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति के उद्दीपन रूप को ही प्रधानतः अपनाया। सेनापति यद्यपि भक्तिकाल के छोर पर खड़े हैं तब भी वे रीतिकालीन प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत हैं। यही कारण है कि सेनापति ने प्रकृति के उद्दीपन रूप को प्रधानता दी है। बसंत ऋतु के केसू जो लालिमा के साथ-साथ कालापन भी लिए हैं, विरहियों को जलाने वाले प्रज्वलित कोयले हैं—

लाल लाल केसू फूलि रहे हैं विसाल संग,
स्याम रंग भेंटि मानो मसि में मिलाए हैं।
आधे अन-सुलगि, सुलगि रहे आधे, मानौं,
विरही दहन काम क्वैला पर चाए हैं।। तरंग ३-४

वसंत के सभी पेड़-पौधे जो पुष्पित और पल्लवित हो रहे हैं, वियोगिनियों के लिए मृत्यु का सामान जुटा रहे हैं, सताने में एक दूसरे से बढ़कर हैं। दक्षिणी पवन शरीर को जला रहा है, मराल एवं लाल हृदय को तड़पा रहे हैं—

केतकि, असोक, नव चंपक बकुल कुल,
कौन धौं वियोगिनी कौं ऐसौ विकराल है।
सेनापति सांवरे की सूरति की सुरति की,
सुरति कराइ करि डारत बिहाल है।।
दच्छिन-पवन एतौ ताहू की दवन जऊ,
सूनौ है भवन परदेस प्यारौ लाल है।

लाल हैं प्रवाल फूले देखत बिसाल, जऊ
फूले और साख पै रसाल उर-साल है ॥ ३-५

ग्रीष्म ऋतु में एक ओर सूर्य जलता है तो दूसरी ओर हृदय जलता है। इस जेठ मास के ताप ने विरहिनी को पुट पाक बना रक्खा है, कितना बड़ा अत्याचारी है वह ?

सेनापति तपन तपति उतपति तैसी,
छायौ उन पति, तातैं बिरह बरत है।
लुवन की लपटें, तें चहूं ओर लपटें, पै
ओढ़े सलिल पटै चैन उपजत है।
बरनि बताई, छिति व्योम की तताई जेठ,
आयौ आततताई पुटपाक सौं करत है ॥ ३-१५

ग्रीष्म, विरहिनियों को जलाकर चला गया है। पावस अपने रूप को सजाकर आया है। किन्तु विरहिनी के लिए यह पावस भी दुख देता है क्योंकि उसका प्रिय उसके पास नहीं है। पावस की कोकिल, विरहिनी को कलपाती है और मोर का शब्द तो उसके प्राण हरता है—

आई रितु पाउस कृपा उस न कीनी कंत,
छाइ रह्यौ अंत, उर बिरह दहत है।
गरजत घन, तरजत है मदन, लर-
जत तन मन नीर नैनन बहत है।
अंग अंग भंग, बोलै चातक बिहंग, प्रान
सेनापति स्याम संग रंगहि चहत है।
धुनि सुनि कोकिल की बिरहिनि को किलकी,
केका के सुने तें प्रान एकाके रहत हैं ॥ ३-२५

सावन का महीना तो और भी दुखदाई है। इसी महीने में मनभावन मनमोहन ने आने के लिए कहा था। सावन ने आकर मदन को सरसा दिया है, विरह-ज्वर जोर से चढ़ आया है और प्यासा हृदय तरसने लगा है। सावन में चारों ओर ज्वर का प्रकोप वैसे ही होता है, फिर विरहिनी कैसे बचती ?

दामिनी दमक, सुरचाप की चमक, स्याम
घटा की भमक अति घोर घनघोर तैं।
कोकिला कलापी कल कूजत हैं जित-तित
सीकर ते सीतल समीर की झकोर तैं।

सेनापति आवन कह्यौ है मन-भावन सु
लाग्यौ तरसावन बिरह जुर जोर तैं।
आयौ सखी सावन, मदन सरसावन, ल-
ग्यौ है बरसावन सलिल चहूँ ओर तैं॥ ३-२६

सेनापति का कला-कौशल इस कवित्त में श्लाघनीय है। पहिले चरण में शब्दों से वस्तुओं की गति की ध्वनि प्राप्त होती है। 'दामिनि की दमक' से भासित हो जाता है कि चमक बड़ी थोड़ी देर दिखाई देती है। 'दामिनी की दमक' से "सुरचापकी चमक" में शब्दों की अधिकता है परन्तु गति की नहीं। इन्द्र धनुष बिजली की अपेक्षा अधिक देर तक दिखाई देता है एवं वह उससे बड़ा भी होता है। इन्द्रधनुष से बड़ी है काली घटा, और उसकी गर्जन। अतः "स्याम घटा की भमक अति घोर घनघोर तैं" में शब्द बहुलता है। तीसरे चौथे चरणों में पदान्त अनुप्रास "सेनापति आवन, कह्यौ है मनभावन, सुलाग्यौ तरसावन" "आयौ सखी सावन, मदन सरसावन, लग्यौ है बरसावन" बड़ा सुन्दर और माधुर्य पूर्ण है। इसी पदान्त अनुप्रास का दूसरा उदाहरण और देखिये जिसमें विरहिनी वर्षा के कारण कष्ट पा रही है। ऊपर के कवित्त में "आवन" की आवृत्ति थी तो नीचे के कवित्त में "अरकी" ने अपने पैर पसारे हैं। बादल गरजता है। गर्जन सुनकर वियोगिन की प्रेम भरी छाती दहल उठती है और तड़क जाती है। उसके हृदय में प्यारे की याद आ खड़ी हुई। उसकी प्यार भरी बातें टीस देने लगीं। अब सावन की रातें काटने को दौड़ती हैं और काटे नहीं कटतीं—

दूरि जदुराई, सेनापति सुखदाई देखौ,
आई रितु पाउस, न पाई प्रेम-पतियाँ।
धीर जलधर की, सुनत धुनि धरकी, है
दरकी सुहागिन की छोह भरी छतियाँ॥
आई सुधि बर की, हिए में आनि खरकी, तू
मेरी प्रान प्यारी, यह पीतम की बतियाँ।
बीती औधि आवन की, लाल मन भावन की,
डग भई बावन की, सावन की रतियाँ॥ ३-२८

वर्षा बढ़ने लगी तो विरहिनी को कहना पड़ा—
इमकौ डरी हौं, देखि कै डरी हौं, वाइ
बिस की डरी हौं घनस्याम मरि जाइहौं॥ ३-३०

इसी प्रकार शरद, हेमन्त और शिशिर ऋतुएँ विरहिनी को तड़पाती हैं। नायिका देखती है, शरद में पूर्ण-आकाश नव स्वच्छ हो गए हैं.. फूल नाम मात्र को

भी नहीं रही है। तब क्यों नहीं मेरे प्रिय आते। अब तो सब मार्ग खुल गए हैं। वह अपने को वैसे ही पीली पाती है जैसी सरसों को—

छिति न गरद, मानों रंगे हैं हरद सालि,
सोहत अरद, को मिलावै हरि पीय कौ ॥ ३-३७

बेचारी विरहिनी अपनी दशा से दूसरी स्त्रियों को शिक्षा देती हुई कहती है—

आयौ सखी पूसौ, भूलि कंत सौं न रूसौ, केलि
ही सौं मन मूसौ जीउ ज्यौं सुख लहत है ॥ ३-४६

रात्रि में ठंडक पड़ रही है किन्तु उसे चारों ओर से गर्मी जलाती है। वह रात भर तड़पती है। रात्रि किसी तरह समाप्त ही नहीं होती, वह द्रोपदी के चीर की नाईं बढ़ जो गई है। काम आकर उसके पास ठहर गया है। वह प्रीतम से प्रार्थना करती है कि प्राण प्रिय! आओ, मिलो। देखो सूर्य भी धन राशि में पहुँच गया है, अपनी धन ("स्त्री") के पास चला गया है—

बरसै तुसार, बहै सीतल समीर तीर,
कंपमान उर क्यौंहू धीर न धरत है।
राति न सिराति, सरसाति बिथा बिरह की,
मदन अराति जोर जोबन करत हैं।
सेनापति स्याम हम धन हैं तिहारी, हमैं,
मिलौ, बिन मिले, सीत पार न परत है।
और की कहा है, सविता हू सीत रितु जानि,
सीत कौं सतायो धन रासि मैं परत है ॥ ३-४८

माघ मास में विरहिनी के नेत्र बरस रहे हैं। वृक्षों की सब डालियाँ पीली हैं क्योंकि वे भी तो वियोगिनी हैं। वन में बेलियाँ भी अकेली प्रसन्न नहीं हैं। फिर वियोगिनी कैसे सुखी रह सकती है?

परे हैं तुसार, भयौ झार पतझार, रही
पीरी सब डार, सो वियोग सरसति है।
बोलत न पिक, सोई मौन ह्वै रही है अस,
पास निरं जास, नैन नीर बरसति है।
सेनापति केली बिन, सुन री सहेली, माह
मास न अकेली बन बेली बिलसति है।
बिरह तैं छीन तन, भूषन बिहीन दीन,
मानहु बसंत-कंत काज तरसति है ॥ ३-५६

सेनापति में उद्दीपनात्मक रूप का ही प्राधान्य है। इसका अनुमान छन्दों की संख्या से भी लगाया जा सकता है। कवित्त रत्नाकर की तीसरी तरंग में प्रकृति चित्रण के ६२ छन्द हैं। इनमें से ३० छन्द (२, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १५, २१, २५, २६, २८, ३०, ३२, ३३, ३४, ३६, ३७, ४४, ४., ४७, ४८, ४९, ५६, ५७, ५९, ६०, ६१, ६२) उद्दीपनात्मक हैं। बहुत से छन्दों में कवि प्रकृति का वास्तविक चित्र खींच रहा है किन्तु झट बीच में एकाध पद या पंक्ति कह देता है कि व्याकुल वियोगी (छन्द २), भयो लाज होम तहाँ (७), कंतकामिनी मनोज बस (९), तातें विरह बरत है (१५), लाग्यौ तरसावन विरह जुर जोरतें (२६), सेनापति जादौंपति बिन क्यों बिहात है (३३), देत मन काम है (३४), सरसाति बिथा बिरह की (४८), आठ छन्दों में धनी स्त्री-पुरुषों के विहार का वर्णन किया है, उनकी सुख-सज्जाओं का चित्र खींचा है (१०, १३, १४, १७, २०, २२, २३, ४३)। ये छन्द भी उद्दीपनात्मक ही माने जायेंगे। इस प्रकार बासठ में से अड़तीस छन्द उद्दीपनात्मक हैं। आलंबन-रूप देने वाले केवल १९ छन्द हैं (१, ११, १२, १६, २४, २९, ३१, ३५, ३८, ४०, ४१, ४२, ४५, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५)।

आलम्बन रूप

मध्यकालीन हिन्दी काव्य में सेनापति अपने प्रकृति चित्रण के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं क्योंकि उन्होंने प्रकृति के आलम्बन रूप वाले अर्थात् वास्तविक चित्र बड़े सुन्दर, सरस और स्वाभाविक खींचे हैं। इस दिशा में उनका निरीक्षण अन्य कवियों से अधिक ऊँचा था, यद्यपि यह कहना ही पड़ेगा कि उनका यह निरीक्षण नागरिक दृष्टि से हुआ है। इस क्षेत्र में उनका ग्रीष्म वर्णन बड़ा पैना है। ज्येष्ठ मास की गर्मी का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि ज्येष्ठ में वृष पर चढ़ा सूर्य अपने सहस्रों हाथों से अङ्गारे उछाल रहा है। पृथ्वी तवा बनी हुई है। संसार जल रहा है। अपराह्न में तो ऐसी सुनसानता व्याप्त हो जाती है कि एक पत्ता तक नहीं खड़कता है। सब प्राणी छाया में पड़े हैं। नर-नारी तो मकानों के अन्दर ठंडक पाने का प्रयत्न कर रहे हैं। हवा भी इस गर्मी से घबरा कर किसी ठंडे कोने में बैठकर दुपहरी बिता रही है—

वृष कौं तरनि तेज सहसौ किरन करि,
ज्वालन के जाल बिकराल बरसत हैं।
तचति धरनि, जग जरत झरनि, सीरी
छाँह कौं पकरि पंथी पंछी बिरमत हैं।
सेनापति नैंक दुपहरी के ढरत, होत
धमका बिषम, ज्यौं न पात खरकत हैं।

मेरे जान पौनौं सीरी ठौर कौं पकरि कौनौं,
घरी एक बैठि कहूं घामैं बिलवत है ॥ ३-११

ज्येष्ठ के अपराह्न का बड़ा वास्तविक एवं मार्मिक चित्र है जब हवा बन्द हो जाती है और उमस बढ़ जाती है, कहीं कोई शब्द सुनाई नहीं देता, पेड़ों के पत्ते तक स्थिर हो जाते हैं। "पात खरकत हैं", वाला दृश्य आज भी ज्येष्ठ के अपराह्न में छोटे नगरों एवं गाँवों में देखा जा सकता है। हाँ, कलकत्ता, बम्बई और दिल्ली जैसे नगरों में यह सुनसानता न मिलेगी। ग्रीष्म की भयंकरता से जगत का रूप ही बदल गया। सूर्य ने नदी नालों का पानी सुखा दिया है। जलती हवा बहती है जिससे वन-वाटिकाएँ मुरझा रही हैं। भूतल तो तवे जैसा तप्त है। ठंडक भी मनुष्यों के साथ तहखाने में जा छिपी है—

सेनापति ऊँचे दिनकर के चलति लुवैं,
नद, नदी, कुवैं कोपि डारत सुखाइ कै।
चलत पवन, मुरझात उपवन बन,
लाग्यौ है तवन, डारयौ भूतलौ तचाइ कै।
भीषम तपत रितु ग्रीषम सकुचि तातैं,
सीरक छिपी है तहखानन में जाइ कै।
मानौ सीत काल, सीत लता के जमाइबे कौं,
राखे हैं बिरंचि बीज धरा में धराइ कै ॥ ३-१२

वर्षा का आलम्बन रूप में भी वर्णन बड़े स्वाभाविक एवं कलात्मक ढंग से हुआ है। वर्षा के बादल गरज रहे हैं। बिजली, जुगनुओं से अधिक चमकती है। अंधकार ने नर-नारियों के नेत्रों को बेकाम बना दिया है। और तो और, सूर्य को भी कुछ न दिखाई दिया और वह भी बादलों के बोझ में दब गया। चन्द्रमा भी कुछ न देख पाया। वह भी न जाने कहाँ गिर पड़ा है। तारे तो खोए गए। बड़ी विशाल एवं सुन्दर कल्पना की है कवि ने—

गगन अंगन घनाघन तैं सघन तम
सेनापति नैंक हू न नैन मटकत हैं।
दीप की दमक, जीगनीन की झमक छाँड़ि,
चपला चमक और सौं न अटकत हैं ॥
रबि गयौ दबि मानौं ससि सोऊ धसि गयौ,
तारे तोरि डारे से न कहूँ फटकत हैं।
मानो महा तिमिर तें भूलि परी बाट तातें,
रबि ससि तारे कहूं भूले भटकत हैं ॥ ३-२९

कवि ने छन्द में कलात्मक सौन्दर्य का भी बड़ा ध्यान रक्खा है। अँधेरे में नेत्र प्रकाश पर ही जाकर टिकते हैं। यदि कहीं दीपक दिखाई पड़ जाय तो तुरन्त वहाँ पहुँचेंगे। जुगनुओं की चमक पर टिकेंगे और बिजली की कौंद में भी चौंधियावेंगे। उस काल में भौतिक बिजली के लट्टू थे नहीं, फलतः कवि उनका वर्णन कर ही नहीं सकता था। दीपक की दमक से सहस्रों जुगनुओं का प्रकाश अधिक होता है अतः 'जीगनीन की झमक' पद बाद में आया है। बिजली की चमक और तेज होती है। अतः वह और बाद में लाई गई है। दमक, झमक और चमक शब्दों में क्रमशः तीव्रता है। सूर्य, चाँद और तारे अपना मार्ग भूल गए हैं, ऐसा है वर्षा काल का व्यापक एवं गहरा अंधकार। इनकी बिसात ही क्या जब भगवान् विष्णु भी अंधकार के कारण भ्रम में पड़ गए और वे चार मास के लिए सो गए—

घन सौं गगन छयौ, तिमिर सघन भयौ,
देखि न परत मानौ रवि गयौ खोइ कै।
चारि मास भरि स्याम निसा के भरम करि,
मेरे जान याही तैं रहत हरि सोइ कै॥ ३-३१

कवि शरद काल के आने पर बादलों को देखता है और उनका वर्णन देता है कि ये बादल काले नहीं, श्वेत हैं। ये धुआँधार वर्षा नहीं करते, फव्वारा-सा छोड़ते हैं। ये पश्चिम से पूर्व को भाग रहे हैं और धीमे-धीमे गरजते हैं—

खंड-खंड सब दिग मंडल जलद सेत,
सेनापति मानौ सृंग फटिक पहार के।
अंबर अडंबर सौं उमड़ि उमड़ि, छिन
छिछकैं छछारे छिति अधिक उछार के।
सलिल सहल मानौ सुधा के महल नभ,
तूल के पहल किधौं पवन अधार के।
पूरब कौ भाजत है, रजत से राजत हैं,
गग-गग गाजत गगन घन क्वार के॥ ३-३८

इस छन्द में सेनापति ने अपना सूक्ष्म निरीक्षण बड़ी कुशलता से भरा है। वर्षा के बादल पश्चिम को भागते हैं जबकि शरद ऋतु के बादल पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पूरब को भागते हैं क्योंकि वर्षा पश्चिमी मानसून से होती है। ये बादल काले नहीं होते जैसे कि वर्षा कालीन बादल होते हैं। ये श्वेत से दिखाई पड़ते हैं। "छिछकैं छछारे छिति अधिक उछार के" शब्दों द्वारा इस काल की हलकी वर्षा का सुन्दर चित्र खींचा है। अन्तिम चरण में अनुप्रास के साथ ही साथ अर्थध्वनि (Onomatopoeia) भी भरा गया है। "गग गग गाजत गगन घन क्वार के" में गगगग गाजत से क्वार के

कम पानी वाले बादलों का शब्द ध्वनित है। यदि वर्षा काल के बादल हैं तो उनकी गर्जन इस प्रकार व्यक्त की गई है—

घुमरि घुमरि घनघोर घहरात हैं।। ३-३३

शीत की प्रबलता का वर्णन कविवर सेनापति ने बड़ी स्वाभाविकता से किया है। बहुत से स्थलों पर कवि सामान्य मनुष्य के स्तर पर आ जाता है और सामान्य पुरुषों के भावों एवं दृश्यों का चित्रण करने लगता है। ये ही स्थल वास्तविक एवं हृदयग्राही बन जाते हैं क्योंकि इन स्थलों से सभी मनुष्य रस प्राप्त कर सकते हैं। शीत की सबल सेना चढ़ आई है। अग्नि तो निर्बल बन ही गया था। उसकी क्या बात कही जाय, स्वयं सूरज की गर्मी भी निकल गई है और सूरज भी ठंडा पड़ गया है। हवा बर्फीली है। वह शरीर पर ऐसी लगती है मानो शरीर पर तीर लग रहे हैं। गर्मी बेचारी डर कर भाग गई है। स्त्री जो ठहरी। बेचारी मकानों के कोनों में प्राण रक्षार्थ जा छिपी है। लोग आग पर टूट रहे हैं। उनके नेत्रों से आँसू निकल रहे हैं परन्तु वे आग का सामीप्य नहीं छोड़ते हैं। यही नहीं, अग्नि को, जो बेचारी स्त्री होने से वास्तविक अबला बन गई है, अपनी छाती से लगा रक्खा है—

सीत कौ प्रबल सेनापति कोपि चढ़्यौ दल,
निबल अनल, गयौ सूर सियराइ कै।
हिम के समीर, तेई बरसै विषम तीर
रही है गरम भौन कोनन मैं जाइ कै।
धूम नैन बहैं, लोग आगि पर गिरे रहैं,
हिए सौं लगाइ रहैं नैंक सुलगाइ कै।
मानौ भीति जानि, महासीत तै पसारि पानि,
छतियां की छांह राख्यौ पाउक छिपाइ कै।। ३-४५

पहाड़ी स्थानों पर पावक को गले में बाँधकर छाती के पास रक्खा जाता है, इसका चित्रण करके कवि ने अपने निरीक्षण का सुन्दर उपयोग किया है।

शिशिर के दिनों की तेज हीनता का सुन्दर वर्णन कवि ने मनोहर कल्पना के आधार पर किया है। सूर्य ने चन्द्रमा का स्वरूप पा लिया है, वह चन्द्रमा की नाईं ताप-हीन एवं श्वेत हो गया है। इसी प्रकार धूप में चाँदनी की चमक आ गई है। ठंडक बहुत बढ़ गई है। दिन भी रात जैसा दिखाई देता है क्योंकि गर्मी है ही नहीं। संसार में हिमिशों की आपत्ति छा गई है। चकोर चन्द्रमा समझ कर सूरज से टकटकी लगा रहा है। उधर चकवे की छाती धड़क रही है कि अब तो रात ही रात रहती है। दिन में भी चन्द्रमा देखकर कुमुदनी को प्रसन्नता होती है और कमलिनी बेचारी

रा रही है, वह फूलती ही नहीं है। दिन की तेजहीनता पर कवि ने बड़ी मार्मिक उक्तियाँ कहीं हैं। भ्रम का सुन्दर उदाहरण है।

सिसिर में ससि कौं सरूप पावै सविताऊ,
घाम हू में चाँदिनी की दुति दमकति है।
सेनापति होत सीतलता है सहसगुनी,
रजनी की झाईं बासर में झमकति है।
चाहत चकोर सूर ओर दृग छोर करि,
चकवा की छाती तजि धीर धसकति है।
चंद के भरम होत मोद है कमोदिनी कौ,
ससि संक पंकजिनी फूलि न सकति है॥ ३-५०

शिशिर के दिन केवल तेजहीन ही नहीं हुए हैं, वरन् वे बहुत ही छोटे भी हो गए हैं। कवि इस छुटाई का काव्यात्मक वर्णन करता हुआ कहता है कि दिन बड़ी शीघ्रता से भाग रहा है मानों सहस्त्र कर (हाथ) वाला सूर्य अब सहस्त्र पद बन गया है। दिन इतना छोटा है कि चकवा चकवी से मिल ही नहीं पाता है। बेचारा मिलने के लिए नदी के एक किनारे से उड़ता है। जब तक वह नदी के बीच में पहुँचता है संध्या हो जाती है और वह वापिस लौट आता है—

सिसिर तुषार के बुखार से उखारत है,
पूस बीते होत सून हाथ पाइ ठिरिकै।
द्यौस की छुटाई की बड़ाई बरनी न जाइ,
सेनापति पाई कछु सोचि कै सुमिरि कै।
सीत तैं सहस कर सहस चरन ह्वै कै,
ऐसे जात भाजि तम आवत है घिरि कै।
जौलौं कोक कोकी-कौं मिलत तौलौं होति राति,
कोक अधबीच ही तैं आवत है फिरि कै॥ ३-५१

हेमन्त के भीषण शीत का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि लोगों के जान के लाले पड़ गये हैं, ऐसा है शीत का प्रकोप। लोगों के हाथ ऐसे ठिठुर गये हैं, शून्य हो गये हैं कि कुछ करते ही नहीं बनता, तिनका तक नहीं उठता मानो वे अपने नहीं रहे हैं। मनुष्य हाथों के जलने की चिन्ता न करके ताप रहे हैं। सूर्य ऐसा कांतिहीन हो गया है मानो चित्र में लिखा हुआ हो। घाम इतनी पतली हो गई है कि वह ठंडी पड़ गई है। सेनापति कल्पना करता है कि शीत के कारण सूर्य ने अपने हाथों को वस्त्रों के अन्दर (आकाश में) छिपा लिया है—

आयौ जोर जड़काला, परत प्रबल पालौ,
लोगन कौं लालौ परयौ, जियैं कित जाइ कै।
मार्यौ चाहै बारि कर, तिन न सकत टारि,
मानौं हैं पराए, ऐसे भए ठिठराइकै।
चित्र कैसौ लिख्यौ, तेजहीन दिनकर भयौ,
अति सियराइ गयौ घाम पतराइ कै।
सेनापति मेरे जान सीत के सताए सूर,
राखे है सकोरि कर अंबर छिपाइ कै॥ ३-५५

कवि ने शीत का वास्तविक प्रभाव ही नहीं वर्णित किया है वरन् वास्तविक चित्र भी खींचा है। अत्यधिक जाड़े से हाथ-पैर शून्य हो जाते हैं। उनसे कुछ नहीं होता। लोग आग पर टूटते हैं। इसके साथ ही कवि अपने वैज्ञानिक निरीक्षण का ज्ञान भी भरता है। हवा पतली होकर ठंडी हो जाती है यह विज्ञान का सिद्धान्त है।

अलंकार रूप

जब कवि प्रकृति के अलंकारों की इतनी अधिकता कर देता है कि प्रकृति का अपना रूप दब सा जाता है तब प्रकृति का अलंकारिक रूप सामने आता है। केशव में तो अलंकार प्रियता कभी-कभी प्रकृति का गला घोंट देती है, उनकी गोदावरी अदृश्य हो जाती है और विरोधाभास का भारी भरकम रूप डटकर खड़ा हो जाता है। सेनापति ने भी कुछ ऐसे प्रयोग किये हैं। श्लेष के बल पर ग्रीष्म, वर्षा का रूप लेती है और वर्षा ग्रीष्म का। इससे आगे बढ़कर ग्रीष्म ऋतु भयंकर शीतवाली हेमन्त ऋतु हो जाती है और हेमन्त ऋतु, ग्रीष्म ऋतु का रूप धर लेती है। प्रकृति में यह सब असम्भव है। किन्तु अलंकार के बल पर काव्य जगत में सब कुछ सम्भव बन जाता है। तभी तो कहा गया है-"जहाँ न पहुँचै रवि, वहाँ पहुँचै कवि"। उदाहरण देखिये—

बेलैं छिति अंबर जलै है चारि ओर छोर,
तिन तर वर सब ही कौं रूप हरयौ है।
महाझर लागै जोति भादव की होति चलै,
जलद पवन तन सेक मानौ परयौ है।
दारुन तरनि तरैं नदी सुख पावैं सब,
सीरी घन छाँह चाहि बोई चित धरयौ है।
देखौ चतुराई सेनापति कविताई की जु,
ग्रीषम विषम वर्षा की सम करयौ है॥ ३-१८

रजनी के समै बिन सीरक न सोयो जात,
प्यारी तन सुथरी निपट सुखदाई है।
रंगित सुवास राखैं भूपति रुचिर साज,
सूरज की तपनि किरनि तन ताई है।
सीतल अधिक यातैं चन्दन सुहात परै,
आंगन ही कल ज्यौं-ज्यौं अगिनि बराई है।
ग्रीषम की रितु हिम रितु दोऊ सेनापति,
लीजियै समुझि एक भाँति सी बनाई है ॥ ३-१६

यही नहीं ग्रीष्म छत्रों ऋतुओं की सामग्री भी जुटा लेती है। पर ग्रीष्म का यह छओं ऋतुओं वाला रूप राजा-राव के आंगन में ही दिखाई दे सकता है। फव्वारे छूट रहे हैं, यही वर्षा ऋतु है। पानी का छिड़काव हो रहा है, यह शरद है। ठंडे खसखानों में हेमन्त, शिशिर बैठी है। फुलवाड़ी में वृक्ष फूलों से भरे हैं। यहाँ बसंत ऋतु दिखलाई पड़ेगी। इस प्रकार ग्रीष्म की संध्या में छः ऋतुएँ खोजी जा सकती हैं।

छूटत फुहारे सोई बरसा सरस रितु,
और सुखदाई है सरद छिरकाइ की।
हेमंत सिसिर हू तैं सीरे खसखाने, जहाँ,
छिन रहै तपति मिटति जब काइ की।
फूले तरु वर, फूलवारी फूल सौं भरत,
सेनापति सोभा सो बसंत के सुभाइ की।
ग्रीषम के समै साँझ, राज महलन माँझ,
पैयति है सोभा षटरितु समुदाइ की ॥ ३-२०

ऐसे उदाहरणों में कवि के नेत्र प्रकृति पर नहीं टिके हैं वरन् वह अलंकारिक चमत्कार जुटाने में लीन हो गया है। वह कहता है—पाठक या श्रोता, मेरा कमाल देखो, मैंने ग्रीष्म और हेमन्त को एक सा बना दिया है, एक ही ऋतु में सब ऋतुएँ भरदी हैं। यहाँ प्रकृति वर्णन गौण है, मुख्य है चमत्कार प्रदर्शन।

दृष्टिकोण

कवि ने यह ऋतु वर्णन नागरिक दृष्टि से किया है। यह ठीक है कि उसने बीच बीच में गाँव में खेलती और झूलती प्रकृति का चित्रांकन भी किया है किन्तु प्रधानता है नागरिक दृष्टिकोण की। वह नगर में बैठकर प्रकृति को धनिकों के आवास में बन्द पाता है और उसके अंग प्रत्यंग को निहारता है। साथ ही धनी नागरिक, ऋतुओं में किस सुख-सामग्री को जुटाते हैं इसके वर्णन की ओर बड़ा ध्यान दिया है।

जेठ निकट आने पर खसखाने सुधरते हैं, तहखाने झाड़े जाते हैं, फव्वारे सुधारे जाते हैं, गुलाब का इत्र और अरगजा तय्यार किए जाते हैं।

जेठ नजिकाने सुधरत खसखाने तल,
तान तहखाने के सुधारि धारियत है।
होति है मरम्मति विविध जल जंत्रन कौं,
ऊँचे - ऊँचे अटा, ते सुधा सुधारियत हैं।
सेनापति अतर गुलाब अरगजा साजि,
सार तार हार मोल लै लै धारियत है।
ग्रीषम के बासर बराइबे कौं सीरे सब,
राजभोग काज साज यौं सम्हारियत है ॥ ३-१०

राजा लोग क्या-क्या कर रहे हैं इस भयंकर गर्मी में ?

प्रात नृप न्हात, करि असन बसन गात,
पैधि सभा जाल जौ लौं बासर सुहात है।
पीछे अलसाने, प्यारी संग सुख साने, बिह-
रत खसखाने, जब घाम नियरात है।
लागे हैं कपाट, सेनापति रंग मंदिर के,
परदा परे, न खरकत कहूं पात है।
कोई न भनक, ह्वै कै चनक-मनक रही,
जेठ की दुपहरी कि मानों अधरात है ॥ ३-१३

राजा साहब ने कौन से शीतल पदार्थ एकत्र किये हैं ? खस की पंक्तियाँ लगी हैं, फव्वारे जल उछाल रहे हैं जिनमें सुगंध बसाई गई है, शरीर पर गुलाब पड़ा है, अरगजा लगा है।

सुन्दर बिराजैं राज मंदिर सरस ताके,
बीच सुख देनी, सैनी सीरक उसीर की।
उछरै सलिल, जल जंत्र ह्वै विमल उठैं,
सीतल सुगंध मंद लहर समीर की।
भीने हैं गुलाब तन सने हैं अरगजा सौं,
छिरकी पटीर नीर टाटी तीर तीर की।
ऐसे बिहरत दिन ग्रीषम के बितवत,
सेनापति दंपति मया तैं रघुबीर की ॥ ३-१७

फव्वारों का पानी ऊँचा उछल कर पुनः नीचे गिरता है। इस पानी के उछलने पर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानों जल यह देखने को उछल रहा है कि कहीं कोई

पेड़ सींचने से तो नहीं रह गया है (३—२२)। नारियाँ मोतियों को धारण करती हैं ताकि शीतलता मिले (३—२३)। वर्षा में वही स्त्री विरहिनी होकर अपने दूर बैठे पति से पुकार करती है कि मैं अकेली डर गयी हूँ। देखो, या तो तुरन्त आ जाओ नहीं तो विष की डली खाकर प्राण दे दूँगी।

इकली डरी हौं, घनु देखि कै डरी हौं, खाइ
बिस की डरी हौं घनश्याम मरिजाइ हौं ॥ ३-३० ॥

एक नगर वासिनी ही विष की डली पा सकती है। ग्रामीण विरहिनी होती तो सरिता सरोवर में डूबने की धमकी देती। शरद ऋतु में ये धनी लोग क्या करते हैं, इस पर भी कवि की दृष्टि पूर्णतया पहुँची है। शरद ऋतु में तेल लगाया जा रहा है, स्नान के लिए गरम हमाम तैयार है। ओढ़ने के लिए मूल्यवान शाल हैं, फिर सभा में ऐसे स्थान पर बैठते हैं जहाँ धूप पड़ रही है। ऐसे धनाढ्य या राजा लोगों के लिए यह अगहन मास की शरद ऋतु बड़ी सुखदाई है। अगर जल रहा है, सुगंध फैल रही है और सुखदाई मकान में सुख लूटा जा रहा है।

प्रात उठि आइबे कौं, तेलहिं लगाइबे कौं,
मलि - मलि न्हाइबे कौं गरम हमाम है।
ओढ़िबे को साल, जे बिसाल हैं अनेक रंग,
बैठिबे कौं सभा, जहाँ सूरज कौं घाम है।
धूप कौं अगर, सेनापति सोंधौ सौरभ कौं,
सुख करिबे कौ छिति अंतर कौं धाम है।
आए अगहन, हिम पवन चलन लागे,
ऐसे प्रभु लोगन कौं होत बिसराम है ॥३-४३॥

सम्मतियाँ

ऋतु वर्णन तो इनके ऐसा और किसी शृंगारी कवि ने नहीं किया है। इनके ऋतु वर्णन में प्रकृति निरीक्षण पाया जाता है।

—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल

इन्होंने षट् ऋतुओं का वर्णन किया है जो बड़ा ही हृदयग्राही हुआ है। इन्हें प्रकृति की सूक्ष्म-सूक्ष्म बातों का अनुभव भी था और इनका निरीक्षण भी विशेष मार्मिक था।

—डा० श्यामसुन्दर दास

ऋतु वर्णन भी इनकी अपनी विशेषता है। प्रकृति के सरस वर्णन में इनकी कोमलता भी दर्शनीय है।

—डा० रामकुमार वर्मा

सेनापति ने ऋतुओं को केवल उद्दीपन के ही रूप में नहीं देखा; आलंबन के रूप में भी निरखा।

—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र

प्रकृति वर्णन की दृष्टि से रीति परम्परा में सेनापति का स्थान विशेष है। सेनापति का प्रकृति वर्णन ऋतु वर्णन परम्परा के अन्तर्गत ही है, परन्तु इन्होंने कुछ स्थलों पर प्रकृति का स्वतन्त्र रूप उपस्थित किया है। सेनापति में कवित्व प्रतिभा के साथ प्रकृति का निरीक्षण भी है।

—डा० रघुवंश

राष्ट्रीय महाकवि भूषण

हिन्दी काव्य के इतिहास में भूषण का स्थान दो रूपों में सदा स्मरणीय रहेगा—(१) राष्ट्रीय कवि के रूप में और (२) वीर रस के कवि के रूप में। महाकवि भूषण रीतिकालीन कवि हैं और रीतिकालीन प्रभाव उन पर पर्याप्त पड़ा है। भूषण के शृंगार रस के भी कुछ छन्द मिले हैं। उन्होंने अलंकारों पर 'शिवराज भूषण' नामक लक्षण ग्रन्थ लिखा। उन्होंने अपने युग की भाषा एवं शैली को अपनाया। किन्तु इनके लिए हम उनके ऋणी नहीं हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि उनकी दो देन हैं—राष्ट्रीय कविता और वीर काव्य। भूषण, मध्य युग के अकेले राष्ट्रीय कवि हैं। वैसे तो तुलसीदास ने हमारे राष्ट्र की आत्मा को अंकित किया है किन्तु राष्ट्र की पददलित जनता के भावों को प्रकाश में लाने वाला कवि 'भूषण' ही है। कवि अपने युग का प्रतिबिम्बित्व करता है, यह बात भूषण पर पूर्णतया लागू है। तुलसीदास के बाद ऐसा दूसरा कवि भूषण ही है। कई समालोचकों का कथन है कि भक्ति काव्य निराशा का प्रतिफल था। हिन्दू जनता जब इहलौकिक समृद्धि से निराश हो गई तो वह भगवान की ओर झुकी। फलतः हिन्दी जगत में एक दिन भक्ति युग आया। यदि निराशा की दृष्टि से देखा जाय तो हुमायूँ-अकबर के युग से अधिक निराशा का युग था औरंगजेब का, जब उन पर अकथनीय अत्याचार हुए और उनके जीवन को चूस डाला गया था। किन्तु हम देखते हैं कि १८ वीं शताब्दी के इस काल में निराशा के स्थान में शृंगार की पिचकारियाँ छूट रही हैं, समृद्धि के प्रासाद चिने गये हैं जिनमें मखमली गलीचे बिछे हैं, छत्र के फव्वारों से शीतलता प्राप्त की जा रही है। रीतिकाल का परिचय देने वाले आलोचकों ने रीतिकालीन कवियों में रीतिकाल की प्रवृत्तियों को खोजा है। किन्तु तटस्थता से देखा जाय तो भूषण के अतिरिक्त अन्य कवियों में काल का प्रतिबिंब नहीं मिलता। एक ओर औरंगजेब की नृशंसताएं हिन्दुओं पर ढाई जा रही थीं, हिन्दुओं के मन्दिर मसजिद बनाए जा रहे थे, उनके ग्रन्थागार एवं ग्रन्थ अग्नि को खिलाये जा रहे थे, तो दूसरी ओर हिन्दुओं में भी प्रतिक्रिया दीख पड़ रही थी। वे निराशा और दुःख से अथवा इस अत्याचार का सामना कर रहे थे। पंजाब, राजस्थान और दक्षिण भारत में औरंगजेब का दृढ़ रूप विरोध हो रहा था, छत्रसालबुन्देल खण्ड में इस राष्ट्रीय यज्ञ का होता बना हुआ था। प्रजा में भी विरोध के लिए खड़े होने के उदाहरण मिलते हैं। गोसाइयों का संगठन इसका प्रमाण है किन्तु भूषण के अतिरिक्त किसी ने भी इस युग-धर्म का प्रतिबिंब नहीं दिया है।

एक बार प्रयास हुआ था कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग के पाठ्य-क्रम से भूषण को निष्कासित कर दिया जाय और कई वर्षों तक भूषण पाठ्यक्रम में रहा भी नहीं था। कारण : भूषण ने मुसलमानों को शत्रु माना है, उनका विरोध किया है और यह राष्ट्रीयता नहीं है। हिन्दू-मुसलमान दोनों राष्ट्रीय स्तम्भ हैं। उनमें से एक का विरोध राष्ट्रीय प्रेम का प्रतीक नहीं है। राष्ट्रीयता का कोई स्थिर सार्वभौम सिद्धान्त नहीं है। राष्ट्रीयता का दृष्टिकोण युग के अनुसार बदलता है।

ईसा से कई शताब्दी पूर्व यूनानियों ने भारत पर आक्रमण किया। उनका विरोध करना राष्ट्रीयता का प्रतीक बन गया। इसलिये इनकी सहायता करने वाले गान्धार नरेश को देशद्रोही एवं अराष्ट्रीय कहा गया और उनसे लोहा लेने के कार्य को राष्ट्र धर्म बताया गया। चन्द्रगुप्त और चाणक्य के सभी लेखकों ने यही कहा है। प्रसाद जी इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। आततायी शकों से लोहा लेने वाले विक्रमादित्य को राष्ट्र ने अपने स्मरण-सिंहासन पर बैठा लिया है। अंग्रेज विदेशी थे। अंग्रेजों के विरोध में हिन्दू-मुसलमान कन्धे से कन्धा भिड़ा कर खड़े हो गये और भाई-भाई के नारे से आकाश को बहरा बनाने लगे। किन्तु यूनानी, शक और अंग्रेजों के रूप में जब मुसलमान दिखाई दें तो उनका विरोध करना क्या राष्ट्रीयता का चिह्न नहीं है? मुसलमानों ने शकों से अधिक बर्बरतायें दिखाईं। धर्मान्धता में उन्होंने हिन्दुओं को मानव नहीं माना, उनके बाल बच्चों पर भेड़ बकरों से अधिक कठोरता दिखाई एवं उनको सब प्रकार से रौंदा। फलतः उनका विरोध हुआ। उनका सामना करने वाले प्रताप एवं शिवाजी राष्ट्रीय नेताओं की श्रेणी में उसी प्रकार आए जिस प्रकार आगे मालवीय जी एवं महात्मा गांधी आए। बापू के गीत गाने वाला कवि यदि राष्ट्रीय है, प्रताप की यश-ध्वजा उड़ाने वाला यदि देशभक्त गायक है तो शिवाजी के गुणों का उद्घाटक, भूषण कवि भी राष्ट्रीय कवि है। जैसे १९२१ से १९४७ तक अंग्रेजों का विरोध राष्ट्रीय धर्म माना गया उसी प्रकार औरङ्गजेब के युग में मुसलमान शासकों से संघर्ष लेना राष्ट्रीय कर्त्तव्य था। भूषण तो भारतेन्दु जी से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले हुआ था। स्वयं भारतेन्दु जी के नाटकों एवं काव्यों में हिन्दू राष्ट्रीयता है। फिर भूषण की तो बात ही क्या कही जाय?

एक बात कही जा सकती है कि भूषण ने तो अपने आश्रयदाताओं की चापलूसी की है। आश्रयदाताओं ने उन्हें धन दिया और विनिमय में उन्होंने उनका गुण गाया जैसा कि रीतिकाल के अन्य कवियों ने किया। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि केशवदास के बाद हिन्दी जगत में सबसे अधिक आर्थिक लाभ दो ही रीतिकालीन कवियों को हुआ है, और वे हैं, महाकवि बिहारी एवं कवि-भूषण 'भूषण'। जनश्रुति में कहा गया है कि जब भूषण प्रथम बार शिवाजी से मिले तो शिवाजी ने उन्हें ५२ गाँव ५२ हाथी और ५२ लाख

रुपए प्रदान किये थे। बाद में भी शिवाजी ने भूषण को बहुत कुछ दिया था। इस कथन में दान की अत्युक्ति भले ही हो किन्तु शिवाजी द्वारा भूषण को बहुत धन और मान मिला था। छत्रसाल ने तो भूषण की पालकी का डंडा ही अपने कन्धे पर उठा लिया था। कुमायूँ नरेश का दान तो उन्होंने अस्वीकृत कर दिया था क्योंकि उनके पास शिवाजी का दिया वैभव बहुत था। शिवाजी और छत्रसाल की प्रशंसा उन्होंने दिल खोल कर की। अवश्य यह अपने कृपालु आश्रयदाताओं की प्रशंसा थी। किन्तु छन्दों के देखने से स्पष्ट हो जाता है कि भूषण अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा इसलिए नहीं कर रहा है कि वे धन देते हैं, वरन उन्होंने धर्म की रक्षा की है और हिन्दू समाज को बचाया है। शिवाजी और छत्रसाल धर्मवीर हैं और उनकी धर्मवीरता की प्रशंसा कवि पद-पद पर करता है। धन तो भूषण अपने बड़े भाई के समान औरंगजेब के दरबार से भी पा सकते थे। किन्तु उन्हें अत्याचारी औरंगजेब फूटी आँखों न भाता था। एक बार जब वे बड़े भाई के आग्रह पर औरंगजेब के दरबार में गए भी, तो उन्होंने औरंगजेब को शृङ्गार परक छन्द नहीं सुनाए, वरन कवि की ओज एवं वीरतामयी वाणी को सुन कर औरंगजेब का हाथ तुरन्त फड़का और मूँछों पर गया। बादशाह ने कवि को पकड़ना भी चाहा। भूषण को धन तो हृदयराम और कुमायूँ नरेश से भी मिल जाता, बूँदी नरेश भी दे देता किन्तु उसका हृदय तो राष्ट्र नेता पर ही न्यौछावर था। वह तिकवाँ पुर (कानपुर जिला) से चल कर महाराष्ट्र में शिवाजी के पास गया। यह कहावत प्रसिद्ध है कि बिहारी भूषण नहीं हो सकता और भूषण बिहारी नहीं। इसका अर्थ है कि कवि की अपनी रुचि, प्रवृत्ति और अनुभव का काव्य रचना में बहुत योग रहता है। जिसे जल जीवन का अनुभव नहीं, वह इस जीवन का वास्तविक एवं मार्मिक चित्र केवल कल्पना के बल पर नहीं खींच सकता है। अनेक प्रगतिवादी कवि सफल न हो सके क्योंकि उन्होंने अपने पैर उच्च या मध्यम वर्ग के भवन में रक्खे और मस्तिष्क से निम्न वर्गीय जीवन की कल्पना की, भंगी या भिखारी का बौद्धिक वर्णन किया। भूषण के एक हाथ में लेखनी रहती थी और दूसरे में तलवार। उसे देश और धर्म पर मर मिटने वालों में स्थान मिला था, उसने युद्ध-मय जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव किया था और उसने धर्म पर होम होने वाले वीरों के हृदय-स्पन्दन को सुना था। फलतः वह उस राष्ट्रीय और वीर काव्य का प्रणयन कर सका जो हिन्दी जगत में अमर हो गया।

शिवाजी देश और धर्म रक्षक थे, इतिहास इसका साक्षी है और इसी भाव से उन्होंने औरंगजेब एवं अन्य मुसलमान नवाबों के विरुद्ध जहाद छेड़ा था। उन्हें राज्य का लोभ न था। राज्य को तो एक बार उन्होंने अपने गुरु को दे दिया था। वे हिन्दुओं पर हथियार उठाना पसन्द नहीं करते थे, यह बात उनके उस पत्र से स्पष्ट है जो उन्होंने मिर्जा राजा जयसिंह को लिखा था; उनकी तलवार धर्म की रक्षा में उठी

थी, हिन्दू धर्म विरोधियों का रक्त पीने को निकली थी। भूषण ने शिवाजी के इस रूप को बारम्बार सराहा है। भूषण कहते हैं कि हिन्दुओं को धीरज बँधाने वाले केवल शिवाजी थे।[1] वे तुर्कों को क्यों मारते हैं? केवल हिन्दुओं के त्राण करने के लिए, उन्हें हरा-भरा बनाने के लिए।[2] शिवाजी के ही बल पर हिन्दुओं के भाग्य ने पलटा खाया है[3] और इस युग में हिन्दुओं की शोभा शिवाजी के प्रताप से ही बढ़ रही है[4]। शिवाजी मुसलमानों का 'सार' हर कर हिन्दुओं को दान करते हैं।[5] शिवाजी ने द्रौपदी के समान हिन्दुओं की लाज बचाई है।[6] बादशाह औरंगजेब दीन हिन्दुओं को सताने में जुटा है, उसका हिन्दू पति शिवाजी से कोई बस तो चलता नहीं।[7] औरंगजेब एवं अन्य मुसलमान सरदारों ने हिन्दुओं की एवं उनके मन्दिरों की दुर्गति कर दी है। मुस्लिम दीवाने मन्दिर गिरा रहे थे। हिन्दुओं के देवी-देवता कहीं जा छिपे थे। उनका तेज भी जाता रहा था। चारों ओर मुसलमानों की धाक थी। हिन्दू राजा, राणा और नवाब नीचा सिर किये रहते थे।[8] हिन्दू जनता की सहायता करने को कोई आगे नहीं आ रहा था। काशी का विश्वनाथ मन्दिर औरंगजेब ने तोड़ डाला था। उसने मथुरा के मन्दिरों की जगह मस्जिदें खड़ी कर दी थीं। हिन्दू हताश थे। ऐसे समय में हिन्दुओं की रक्षा शिवाजी ने की और उन्हें मुसलमान होने से बचाया।[9] कोई हिन्दू राव-राजा हिन्दुओं की सहायता नहीं कर रहे थे। तब शिवाजी के मन में

---

१. साहस अपार हिन्दुवान को अधार धीर। —शिवराज भूषण—१०

२. (क) भूषन जहान हिन्दुवान के उबारिबे को
तुरकान मारिबे को बीर बलकत है। (३२८)

(ख) तुरकान मलिन कुमुदिनी करी है
हिन्दुवान नलिनी खिलायो विविध विधान सों। (६६)

(ग) हिन्दु को दिवाल भयो काल तुरकान को। (७३)

३. भूषन कहत हिन्दुन को भाग फिरे। (१४१)

४. जाहिर चारिहु ओर जहान लसै हिन्दुवान खुमान सिवा सों। (१२६)

५. संगर में सरजा शिवाजी अरि सैनन को
सारु हरि लेत हिंदुवान सिर सारु दै॥ (२४६)

६. हिंदुवान द्रुपदी की इज्जति बचैबे काज।
झपटि बिराट पुर बाहर प्रमान कौं॥ (३२९)

७. हिंदुन के पति सों न बिसात सतावत हिंदु गरीबन पाय कै॥ (२५९)

८. शिवराज भूषण—१३३, १३७ शिवाबावनी १६, १७, ४२।

९. (क) देवल गिरावते फिरावते निसान अली।
ऐसे समै राव राने सबै गए लब की॥
गौरा गनपति आप औरंग को देखि ताप।
आपने मुकाम सब मारि गए दबकी॥

हिन्दुओं की रक्षा और यवनों के नाश का विचार हुआ और उत्साह बढ़ा। महाराज शिवाजी हिन्दू-रक्षार्थ युद्ध में कूद पड़े।[1] और उनकी रक्षा की भी। महाराज शिवाजी ने हिंदुत्व की रक्षा की। उनके धर्म ग्रन्थ जलने से बचाए। यही नहीं राजपूतों को भी सहारा दिया। हिन्दू धर्म उनके कारण बच गया। देश-देश में शिवाजी की कीर्ति बखानी गई। मैंने भी सुनी। तब मैं भी उनके पास गया।[2] मैंने देखा यह कीर्ति सत्य थी। शिवाजी ने तलवार के बल से वेद और पुराणों को लुप्त होने से बचाया। हिन्दू बेचारे डर के मारे 'राम' का नाम भी नहीं ले पाते थे। महाराज शिवाजी ने उनसे राम नाम कहलाया। हिन्दुओं की चोटी सरे बाजार काट ली जाती थी। शिवाजी ने इस चोटी को भी सरों पर धरवाया। हिन्दू सिपाहियों को अपने यहाँ रक्खा। उन्होंने कहा—लो मैं जनेऊ माला पहिनता हूँ। हिन्दुओ! तुम भी पहिनो। हिन्दुओं ने पहिना। मन्दिरों को बचाया, टूटों को जोड़ा. मूर्तिहीनों में मूर्ति की स्थापना की। इस प्रकार भारत में उन्होंने हिन्दू धर्म की रक्षा[3] की। इसी कारण भूषण ने

पीरा पैगम्बरा दिगम्बरा दिखाई देत।
सिद्ध की सिधाई गई रही बात रब की।
कासी हू की कला गई मथुरा मसीत भई॥
सिवाजी न होतो तो सुनति होत सबकी। —शिवा बावनी १८

(ख) शिवाबावनी—१९, २०।

१. काज मही सिवराज बली, हिन्दुवान बढ़ाइबे को उर ऊटै
भूषन भू निरम्लेच्छ करी चहै, म्लेच्छन मारिबे को रन जूटै॥
—शि० भू० २७६

२. राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यो
अस्मृति पुरान राखे वेद विधि सुनी मैं॥
राखी राजपूती रजधानी राखी राजन की
धरा पै धरम राख्यो राख्यो गुन गुनी मैं॥
भूषन सुकवि जीति हद्द मरहट्टन की
देस-देस कीरति बखानी तव सुनी मैं।
साहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी
दिल्ली दल दाबि कै दिवाल राखी दुनी मैं॥
—शिवा बावनी ५०

३. वेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर मैं।
हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की
काँधे में जनेऊ राख्यो माला राखी गर मैं।

महाराज शिवाजी को "हिन्दुस्तान स्तम्भ"[1] "हिन्दु पति",[2] गाजी[3] इत्यादि नामों से विभूषित किया है, और उन्हें धर्म एवं भक्त रक्षक भगवान राम, कृष्ण, नृसिंह एवं परशुराम का अवतार बताया है। उनका यश गाते भूषण कभी अघाते नहीं। मध्यकाल के किसी कवि ने इस भावना से अपने आश्रयदाता का गुणगान नहीं किया है।

रीतिकाल को शृंगार काल भी कहा गया है क्योंकि इस काल के अधिकांश कवियों ने शृंगार रस की रचना की है। इस काल के भक्त कवियों ने शृंगार को भी बहुत बड़ा स्थान दिया। रसखान और घनानन्द इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। भूषण नामक कवि के शृंगार रस के चार छः उदाहरण मिले हैं। अभी निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये शृंगार छन्द महाराज शिवाजी का यश गान करने वाले महाकवि भूषण के हैं अथवा किसी अन्य भूषण कवि के। हिन्दी साहित्य में एक नाम के अनेक कवि मिले हैं। प्रायः प्रसिद्ध कवि के नाम को अपनाकर कविता लिखना एक परिपाटी बन गई है। हमें चार तुलसी और चार सूरदास दिखाई पड़ते हैं। रीति-काल की शृंगार कविता के अतिरिक्त भक्ति की कविता भी इस काल में प्रचुर परिमाण में प्राप्त होती है। बिहारी, सेनापति, पद्माकर, देव, केशव जैसे शृंगारी कवियों ने भक्ति उद्गार भी प्रगट किए। भक्ति कविता तीन प्रकार की है - (१) प्रेमी-भक्तों की कविता रसखान, घनानन्द, नागरीदास, किशोरी शरण, अलबेली अलि, चाचा हित वृन्दावनदास, भगवति रसिक इत्यादि अनेक भक्तों के मुख से प्रवाहित हुई है। (२) युवा-वस्था में शृंगार सरिता में अवगाहन करने वाले कवि भी वृद्धावस्था में भक्त बन गये एवं भक्ति परक कविता भी लिखी। सेनापति एवं केशव इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। (३) जीवन में मनुष्य जब तब प्रायः भगवान के प्रति दृष्टि दौड़ाया करता है एवं भक्ति परक उद्गार प्रगट करता है। दुःख, निराशा या अतर्क्य सफलता पाकर वह भक्ति के भावों से विभोर हो जाता है। अतः शृंगारी कवि भी जीवन में यदा-कदा भक्ति परक कविता बना दिया करता है। बिहारी के अनेक दोहे इसके उदाहरण हैं। रीतिकाल

मींड़ि राखे मुगल मरोड़ि राखे पातसाह
बैरी पीसि राखे बरदान राख्यो कर मैं।
राजन की हद्द राखी तेग बल सिवराज
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर मैं॥

१. शिवराज भूषण १२६
२. " २३८
३. " १६१
४. " ११, १४०, १६६, २३०, २६६, ३५०

में भक्ति काव्य की भी कमी नहीं है। किन्तु वीर रस के कवि भी इने गिने ही हुये हैं जिनमें भूषण का स्थान सर्वोपरि है। पद्माकर, ग्वाल, बनवारी लाल, सूदन, जोधराज इत्यादि कुछ कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में वीर रस को अपनाया है किन्तु भूषण ने तो वीर रस के स्पष्टीकरण के ही लिये जन्म लिया था। भक्ति और रीति काल के वीर-काव्यकारों में भूषण का स्थान अद्वितीय है और जब कभी-कभी हिन्दी के पाठकों या विद्वानों में कवि चर्चा होती है तो वीर रस के कवि के रूप में भूषण का नाम तुरन्त वहाँ आ पहुँचता है। भूषण ने यह स्थान विज्ञापन के बल पर प्राप्त नहीं किया है। वास्तव में भूषण की वीर रस की कविता अन्य कवियों से बढ़ चढ़ कर है जिसमें वीर रस का परिपाक बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है, जिसमें वीर-भाव की विविध श्रेणियाँ बल, ओज और आतंक के साथ खड़ी दिखाई देती हैं, जिसमें भाषा वीर भावों के पीछे-पीछे चलती हुई दर्शकों को आकृष्ट करती है।

वीर रस का आश्रय कोई वीर ही होता है। यह वीर कई प्रकार का हो सकता है। भूषण ने शिवाजी का चित्रण इन रूपों में किया है :—

(१) युद्ध वीर,
(२) दान वीर,
(३) धर्म वीर, और
(४) सत्य वीर।

किन्तु प्रधानता प्राप्त हुई है युद्ध वीर रूप को ही।

युद्ध वीरता के क्षेत्र में शत्रु आलम्बन होता है। शिवाजी पक्ष में आलम्बन है औरङ्गजेब या अन्य कोई मुस्लिम सरदार। भूषण ने युद्ध वीरता के अनेक चित्र खींचे हैं। कभी वे नायक एवं उसके सहायकों का उत्साह प्रदर्शित करते हैं जो वीर रस का स्थायी भाव है।

साजि चतुरंग वीर रंग में तुरंग चढ़ि
सरजा शिवाजी जंग जीतन चलत हैं।
भूषण भनत नाद बिहद नगारन के
नदी नद मद गैबरन के रलत हैं।
ऐल फैल खैल भैल खलक में गैल-गैल
गजन की ठेल-पेल सैल उसलत हैं।
तारा सो तरनि धूरि धारा में लगत जिमि
थारा पर पारा पारावार यों हलत हैं॥

—शिवाबावनी, १

कवि वे वास्तविक युद्ध का वर्णन करते हैं। दोनों सेनाएँ आमने-सामने आ कर लड़ने लगीं :—

उतै पातसाहन के गजन के ठट्ठ छूटे
उमड़ि घुमड़ि मतवारे घन कारे हैं।
इतै सिवराज जूके छूटे सिंहराज औ
विदारे कुम्भ करिन के चिक्करत भारे हैं।
फौजें सेख सैयद मुगल और पठानन की
मिलि इखलास खां हू मीर न संभारे हैं।
हद्द हिन्दुवान की बिहद्द तरवारि राखि
कैयो बार दिल्ली के गुमान झारि डारे हैं॥

—शि० बा०, २३

शिवाजी ने इस युद्ध में कैसी वीरता दिखाई है—

छूटत कमान और गोली तीर बानन के
मुसकिल होत मुरचान हूँ की ओट में।
ताहि समै सिवराज हुकुम कै हल्ला कियो
दावा बाँधि परा हल्ला बीरबर जोट में।
'भूषन' भनत तेरी हिम्मत कहाँ लौं कहौं,
किम्मति इहाँ लगि है जाकी भट झोट में।
ताव दै दै मूंछन कंगूरन पै पाँव दै दै
अरि मुख घाव दै दै कूदि परे कोट में॥

—शि० बा०, २२

इस छन्द में वीर रस के परिपाक की पूरी सामग्री उपलब्ध है।

आश्रय—ताहि समै शिवराज

आलम्बन—अरि और उसका ऐश्वर्य

उद्दीपन—छूटत कमान अरु गोली तीर बानन के

अनुभाव—(क) हुकुम कै हल्ला कियो
(ख) ताव दै दै मूंछन कंगूरन पै पाँव दै दै

संचारी—उग्रता, गर्व

युद्ध वर्णन के अन्तर्गत बड़े ओजपूर्ण शब्दों में भूषण ने शिवाजी एवं उनकी सेना का युद्ध करते समय का चित्र खींचा है। युद्ध के समय शिवाजी एवं उसके योद्धाओं का उत्साह कैसा है इसका उदाहरण है ऊपर का छन्द।

अन्तिम चरण में गति तीव्र से तीव्रतर और तीव्रतम होती है। योद्धा मूँछों पर ताव देते हैं, कंगूरों पर चढ़ते हैं और तुरन्त कूद पड़ते हैं एवं कूदने के साथ ही शत्रुओं के मुखों को घाव से पूर्ण कर देते हैं। किन्तु भूषण ने वास्तविक युद्ध वर्णन बहुत विस्तार से नहीं किया है। इसके स्थान पर युद्ध का फल और शिवाजी का त्रास बहुत दिखाया है। भूषण शिवाजी की शत्रुता का फल बड़े चाव और विस्तार से बताते हैं। वे बताते हैं कि जिन स्थानों पर अगर की सुगन्ध उठती थी वहाँ अब धूल उड़ती है, जहाँ छत्तीसों राग गाए जाते थे वहाँ भूत प्रेत रोते हैं, जहाँ मृदङ्ग-मंजीरे बजते थे वहां अब सिंह हाथी गरजते हैं।[1] शत्रु म्लेच्छों का बुरा हाल है। शत्रु 'सरजा' का नाम सुनकर कांपते हैं। यदि कोई सिंह को देखकर भागे हुए मुस्लिम योद्धाओं से वन में कह देता है कि 'सरजा' आता है तो वे कांपने लगते हैं।[2] म्लेच्छों के सब देश और राज्य शिवाजी से पराजित हो चुके हैं और डरते हैं, काँपते हैं, थरथराते हैं, बिलखाते हैं, रात को बैठे रहते हैं, कभी खड़े हो जाते हैं, आह करते हैं और भय खाते हैं। बादशाह चौंक पड़ता है।[3] शिवाजी के आतंक और त्रास का वर्णन प्रकारान्तर से भी किया गया है। एक मनसबदार घर लौटा तो उसका बुरा हाल था। वे रो रहे थे, काँप रहे थे, उनका सीना धुकड़-पुकड़ कर रहा था, इधर-उधर न देख सीधे बीबी पर झपट रहे थे। बेगम यह हाल देख मुस्कुराती हुई बोली—क्यों जनाब? मैं जान गई हूँ। सच बताइये कि औरङ्गजेब ने दक्षिण का सूबेदार बना दिया है क्या।[4] औरङ्गजेब ने अनेक मनसबदारों से कहा—तुम सब दक्षिण में जाओ। वे घर आये। उनकी बेगमें बोलीं—ना ना, ऐसी मूर्खता कभी न करना?

साजि चमू जनि जाहु सिवा पर सोवत सिंह न जाय जगाओ।
तासों न जंग जुरौ न भुजंग महा विष के मुख में कर नाओ॥
'भूषन' भाषति बैरि-बधू जनि एदिल औरंग लौं दुख पाओ।
तासु सलाह की राह तजो मति नाह दिवाल की राह न धाओ॥

—शि० बा० २६

ये सब दरबार में आये और हाथ जोड़ कर औरङ्गजेब बादशाह से कहते हैं—

जौर करि जैहैं जुमिला हू के नरेस पर
तोरि अरि खंड-खंड सुभट समाज पै।

---

१. शिवराज भूषण छन्द २४४
२. वही ३२४
३. शि० बा० २५, ३२, ४१ शि०भू० २२८
४. शि० भू० ३५२

'भूषन' असाम सम वलख बुखारे जे हैं
चीन सिन्हद तरि जलधि जहाज पै ।।
सब उमरावन की हठ कूरताई देखौ
कहै नवरंगजेब साहि सिरताज पै ।
भीखि माँगि खैहे बिन मनसब रैहें
पै न जैहें हजरत महाबली सिवराज पै ।।

—शि० बा० २७

केवल पुरुषों तक ही नहीं, शिवाजी का भय और त्रास हरमों में पहुँचा और उस आतंक ने बेगमों की बड़ी दुर्दशा की। भूषण ने उनकी इस अवस्था का वर्णन कई छन्दों में किया है।[1] बीजापुर की बेगमों के हाथों में चूड़ियाँ नहीं रही हैं और आगरे व दिल्ली की बेगमों ने तो अपने माथे पर सिन्दूर लगा लिया है।[2] शिवाजी के नगारों की धमक सुनकर बेगमें भागने लगती हैं तो उनके बाल छूटने लगते हैं और उनमें लगे लाल छूट कर गिर रहे हैं।[3] वे रोती हैं तो दिल्ली आगरे की जमुना उनकी आँखों के काले काजल से और अधिक काली पड़ जाती है।[4] ये आलीशान हरमों में कोमल पुष्प शय्याओं पर सोने वाली बेगमें नगर से बाहर धूप-वर्षा में भाग रही हैं और उन्हें अपने वस्त्राभूषणों के छूटने की तनिक भी चिन्ता नहीं है। भूषण ने यमक के प्रयोग द्वारा इन छन्दों में बेगमों के पुराने आनन्द और सुख का एवं वर्तमान त्रास और भय का चित्रण किया है। वे कहते हैं—

ऊंचे घोर मन्दर के अन्दर रहन वारी
ऊंचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं।
कन्द मूल भोग करैं कन्द मूल भोग करैं
तीन बेर खाती ते वे तीन बेर खाती हैं।।
भूषन सिथिल अंग भूषन सिथिल अंग
बिजन डुलाती ते वे बिजन डुलाती हैं।
भूषन भनत सिव राज वीर, तेरे त्रास
नगन जड़ाती ते वे नगन जड़ाती हैं।।

—शि० बा० ७

---

१. शि० भू० १६६, १७०, १७३, १९१, २५१, ३०० एवं शि० बा०—५, ६, ७, ८, ९, १०, ११

२. शि० भू०—१७३।

३. वही १९१।

४. वही ३००।

उतरि पलंग ते न दियो है धरा पै पग
तेऊ सगबग निसिदिन चली जाती हैं।
अति अकुलातीं मुरझातीं न छिपातीं गात
बात न सुहातीं बोलें अति अनखाती हैं॥
'भूषन' भनत सिंह साहि के सपूत सिवा
तेरी धाक सुनै अरि नारी बिललाती हैं।
कोऊ करैं घाती कोऊ रोती पीट छाती घरै
तीन बेर खातीं तेऽब तीन बेर खाती हैं॥

—शि० बा० ८

अन्दर ते निकसी न मन्दिर को देखो द्वार
बिन रथ पथ ते उघारे पाँव जाती हैं।
हवाहू न लागती ते हवा ते बिहाल भई
लाखन की भीरु में सम्हालती न छाती हैं।
'भूषण' भनत शिवराज तेरी धाक सुनि
हयादारि चीर फारि मन झुंझलाती हैं।
ऐसी परी नरम हरम बादसाहन की
नासपातीं खातीं ते वे नासपाती खाती हैं॥

—शि० बा० ६

इन छन्दों से प्रगट होता है कि भूषण ने बड़े मनोयोग से इन भागती स्त्रियों की दुर्दशा का चित्रण किया है किन्तु शालीनता की दृष्टि से क्या यह उचित माना जायगा ? नहीं; विशेषतया इन छन्दों के ये शब्द "नगन जड़ाती हैं" (७), "न छिपाती गात" (८), और "सम्हारती न छाती हैं" (६)। इसी प्रकार एक अन्य छन्द में बेगमों की सुथनियां भी छुड़वा देते हैं (शि० बा० ५)। कहाँ एक ओर शिवाजी का चरित्र कि वह शत्रु की रूपवती स्त्री को सादर भेज देते हैं और उस महिला को बलपूर्वक लाने वाले अपने सेनानायक को दण्ड देते हैं; और कहाँ भूषण का ऊपर की मुगल स्त्रियों का वर्णन। इससे यह भी सिद्ध है कि शिवा बावनी के ये ५२ छन्द महाराज शिवाजी ने नहीं सुने थे क्योंकि इन चार (५, ७, ८, ६) छन्दों में वर्णित स्त्री दुर्दशा को वे कभी पसन्द न करते।

घनानन्द और रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ

शुद्ध काव्य की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में रीतिकाल सर्व श्रेष्ठ है। रीतिकालीन कवियों ने कविता-कामिनी के मन और तन को खूब सजाया और संवारा। इन कवियों में घनानन्द का नाम भी बड़े आदर के साथ याद किया जाता है। रीतिकालीन कवियों में घनानन्द के पास बड़ा ही भावुक, सरस और आर्द्र हृदय था। रीतिकाल के जब अनेक कवि नायक नायिकाओं के बाहरी रूप-रंग को निहार कर पुलकते रहे तब कविवर घनानन्द ने उनके हृदय की तहों को उलट-पुलट कर परखा। फलतः घनानन्द की कविता में हृदय आकर बैठ गया है और वह स्वयं अपनी भाव-भरी कहानी सुनाता है। उनके छन्दों के हृदय से वह मनोहर नदी निकल कर बहती है जिसमें पाठक एवं श्रोता गोता लगाकर आनन्द विभोर हो जाते हैं। ब्रजनाथजी का कथन है—ऐ श्रोता तू घनानन्द की कविता सुनना चाहता है? ऐ पाठक तू घनानन्द के कवित्त पढ़ने का इच्छुक है? अच्छा तो तेरे अन्दर ये गुण हैं या नहीं? यदि हैं तो तू इस कमल वाटिका से रस ग्रहण कर सकेगा। क्या तू परम स्नेही है? क्या तेरे नेत्र सौन्दर्य को परख सकते हैं? क्या तेरा मन भावों से भरा है? क्या तेरे हृदय में प्रिय की चाह जग गई है? क्या तेरी दृष्टि में नेह की पीर है? यदि ये गुण हैं तो आ मेरे साथ और इस सुधा-रस में डुबकी लगाले[1]। कविता में हृदय की प्रधानता देखते हुए ही उन्हें भाव-प्रधान कवि, चंडीदास और सूरदास के राजप्रासाद में सिंहासनासीन करना पड़ता है।

रीति बद्ध कविता होने के कारण इनके काल को रीतिकाल कहा गया है। रीतिकाल में तीन प्रकार के कवि मिलते हैं—रीतिकार, रीति भुक्त और रीति मुक्त। रीति ग्रन्थों का प्रणयन करने वाले कवि रीतिकार कवि हैं, जैसे—प्रतापसाहि, कुलपति

---

१. नेही महा, ब्रजभाषा प्रबीन और सुन्दरतानि के भाव को जानै।
जोग बियोग की रीति में कोबिद, भावना भेद स्वरूप को ठानै।
चाह के रंग में भीज्यौ हियो, बिछुरैं मिलैं प्रीतम सांति न मानै।
भाषा प्रबीन, सुछन्द सदा रहै, सो घन जी के कवित्त बखानै॥

प्रेम सदा अति ऊँचो लहै सु कहै इहि भाँति की बात छकी।
सुनि कै सबके मन लालच दौरै, पै बौरै लखै सब बुद्धि चकी।
जग की कविताई के धोखें रहैं, ह्याँ प्रबीनन की मति जाति जकी।
समुझै कविता घन आनंद की हिय आँखिन नेह की पीर तकी॥

मिश्र, सुखदेव, देव, भिखारीदास, सोमनाथ। इन्हें आचार्य कवि भी कहा जाता है। रीति मुक्त कवि वे हैं जिन्होंने रीति ग्रन्थों की रचना तो नहीं की है किन्तु रीति-रूढ़ियों को ध्यान में रखा है। इनकी कविता में रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। इस वर्ग में बिहारी और सेनापति रखे जा सकते हैं। रीति मुक्त कवि वे हैं जिन्होंने न तो रीति ग्रन्थ ही लिखे हैं और न रीति-रूढ़ियों को ही ध्यान में रखा है, वरन् नितान्त स्वतन्त्र होकर हृदय की आवाज को सुना है और कविता में उसे भरा है। बहुत से आलोचक घनानन्द को इसी तीसरी श्रेणी में रखते हैं। इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि घनानन्द ने हृदय का प्रकाशन मन की मौजों में बहकर किया है किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि उन्होंने रीतिकालीन रूढ़ियों के प्रभाव को ग्रहण किया है। फलतः उनमें रीतिकालीन प्रवृत्तियों के दर्शन उसी प्रकार होते हैं जिस प्रकार कि सेनापति और बिहारी में। बिहारी सेनापति और घनानंद में अंतर केवल इतना ही है कि जहाँ उन दोनों कवियों ने हृदय की ओर ध्यान कम ही दिया है वहाँ घनानंदजी ने हृदय को ही निकालकर कविता में रख दिया है और हृदय के साथ ही साथ रीतिकालीन प्रवृत्तियों अथवा परम्पराओं का भी निर्वाह हो गया है। ब्रजनाथ जी ने अपने दोनों छन्दों में इस बात की ओर स्पष्ट संकेत किया है। वे कहते हैं कि इनकी कविता में भाषा-सौन्दर्य के सभी ढंग, कलात्मक सौन्दर्य, संयोग वियोग की रीति, छन्द-सौन्दर्य और निर्माण-कुशलता मिलेंगे।

रीतिकाल की दो सामान्य प्रवृत्तियाँ हैं—शृङ्गार और कलात्मकता। इन दोनों के अन्तर्गत निम्न प्रवृत्तियाँ विशेषतया लक्षित होती है—

शृङ्गार के अन्तर्गत—

(१) रीति प्रसंग-आलिंगन, चुम्बन, आदि।

(२) सुरतांत वर्णन।

(३) प्रेम-क्रीड़ा, छेड़-छाड़, फाग इत्यादि।

(४) नायिका भेद।

(५) नखशिख वर्णन।

(६) प्रकृति का उद्दीपक स्वरूप।

कला के अन्तर्गत—

(७) उक्ति वैचित्र्य।

(८) मुहावरों का चमत्कारिक प्रयोग।

(९) अलंकरण की ओर विशेष ध्यान।

(१०) भाषा की आलंकारिकता।

शृंगार प्रवृत्ति

संयोग-श्रृङ्गार का रस प्रवाही वर्णन तो भक्ति काल में भी हुआ था किन्तु रीति-काल के संयोग-वर्णन में तो सुरति ने अपना असाधारण बल दिखाया। देव का अष्ट-याम इसका सुन्दर उदाहरण है। अष्टयाम में कृष्ण की दिनचर्या वर्णित है। हम इस आशा से पुस्तक के पास जाते हैं कि उस महापुरुष के जीवन-यापन की प्रणाली प्राप्त होगी, किन्तु उसमें चित्रित मिलता है आठ पहर का सुरति-विहार। रीति-मुक्त कवि बिहारी ने अपनी सतसई में रीति-प्रसंग के अनेक चित्र खींचे हैं। प्रथम-मिलन के उत्साह का स्वाद सतसई में प्रचुर परिमाण में है।[1] रति प्रसंग में 'नहीं' की अदा प्रदर्शित की गई[2] है, रति के आरम्भ का चित्र खींचा गया है,[3] रति के भिन्न-भिन्न झगड़े उघाड़े गए हैं,[4] विपरीत रति में मन लगाया गया है[5] एवं सुरतान्त की दशाओं को परखा गया है।[6] घनानन्द ने भी इन प्रसंगों को चाव से अपनाया है। नायका एकान्त में बैठकर नायक की प्रतीक्षा कर रही है।[7] नायक आता है और दोनों आलि-गन-बद्ध होते हैं। घनानन्द ने आलिंगन का वर्णन प्रचुरता से कई छन्दों में नमक मिर्च लगाकर किया है।[8] चुम्बन[9] और रद-छद[10] के साथ रति वर्णन[11] के रंग को और गाढ़ा किया है।[12] साथ ही नायक को रति-प्रसंग में धीरज रखने की शिक्षा भी दी है।[13] मद पीकर रति-प्रसंग का वर्णन भी किया है।[14] यही नहीं नायिका को जवानी में कोक-शास्त्र पढ़ने की सम्मति भी दी है।[15] सुरतांत का भी विशद् चित्रण हुआ है।[16] प्रेम की रंगरेलियों की भी कमी नहीं है। फागुन की होली का रंग अनेक

---

१. बिहारी बोधिनी ३२५—३०
२. बिहारी बोधिनी ३३१
३. वही ३३२—३७
४. वही ३३८—३९
५. वही ३४०—४४
६. वही ३४५—३४६
७. घनानन्द कवित्त (विश्वनाथ मिश्र) २७४
८. वही २२५, २६१, २७४, ३७१, ३८६
९. वही २८३
१०. वही ३८०
११. वही २३२, २७८
१२. वही २७५
१३. वही २७५
१४. वही २५६, २८३
१५. वही २३७
१६. वही २१६, २२४, २१३, ३१४, ३२०

छन्दों में बिखरा है। दोनों मिलते हैं।[१] पिचकारी और गुलाल का प्रयोग अंग विशेष पर होता है,[२] नायक ने पकड़ना चाहा पर नायिका हाथ न लगी,[३] गालियों की बौछार है,[४] होली के बहाने नायक अपना काम साधता है और रद-छद देखता है;[५] गुलाल की मूठि छकाछक चल रही है।[६] नायक पकड़ने का प्रयास करता है, जिस पर नायिका अंगूठा दिखाती है,[७] नेत्र साथ-साथ लगे फिरते हैं,[८] नायक चिकोटी काटता है।[९] छेड़ छाड़ एवं उलाहने के कई छंद-चुहलबाजी से भरे पड़े हैं।[१०]

रीतिकाल की सब से बड़ी देन है नायिका वर्णन। हिन्दी साहित्य की यह अपनी अभूत पूर्व वस्तु है जिस पर हिन्दी-जगत को गर्व है। आदर्श का ढोल बजाकर हम भले ही नायक-नायिका वर्णन को होली की गालियाँ निकालें या पानी पी पीकर कोसें किन्तु यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि नायिका-वर्णन हिन्दी जगत की अपनी विशेषता है जो रीतिकाल की देन है। रीतिकालीन के सभी कवियों ने नायिकाओं का वर्णन किया है, चाहे वह कम हो या अधिक। मतिराम, देव, तोप, रघुनाथ, सोमनाथ, रसलीन, श्रीपति, भिखारीदास, पद्माकर, बेनी प्रवीन, प्रताप साहि, ग्वाल, लछिराम, द्विज, नंदराम, सरदार, द्विजदेव, इत्यादि पचासों कवियों ने नायिका भेद का सांगोपांग वर्णन किया है। नायिका भेद के इस भव्य-राजप्रासाद ने रीतिकाल के अन्य कवियों को भी आकर्षित किया और घनानन्द जैसे मस्त कवियों ने भी छन्द लिखते समय बिहारी एवं सेनापति के समान ही अपने मुक्तकों में नायिकाओं को स्थान दिया। बिहारी और सेनापति के मुक्तक छन्दों में सभी नायिकाओं का चित्रण नहीं है, वरन् कुछ विशेष नायिकाओं ने स्थान पाया है। सेनापति में मुग्धा,[११] मध्या,[१२] स्वकीया[१३]

---

१. वही ३१६
२. वही ३१७
३. वही ३७६
४. वही ३७८
५. वही ३७९
६. वही ३८०—८२
७. वही ३८१
८. वही ३८३
९. वही ३८५
१०. वही ४०२—४१५
११. कवित्त रत्नाकर द्वि० तरंग (श्री उमाशंकर) ८, २६, ५०
१२. वही २४
१३. वही ८

परकीया,[१] मुदिता,[२] प्रोषितपतिका,[३] खंडिता,[४] अधीरा,[५] स्वाधीनपतिका,[६] गूजरी,[७] पनिहारिन[८], इत्यादि कुछ विशिष्ट नायिकाओं ने अपना रूप संवारा है तो बिहारी ने लज्जिता,[९] गर्विता[१०] खंडिता[११] मानिनी[१२] क्रियाविदग्धा[१३] उत्कण्ठिता[१४] आगतपतिका[१५] अभिसारिका,[१६] ग्रामीण-नायिका,[१७] चर्खा कातने वाली,[१८] नायिकाओं का चित्रण बड़े चाव से किया है। सेनापति ने प्रोषितपतिका को प्रधानता दी है तो बिहारी ने खंडिता को। बिहारी की प्रसिद्धि के दो स्तम्भ हैं—नायिका वर्णन एवं विरह-प्रसंग। इन्हीं के बल पर बिहारी बिहारी है।

घनानन्द के काव्य में भी नायिकाओं का चित्रण प्राप्त होता है। इसका कारण संभवतः यह हो सकता है कि घनानन्द का सम्बन्ध एक मुगल सम्राट मुहम्मदशाह रंगीले से था। दरबार में शृंगारी कविता के प्रवाह में नायिकाओं पर विचार-विमर्श एवं काव्य होता ही था। अतः उनकी कविता में नायिका का वर्णन चुपके से आ बैठता है।

रीतिकाल में कवि प्रायः काव्यांगों का अध्ययन करते थे एवं उनकी चर्चा में रस लेते थे। काव्यांगो में से रस के अन्तर्गत नायिका भेद को स्थान मिलता ही था। अनेक आचार्य कवियों ने रस के आलम्बनरूप में नायिका भेद को लिया है। घनानन्द ने भी इस ओर अवश्य ध्यान दिया होगा। उनकी कविता से ऐसा आभास-सा अवश्य मिलता है कि उन्होंने काव्यांगों का अध्ययन किया था और वे कविता में छिपे बैठे हुए

१. वही ६३
२. वही १३
३. वही १८, २६
४. वही ३२, ३३, ७२
५. वही ४१, ४५
६. वही ३६
७. वही ५६
८. वही ७३
९. बिहारी बोधिनी ३७५—७८
१०. वही ३७६—८१, ४५५
११. वही ३८२, ४२२
१२. वही ४२३—४५०
१३. वही ४५१
१४. वही ४६२
१५. वही ५४३—५२
१६. वही ३०८—१५
१७. वही ५६६—६८
१८. वही ६०७

हैं। ऐसा भी अनुमान होता है कि वृन्दावन आने से पूर्व वे अवश्य कविता लिखते रहे होंगे और वह कविता शृङ्गार की ही रही होगी क्योंकि रंगीले के दर्बार में रंगीली तबियत के घनानन्द शृङ्गार की कविता न लिखते तो क्या वीर रस की लिखते? प्रेमिका सुजान पर भी दर्बार में रहते समय कविता लिखी ही होगी क्योंकि प्रत्येक कवि-हृदय प्रेमोन्माद के समय ऐसा करता है। अतः उनकी कविता में यदि भिन्न-भिन्न नायिकाओं के चित्र मिल जायँ तो आश्चर्य नहीं।

घनानन्द में प्रोषित्पतिका नायिका का आसन सबसे ऊँचा है। घनानन्द का काव्य, विरह-काव्य है और नायिका है विरहिनी या प्रोषित्पतिका—जिसका प्रियतम बहुत ही निष्ठुर, निर्मोही और हृदयहीन है। आदि से अन्त तक प्रोषित्पतिका अपने तड़पते और कलपते हृदय की परतें खोलती जाती है। मानिनी[1] और खंडिता[2] नायिकाओं का भी चित्रण विशदता से हुआ है। ये चित्र भिन्नता के साथ सरसता लिये हुए हैं और सजीव हैं। अन्य नायिकाएँ जो इधर-उधर खड़ी, बैठी, मुसकाती, इतराती, इठलाती, मान करती, क्रुद्ध होती दिखलाई देती हैं वे हैं—आगतपतिका[3] गर्विता,[4] उत्कण्ठिता[5], स्वाधीनपतिका[6] अभिसारिका[7], वासकसज्जा[8], धीरा[9] मुग्धा[10] परकीया,[11]। ये शास्त्र-सम्मत नायिकाएँ हैं। किन्तु रीतिकाल में अन्य नायिकाओं का भी चित्रण हुआ है जो अधिक औचित्यपूर्ण एवं स्वाभाविक है। पीछे सेनापति द्वारा चित्रित गूजरी, पनिहारिन, एवं बिहारी द्वारा वर्णित ग्रामीण नायिका, चर्खा कातती नायिका ऐसी ही नायिकाएँ हैं। घनानन्द ने भी कुछ ऐसी नायिकाओं का चित्रण किया है—जैसे मद-छकी नायिका,[12] नृत्यलीन नायिका,[13] बीन बजाती नायिका,[14] और

१. घनानन्द कवित्त २४६, २८४, २६१, २६३—६४, २६५—६७, ३०७, ३१५।
२. वही २२३—२५, २६१, ३११, ३६६
३. वही २३४
४. वही २३६, २४६, २६६, ४००
५. वही ११६, २७४
६. वही २२६
७. वही २६४, ४१३
८. वही २८०
९. वही २८२
१०. वही ३८४
११. वही ३६१
१२. वही २४०, २७३
१३. वही २४६—५०, ३६८
१४. वही २८६

गार्नी-नागरी नायिका[१]। नृत्यगीत लीना नायिका में सुजान वेश्या का चित्र प्रस्तुत है।

शृङ्गार-रस का आधार नायिका ही है। नायिका कौन है?[२] 'जो तरुनाई में सौन्दर्य से भरी हो'[३] सौन्दर्य किसी एक अंग का पर्याप्त नहीं है वरन् नायिका के सभी अंग सुन्दरता-सम्पन्न होने चाहिए। फलतः नखशिख एवं वस्त्राभूषण-वर्णन की परम्परा चल निकली। प्रेम की रंगीन दुनियाँ में चाह भरे नयनों को मनमोहते अंगों में काव्यात्मक सौन्दर्य दिखलाई दिया करता है। रीतिकालीन कवियों ने इस परम्परा को पर्याप्त निभाया। सेनापति और बिहारी जैसे रीतिमुक्त कवियों में नख-शिख वर्णन भरा पड़ा है। सेनापति ने कई अंग-प्रत्यंग वाले कवित्त बहुतायत से लिखे हैं।[४] नेत्र[५], अधर[६], केश[७] इत्यादि के वर्णन में भी रुचि दिखाई है। नायिका को वस्त्राभूषण पहिना कर भी निहारा है[८]। बिहारी ने नायिका के अंगों पर—केश[९], वेणी[१०], भौंह[११], नयन[१२], नासिका[१३], कपोल[१४], श्रवण[१५], अधर[१६], चिबुक[१७], मुख[१८], कुच[१९], कटि[२०], जंघा[२१], मेरवा[२२], एड़ी[२३] पर,—चमत्कार पूर्ण दोहे लिखे हैं। पुनः महाकवि

---

१. वही २४८

२. रस सिंगार कौ भाव उर उपजत जाहि निहार।
ताही कौ कवि नायिका बरनत रस शृङ्गार॥ (पद्माकर)

३. सुन्दरता बरनतु तरुनि सुमति नायिका सोइ।
सोभा कांति सुदीप्ति जुत बरनत हैं सब कोइ॥ (भिखारीदास)

४. कवित्त रत्नाकर १०, १२, २५, ४०

५. वही १, २, ४, ५

६. वही ६

७. वही ७

८. वही २८, ५६

९. बिहारी बिहार ३३, ३६

१०. वही ३७

११. वही १, २, ४, ५

१२. वही ५०—८४

१३. वही ८५—९०

१४. वही ९१

१५. वही ९२

१६. वही ९३

१७. वही ९४—९७

१८. वही १०१—१०२

१९. वही १०४

२०. वही १०५—१०६

२१. वही १०७

२२. वही १०८

२३. वही १०९—११०

विहारी ने नायिका को वस्त्राभूषण से सजाकर उसके रूप को भली भाँति देखा है। घनानन्द भी इस दौड़ में बहुत पीछे नहीं हैं। उन्होंने भी आँख[1], पीठ[2], उदर[3], कंठ[4], मुख[5], केश[6], इत्यादि का वर्णन चमत्कार प्रणाली पर किया है। एक छन्द में कई अंगों का वर्णन भी किया है[7]। अंग-वर्णन में उरोजों को महत्व मिला है और घनानन्द के कई छन्दों में उरोज आ बैठा है।

घनानन्द ने अन्य रीतिकालीन कवियों की नाईं अपनी नायिका को वस्त्राभूषण से सजाया है। नायिका अपने अंगों में भिन्न-भिन्न आभूषण धारण किये हैं। उसने कलाइयों में कंगन, पन्नों की पहुँची, नीलमणियों की पछेली और सोने की चूड़ियाँ पहन रखी हैं[8], नायिका काली साड़ी में खिल उठी है[9]। सुगंधित अंगिया का सौंदर्य कौन कहे[10]।

विहारी और सेनापति के समान घनानन्द ने भी प्रकृति का उद्दीपनात्मक रूप निहारा है। पावस का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि जैसे पुरवाई पवन आता है वैसे वैसे शरीर अधिक जलता है। बादल को देखते ही हृदय बहक जाता है। बिजली तो नायक के बिना नेत्रों को फूँक रही है। वर्षा कालीन पुष्पों की गंध मुझे रौंद रही है। बस उसासें ही उठ रही हैं। प्राण कैसे बचेंगे।[11] घटाएँ घिर आई हैं। वे मुझे पी जाना चाहती हैं। मोरों की कूक कलेजा निकाल रही है। शीतल पवन शरीर को जला रहा है। नायिका पावस में भी सूख रही है। चातक की चूक क्यों

---

१. घनानन्द कबित्त २२६, ३०, २३३, २५२—५४, २७२, २६०, ३१२, ३२१, ३६२
२. वही २४२, ३६५
३. वही २४४
४. वही २४५
५. वही २६६
६. वही ३२७
७. वही १, २, २३६, २७२, २७३, ३१८, ३८८, ३६६।
८. वही २४७
९. वही २८०
१०. वही ३८४
११. लहकि-लहकि आवै ज्यौं-ज्यौं पुरवाई पौन, दहकि-दहकि त्यौं-त्यौं तन ताँवरे तचै।
बहकि-बहकि जात बदरा बिलोकैं हियो, गहकि-गहकि गहबरनि हिये गचै॥
चहकि-चहकि डारै चपला चखनि चाहैं कैसे घन आनँद सुजान बिन ज्यौं बचै।
महकि-महकि मारै पावस प्रसून बास, आसनि उसास दैया कौलौं रहै कहै॥ ४६३

हृदय में चादल धरना है ।[1] ऋतु का यह उद्दीपनात्मक रूप अन्यत्र भी मिलता है ।[2]

कला-प्रवृत्ति

रीतिकाल चमत्कारवादी युग है जिसमें उक्ति चमत्कार या वाग्वैदग्ध्य खुल कर खेला है । यह वक्रोक्ति का ही एक प्रकार है । बिहारी ने इस दिशा में बड़ी ऊँची छलांगें मारी हैं जिसे देख कर दांतों तले उंगली दाबनी पड़ती है । घनानन्द के उक्ति चमत्कार भी बड़े आश्चर्य जनक और प्रशंसनीय हैं । कुछ उदाहरण देखियेः—

(१) आसागुन बाँधिकै भरोसो सिल धरि छाती,
पूरे पन सिंधु मैं न बूड़त सकाय हौं । २३

(२) मो गति बूझि परै तबहीं जब होहु घरीक हू आप तें न्यारे । २७

(३) देखियै दसा असाध अँखियाँ निपेटनि की,
भसमी बिथा पै नित लंघन करति हैं । २९

(४) किंसुक पुंज से फूलि रहे सुलगी उर दौं जु बियोग तिहारे ।
भातो फिरै, न घिरै अबलानि पै जान मनोज यों डारत मारे ।
ह्वै अभिलाषनि पात-निपात, कढ़े हिय-सूल उसासनि डारे ।
है पतझार बसंत दुहूँ घन आनँद एक ही बार हमारे ॥ १०७

(५) ललित तमालनि सों बलित नवेली बेलि,
केलि-रस झेलि हंसि लह्यौ सुखसार है ।
मधुर बिनोद स्वेद-जलकन मकरन्द,
मलय समीर सोई मोद उद्गार है ।
बन की बनक देखि कठिन बनी है आलि,
बनमाली दूर आली सुनै को पुकार है ।
बिन घन आनँद सुजान अंग पीरे परि,
फूलत बसन्त हमैं होत पतझार है ॥ ४२४

(६) चन्द चकोर की चाह करै,
घन आनँद स्वाति पपीहा कौं धावै ।

---

१. घूटैं घटा चहुँधा घिरि कैं, गहि काढ़े करेजो कलापिन कूकैं ।
सीरी समीर सरीर दहै चहकैं चपला चखलै कवि ऊकैं ।
एहो सुजान तुम्हैं लगे प्रान सुपावस यों तजि ब्यावस सूकैं ।
ह्वै घन आनन्द जीवन मूल भरौ चित मैं क्रित चातिक चूकैं ॥ ४६५

२. घनानन्द कवित्त ४६७

त्यौं त्रसरैनि के ऐल बसै रबि,
मीन पै दीन ह्वै सागर आवै। ४४

(७) बूँदैं लगैं सब अँग दगैं
उलटी गति आपने पापनि पेखी,
पौन सों जागति आगि सुनी ही
पै पानी तैं लागति आँखि न देखी। १३२

(८) न खुली न मुँदी जानि परै कछु ये दुखहाई जगै पर सोवति हैं। १३६

(९) एक अचम्भौ भयौ घन आनँद हैं नित ही पलपाट उघारे।
टारे टरैं नहीं तारे कहूँ सु लगे मन मोहन मोह के तारे॥ ४२५

विहारी के उक्ति-चमत्कार से घनानन्द का उक्ति चमत्कार एक बात में भिन्न है। विहारी ने ऊहा का पल्ला पकड़ा है और अत्युक्ति को अपनाया है जब कि घनानन्द ने विरोधाभास, असंगति इत्यादि अलंकारों को घुमाया फिराया है, मुहावरों एवं लोकोक्तियों का चमत्कार पूर्ण प्रयोग किया है और इन सब में लाक्षणिकता को सदा हाथ में रखा है। ऊपर विरोधाभास के उदाहरण आ गए हैं (७.८)। विरोधाभास भरे अन्य चमत्कार पूर्ण कथन देखिये:—

(१०) विरह समीर की झकोरनि अधीर, नेह
नीर भरयौ जीव, तऊ गुड़ी लौं उड़्यो रहै। १६

(११) गात सीरो परै ज्यों-ज्यों जरै। १८

(१२) राग भरे हिय में विराग मुरझति है। ३०

असंगति का चमत्कार—

(१३) तो मुख लाल! गुलाल हिलाय कैं
सौतिन के हिय होरी लगाई॥२२१॥

घनानन्दजी की भाषा बड़ी प्रवाह पूर्ण एवं गति-सम्पन्न है। इसका कारण है तद्भव शब्द एवं मुहावरों का अधिकता से प्रयोग। किन्तु कवि ने मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग चमत्कारिक ढंग से किया है उनके चमत्कार-पूर्ण प्रयोग देखिये—

(१४) जान के रूप लुभाय कै नैननि बेचि करी अधबीच ही लौंड़ी।
फैलि गई घर-बाहिर बात सु नीकें भई इन काज कनौड़ी।
क्यों करि थाह लहै घन आनंद चाह-नदी तट ही अति औंड़ी।
हाय दई! न बिसासी सुनै कछु है जग बाजति नेह की डौंड़ी॥ २९

(१५) रुई दिये रहौगे कहाँ लौं बहराइबे की,
कबहूँ तौ मेरियै पुकार कान खोलि है। १०४

(१६) तुम्हें पाय अजू हमैं खोयौ गयै, हमें खोय कहाँ तुम पायौ कहा।२४०

(१७) गतिनि निहारि देखि थकनि मैं चली जाति,
थिर चर दसा कैसी ढकी उघरति है।
कल न परति कहूँ कल जो परति होय,
परनि परी हौं जानि परी न परति है।
हाय यह पीर प्यारे! कौन सुनै, कासों कहौं,
सहौं घन आनंद क्यों अन्तर अरति है।
भूलनि चिन्हारि दोऊ हैं न हो हमारे तातै,
बिसरनि रावरी हमें लै बिसरति है॥ १४४

(१८) ललचौंहीं लगौंहीं भई तुम सौंहीं इतै अखियाँ सुख-साध-भरीं।
उत आप निकाई निधान सुजान, ये बावरी है अरराय परीं॥
घन आनंद जीवन प्रान सुनौ, बिछुरे मिले गाढ़ जँजीर-जरीं।
इनकी गति देखन जोग भई जु न देखन में तुम्हें देखि अरी॥ १५६

मुहावरों का प्रचलन भी लक्षणा के बल पर हुआ है। घनानन्द मुहावरों के प्रयोग में तो लक्षणा लाये ही हैं, अन्यत्र भी शब्द प्रयोगों में लक्षणा को बहुतायत से उन्होंने अपनाया है। घनानन्द में लक्षणा का प्रयोग चमत्कार-उत्पादन का एक प्रधान साधन बना है। उदाहरण देखियेः—

(१९) नैनन ही पाँव धारे। २०

(२०) चाह के प्रवाह धँस्यौ दारुन कलोल है। ३८

(२१) नेह भीजी बातैं रसनापै उर आँच लागै,
जागैं घन आँनद ज्यौं पुंजनि मसाल है। ४२

(२२) सीरी परि सोचनि अचम्भे सों जरौं भरौं। ४६

(२३) प्यास भरी बरसैं मुख देखन कौं अखियाँ दुख हाई। ४७

(२४) उजरनि बसी है हमारी अँखियानि देखौ। ५०

(२५) हहा पिय! दूरि तें पाय गहौं। ८८

(२६) कूक भरी मूकता बुलाय आप बोलि है। १०४

(२७) विरही निवारन की मौन में पुकार है। १८६

ऊपर के उदाहरणों में उपवाक्यों के लाक्षणिक प्रयोग द्वारा चमत्कार लाया गया है "कूक भरी मूकता", "मौन में पुकार" ऐसे ही प्रयोग हैं। मुहावरों एवं शब्दों

का ऐसा प्रयोग शब्द-चमत्कार ही कहा जायगा। एक एक शब्द को पकड़ कर भी चमत्कार दिखाने का यत्र-तत्र प्रयास हुआ है। मिलता शब्द का चमत्कार देखिये—

(२८) महा अन मिलन मिलेइ मिलौं जब मिलौ
ऐसे अनमिल कै मिलाये हौ हमें दई।
हमें तौ मिलौ, जौ कहूँ आपहू सों मिले होहु
मिलौ तौ कहा जू ये मिलाप रीति है नई।
इते पै सुजान घन आनँद मिलौ न हाय
कौन सी अमिलता की लागी जिय में जई।
तुमहूँ तें अधिक अमिल मन हमें मिल्यौ
तऊ मिल्यौ चाहै, दाहै जऊ जरियौ गई ॥१३१॥

बात शब्द और मूल शब्द को लेकर खिलवाड़ करने के उदाहरण देखिये—

(२९) आँखिन मूँदिबो बात दिखावत, सोवनि जागनि बात ही पेखिलै।
बात-सरूप अनूप अरूप है, भूल्यौ कहा तू अलेखहिं लेखि लै।
बात की बात सुबात बिचारिबो, है छमता सब ठौर बिसेखि लै।
नैननि-काननि बीच बसे घन आनँद मौन-बखान सु देखि लै ॥१९९॥

(३०) सुधि करें भूल की सुरति जब आय जाय,
तब सब सुधि भूलि कूकौं गहि मौनकौं।
जातें सुधि भूलै सो कृपा तें पाइयत प्यारे,
फूलि फूलि भूलौं या भरोसे सुधि हौन कौं।
मेरी सुधि—भूलहि बिचारियै सुरतिनाथ,
चातिक उमाहै घन आनँद अचौन कौं।
ऐसी भूलहूसों सुधि रावरी न भूलै क्यों हूँ,
ताहि जौ बिसारौ तौ सम्हारौ सुधि कौन कौं ॥२००॥

मिल, बात और भूल शब्दों के प्रयोग वाले उक्त छन्द स्पष्ट घोषित करते हैं कि कवि का ध्यान है कि वह शब्द-प्रयोग द्वारा लोगों को चमत्कृत करेगा। एक एक चरण में एक-एक शब्द का चमत्कारपूर्ण प्रयोग देखिये—

(३१) किहि ठान रुमी हौ सुजान मनौ गति जान सकैं सु अजान करयौ।
इहि सोच समात, उसंगनि माथ बिछोह-तरंगनि बूरि-भर्यौ ॥
सुमनैं मनमोहन ताकी दसा सुधि सोचनि आँचनि बीच पर्यौ।
तुम तौ निहकाम, सकाम हमें घन आनँद काम सों काम पर्यौ ॥१८३॥

(३२) पलकों कलपै कलपौं पलकैं सम होत संजोग वियोग दुहूँ।
विपरीत भरी हित-रीति खरी समझौ न परै समझै कछु हूँ ॥ २०५ ॥

उक्त उदाहरणों में घनानंद की अलंकरण प्रवृत्ति पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। पद्माकर के समान ही घनानन्द ने भी अनुप्रासमयी भाषा के प्रयोग पर विशेष दृष्टि रखी है। ऊपर के सभी उदाहरणों में अनुप्रास-स्थापन का प्रयास स्पष्ट है। अनुप्रास की योजना कई प्रकार से हुई है। इसके अन्य उदाहरण देखिये—

(३३) रूप गुन ऐंठी सु अमैठी उर पैठी बैठी
लाड़नि निरैठी, मति बोलनि हरैं हरी।
जोवन गहेली अलबेली अति ही नवेली
हेली है सुरति बौरी आँचर टरैं टरी ॥२६९॥

(३४) बरसैं तरसैं सरसैं अरसैं न कहूँ दरसैं इहि छाक छई
निरखैं परखैं करखैं हरखैं उपजी अभिलाषनि लाख जई ॥३२४॥

सेनापति अपने पदांत अनुप्रास के लिये प्रसिद्ध हैं। वे एक चरण में दो या चार पदों में अनुप्रास की योजना करते हैं। घनानंद ने भी पदांत अनुप्रास में रुचि दिखाई है। कुछ उदाहरण लीजिए—

(३५) उघरि दुरे हौ, नीकें मिलन उरेहौ गाढ़े
रंगनि धुरे हौ, घन आनंद सुजान जू।
उर बैठि दाहत हौ, चाहनि मैं चाहत हौ,
घातहौ निबाहत हौ प्रानन के प्रान जू।
हँसि-हँसि रुवावत हौ, छाँहौ नहिं छ्वावत हौ,
जागि-जागि स्वावत हौ आपै हूतें आन जू।
सूझत हौ बूझत हौ चाहत हौ भाषत हौ,
रहत हौ राखत हौ मौन हौ बखान जू ॥१७५॥

(३६) मोहिं दीठि कारन हौ, दुखतम टारन हौ,
प्रीति पन पारन हौ कहाँ लौं कहौं जसै।
लोचननि तारे, अचिरज भारे जान प्यारे,
तुम ही तें पियत तिहारे रूप के रसै।
बात अटपटी बढ़ी चाह चटपटी रहै,
भट-भटी लागै जौ पै बीच बरुनी बसै।
लै लै प्रान वारौं इकटक वारौं यौं निहारौं,
हा हा घन आनंद निहारौ दीन की दसै ॥४६८॥

(३७) सदा कृपानिधान हौ, कहा कहौं सुजान हौ,
अमान दानमान हौ, समान काहि दीजियै।
रसाल सिंधु प्रीति के भरे, खरे प्रतीति के,
निकेत नीति-रीति के, सुदृष्टि देखि जीजियै।
दगी लगी तिहारियै, सु आप त्यौं निहारियै,
समीप ह्वै बिहारियै, उमंग-रंग भी जियै।
पयोद मोद छाइयै, बिनोद कौ बढ़ाइयै,
बिलंब छाड़ि आइयै किधौं बुलाय लीजियै ॥१६६॥

इस चित्र का एक छन्द द्रष्टव्य है जिसमें अनुप्रास का प्रयोग सायास हुआ है। कवि का ध्यान पदांश अनुप्रास पर ही टिका हुआ है और इसी अनुप्रास के लिए शब्दों को जोड़ा है—

(३८) उघरि नचे हैं, लोक लाज ते बचे हैं, पूरी
चोपनि रचे हैं, सुदरस लोभी रावरे।
जके हैं थके हैं मोह-मादिक छके हैं अन—
बोले पै बके हैं दसा, चितै चितचावरे।
औसर न सोचैं घन आँनद बिमोचैं जल,
लोचैं वही सूरति अरबरानि आवरे।
देखि-देखि फूलैं ओट अमन ही भूलैं, देखौ
बिन देखैं भये ये बियोगी दृग बावरे ॥११५॥

'थके हैं' 'बके हैं' 'छके हैं' के लिये ही चरण का निर्माण हुआ है।

अनुप्रास का ध्यान ही नहीं रखा गया है, वरन उसका प्रदर्शन भी किया गया है, उक्त उदाहरणों से यह सिद्ध है। रीतिकाल में अलंकरण की प्रवृत्ति अधिक थी और घनानन्द में यह पूर्ण मात्रा में विद्यमान है। पीछे अनुप्रास और विरोधाभास के एकाधिक उदाहरण दिये जा चुके हैं। यमक के उदाहरण देखिये—

(३९) मोही मोह जनाय कैं अहे अमोही! जोहि
सो ही मो ही सों कठिन, क्योंकरि सोही तोहि ॥३६॥

इस छन्द में कवि का ध्यान यमक पर ही अधिक है, भाव पर अपेक्षाकृत कम। यहाँ अलंकार अपने आप नहीं आता है, बलात् बैठाया गया है। ऐसी प्रकार का दूसरा उदाहरण देखिये जिसमें 'मानस' की आवृत्ति के साथ 'मन' और 'रसै' का भी चमत्कार-पूर्ण प्रयोग हुआ है—

(४०) मानस को बन हैं जग पै बिन मानस के बन सो दरसैं सो।
जे घनमानस ते तरसे तिनसों मिलि मानस क्यों सरसैं हो॥
हाय दई! करि नेक इतै सु कितै परसै जिहि ज्यों तरसैं मो॥१२६॥

(४१) तुम सो निहकाम, सकाम हमैं घन आँनद काम सो काम पर्यो॥१४३॥

(४२) कल न परनि कहुँ कल जो परति होय
परति परी हौं जानि परी न परति है॥ १४४॥

(४३) मो अबला तकि जान! तुम्हें बिन, यों बल कै बलकै जु बलाहक॥१४५॥

(४४) सुख चाहनि को चित चाहत है चख चाहनि ठौरहि पावति ना।
अभिलाषनि लाखनि भाँति भरे हियरामधि, साँस सुहावति ना।
घन आँनद जान तुम्हें बिन यों गति पंगु भई मति धावति ना।
सुधि दैन कहौ सुधि लैन कही सुधि पाये बिना सुधि आवति ना॥ १६६॥

यमक-परक छन्दों की संख्या कम नहीं है।[1] सांग रूपक भी घनानन्दजी को प्रिय है।[2] रूपक के बल पर नायिका चुड़ैल बन जाती है।[3] चुड़ैल बनाने में सांग रूपक का ही सौन्दर्य है, नहीं तो कोई भी अपनी जीवित प्रियतमा को प्रेतनी न बनायेगा। इसी प्रकार हृदय में होली लगती है तो प्राण 'होला' बन जाते हैं।[4] 'होला' के दो अर्थ हैं—हरे चने, एवं पंजाब में 'होला' होली के समान जलता है।

असंगति का भी एक उदाहरण देखिये—

तो मुख लाल गुलालहि लाय कै सौतिन के हिय हौरी लगाई॥ २२१॥

---

१. घनानन्द कवित्त—३६, १०२, ४६, ७८, ८७, १२६, ४३१
२. वही ७३—७४, ८३, १४२
३. [illegible] १४२
४. वही ७३

प्रिय प्रवास की राधा

श्री मद्भागवत में कहीं भी स्पष्ट चर्चा श्री राधिका जी की नहीं है किन्तु ब्रजकथाओं और लोक गीतों से ज्ञात होता है कि राधा जी की परम्परा बहुत पुरानी है, जिसका प्रमाण है, हाल कृत गाथासप्तशती। इन गाथाओं में राधा, कृष्ण की प्रेयसी है। साहित्य में राधा को स्थायी स्थान दिलाने वाले हैं गीत गोविन्दकार जयदेव और भावुक कवि विद्यापति। हिन्दी काव्य में राधा की अटूट परम्परा स्थापित करने वाले हैं मैथिल कोकिल विद्यापति। इस मधुर और यशस्वी गायक ने छवि और लावण्य के मृदुल मसाले से एक नवनीत-प्रतिमा का निर्माण किया जिसका नाम है राधा। इस मूर्ति का समस्त सुन्दर शरीर कमलों की कमनीय कोमलता से गढ़ा गया है। इसकी दृष्टि से कमल उगते हैं, मुस्कान से बिकसते हैं और पदचाप से पृथ्वी पर बिछ जाते हैं। इस तन्वंगी के तन पर विद्युत कांति का अंगराग लगाया गया है। यह जिसकी ओर निहार लेती है वह अमृत बौछार से भीग उठता है[1]। कविवर विद्यापति ने राधिका की वन्दना एक अनुपमेय सुन्दरी के रूप में की है।[2] जिसका अनुकरण रीतिकाल में बिहारी और मतिराम ने किया। विद्यापति की राधिका एक परकीया नायिका है जो कृष्ण को सामने देख कर अपना हार तोड़ कर फेंक देती है। क्यों? राधिका के साथ गुरुजन थे, सहेलियां थीं। इस हार को चुनने के बहाने वह सब से पीछे रह जाती है और मन भर कर अपने चहेते को निराहती है।[3] एक दिन वह जा रही थी। उसके मुख पर अवगुंटन था। उसने कृष्ण को देखकर बादलों को छितराया और चन्द्र दर्शन कराया[4]। वह अभिसारों से खेलती है, और आलिंगनों परिरंभनों में स्वांस लेती है। इस सुन्दरी के वियोग में कृष्ण पृथ्वी पर लोट कर हाय हाय करते हैं, बुरी तरह तड़पते हैं और धूल फाँकते हैं[5]। विद्यापति के इस संसार में रातें, मान और रस से भरी हैं, दिनों के प्रांगणों में प्रतीक्षा, नोक-झोंक और रंगरेलियों की खिलखिलाहट गुंजित हैं, संध्याओं के नयनों में रहस्य संकेत छिपे हैं और उषा

---

१. विद्यापति पदावली (सम्पादक [illegible]) पद ३५.

२. वही पद २.

३. वही २६, २७।

४. वही ३४।

५. वही ४८

की लाली, मानती, खण्डिता और धीराधीराओं की आँखों में भर जाती है। राधा में गर्द आहें और करुण निःश्वासों की भी कमी नहीं है।

विद्यापति की राधा का विशाल रूप सूर की राधा में प्राप्त होता है। सूर की राधा, विद्यापति की राधा के समान सर्वांग सुन्दरी है। उसका गोरा रंग कुन्दन पर हँसता है, चन्द्रमा को लजाता है, इन्दुमती से पानी भरवाता और शची को डाह देता है। ब्रह्मा ने एक दिन राधा को देख लिया तो चक्कर में पड़ गया और सोचने लगा यह किसकी रचना है? कोई अवश्य एक अन्य ब्रह्मा भी है।[1] राधा का प्रत्येक अंग मधुरता और मृदुलता का महासागर है। आभूषणों ने इसी के अंगों से चमक पाई है और अपने जीवन को सार्थक माना है।[2] इसकी तुलना करने वाली उपमा ही ने जन्म नहीं धारा है।[3] एक दिन रमणी मन हरण करने वाले नागर नन्द किशोर ने देखा तो आँखें फाड़ कर देखते ही रह गये और कहने लगे—वाह क्या अपूर्व रूप है! ऐसा सौन्दर्य तो न सुना था, न देखा था। इसे तो पलकों में सदा के लिए बिठा लेना चाहिए।[4] प्रेम की क्रीड़ाएँ वैसी ही हैं जैसी विद्यापति में हैं। हां, परिमाण और विविधता, विद्यापति से बहुत अधिक हैं।

अनुराग का कारण है रूप। कृष्ण और राधा का अनुराग कैसे जन्मा? कृष्ण ने एक सुन्दर कुमारी को देखा। बातूनी तो कृष्ण जन्म से थे। संसार में बातूनी अधिक सफल होता है यह प्रायः देखा जाता है। राधा को देखकर झट कृष्ण उसके पास पहुँच कर पूछ ताछ करने लगे। उनमें नाम मात्र को संकोच न था। झट पूछा—ओ सुन्दरी! तू कौन है? कहाँ रहती है? किसकी बेटी है! ब्रज की इस गली में पहिले कभी नहीं देखा था? राधा ने बस इतना उत्तर दिया—मैं तो अपने घर में खेलती रहती हूँ। मैं ब्रज की ओर क्यों आती? सुना है कि एक नंद का बेटा है। वह बड़ा उपद्रवी है। माखन-दही चुराता फिरता है। तुरन्त कृष्ण बोले—तो तेरा हम क्या चुरा लेंगे? चलो, चलो, मेरे साथ खेलो। तुम्हारी मेरी अच्छी जोड़ी है और दोनों खेलने लगे। इस खेल ही खेल में हृदय के उस भाव का जन्म हो गया जिसे अनुराग या प्रणय नाम दिया गया है।

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी।
काहे कौं हम ब्रज तन आवति, खेलति रहति आपनी पोरी।

---

१. सूर सागर (ना० प्र० स० [illegible]), पद २३२४।
२. वही १८१६
३. वही २७७७
४. वही २७५३।

सुनत रहत स्रवननि नंद ढोटा, करत फिरत माखन दधि चोरी।
तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका भोरी ॥१२६१॥

इस दर्शन द्वारा उपजे अनुराग के बाद सूर ने राधा कृष्ण की सैकड़ों प्रणय क्रीड़ाओं की खान खोल दी है। राधा किसी बहाने से नन्द गृह जा पहुँचती है तो कृष्ण भी वृषभानु के यहाँ जाने का दाँव सोचते रहते हैं। कृष्ण ने नेत्रों के संकेत से राधा को बुला लिया। राधा ने झट हाथ में दोहनी ली और चल दी। गोशाला में जाकर कृष्ण दूध और अनुराग से राधा को भिगोने लगे। राधा एक दिन प्रातःकाल नन्द-भवन पहुँची। कृष्ण से अनुनय की कि मेरी गाय दूह दे। कृष्ण तुरन्त मान गए? क्यों न मानते? माता से आज्ञा ले कर सहायतार्थ राधा की गोशाला में पहुँचे। कृष्ण दूध दूह रहे हैं। धारें दुग्ध पात्र में पड़ रही हैं। सहसा थन टेढ़ा करके एक धार राधा के मुख पर छोड़ी।

धेनु दुहत अतिहीं रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी।
मोहन करतैं धार चलति, परि मोहिनि मुख अतिहिं छवि बाढ़ी।
मनु जलधर जलधार वृष्टि-लघु, पुनि पुनि प्रेम चन्द्र पर बाढ़ी ॥ १३५४॥

राधा, यह देखकर थोड़ी मुस्कराई और कुछ क्रोध प्रकट करती बोली—

तुम पै कौन दुहावै गैया।
लिए रहत हौ कनक दोहनी, बैठत हौ अध पैया।
इत चितवत उत धार चलावत, यहै सिखायो मैया ॥ १३५२॥

राधा की गाय दुही गई। परन्तु कृष्ण पतीली को राधा के हाथ में नहीं धरते हैं। बेचारी राधा पैरों पड़ती है, हाथ जोड़ती है, और कहती है, हाय हाय! यह क्या कर रहा है कन्हय्या? कृष्ण तब पतीली दे देते हैं।[1]

देर हो गई थी। कृष्ण अपने घर गए। राधा तुरन्त मूर्छित हो गिर पड़ी। सखियाँ उठाकर घर लाईं। सखियों से राधा की माँ ने पूछा—क्या हुआ है री मेरी बेटी को? एक बोली—माँ, काले ने डस लिया है। गोशाला में बैठा था। अब क्या था? सैकड़ों सँपेरे विष उतारने आए, परन्तु कोई सामर्थ्य न हुआ। वे बोले— बड़े भयंकर काले साँप का विष है। राधा की माँ रो रही थी। तब एक सखी बोली— माँ, सुना है नंद का कोई बेटा कन्हैया बड़ा भारी गारुड़ी है। उसने जमुना में रहने वाले कालीदह का विष दूर भगा दिया। लोगों से सुना है कि वह अनेकों सर्प-दंशों का विष उतार चुका है। क्यों न उसे ही बुला लें?

---

१. वही, १३५३।

माँ तुरन्त दौड़ी जसोदा के घर गयी। जसोदा जी से प्रार्थना की। जसोदा जी बोलीं:—नहीं नहीं, मेरा पुत्र तंत्र-जंत्र मंत्र टोना-टोना क्या जाने? परन्तु राधा की मां हठ पकड़ कर वहीं बैठ गई। तब जसोदा ने कृष्ण को बुला कर कहा:—क्यों रे तू सांप का विष उतारना जानता है? कन्हय्या ने कहा—हां, एक मंत्र जानता हूँ। जसोदा ने कन्हय्या को भेजा। कृष्ण गए। राधा के पास पहुँचे। विष उतर गया। राधा की मां ने बड़ा उपकार माना और अनेक धन्यवाद दिये।[1]

राधा जल में स्नान करती है तो कन्हय्या तट पर पहुँच कर बातें बनाता है[2] फिर दोनों मिल कर जल क्रीड़ा करते हैं।[3] ऐसे अनेक प्रणय-प्रसंगों का सरस चित्रण सूर ने किया है! राधा और कृष्ण रास में मिलते हैं, दोनों आँख मिचौनी का खेल खेलते हैं।[4] राधा, कन्हय्या को एक श्यामसलोनी सखी बना कर साथ रखती है,[5] राधा और कृष्ण का फाग खिलता है,[6] राधा, कन्हय्या के सामने गाती और नाचती है,[7] और दोनों मिलने के अनेक साधन जुटा लेते हैं। सूर ने राधा के इतने विविध चित्र अंकित किए हैं कि राधा प्रायः सभी प्रकार की नायिकाओं के रूप में सामने आ जाती है। मानिनी, खंडिता, कलहांतरिता, अभिसारिका, विप्रलब्धा, मुदिता, लच्छिता, गुप्ता, बचन विदग्धा, क्रिया विदग्धा, उत्कंठिता, रूप गर्विता, प्रेम गर्विता, वासक सज्जा, प्रोषित पतिका, रति मोहिता के चित्र तो अनेक हैं। रति प्रसंग के अनेक पद प्राप्त होते हैं जो अश्लील भी हैं। राधा कृष्ण के संयोग पक्ष के जितने चित्र हैं उतने विरह के नहीं। सूर ने विरह वर्णन में सभी गोपियों को स्थान दिया है और साथ ही बीच-बीच में राधा विरह भी लिखा है सूर ने विद्यापति की राधा को परिवर्तित और संशोधित भी किया है। हिन्दी साहित्य को सूर की देन है कि उसने राधा को स्वकीया नायिका बना दिया है और राधा कृष्ण का गंधर्व विवाह वन में सखियों के सामने सम्पन्न करा दिया है। सूर की राधा में विद्यापति से अधिक आंसू भरे हैं। सूर की राधा पहिले शृंगार से खेलती है और बाद में आंसुओं से स्नान करती है। वह कृष्ण की परम प्रेयसी और सर्व श्रेष्ठ प्रेमिका है जिसके वियोग में कृष्ण तड़पते और रोते हैं। इस प्रकार सूर ने हिन्दी जगत में राधा की सुदृढ़

---

१. वही १३५६ से १३८२ तक।
२. वही १७८३—१७८४
३. वही १७७७, १७७८, १३७१
४. वही २८८१ से २८८४ तक
५. वही २७६६—२८११
६. वही ३५०६—३५३५
७. वही १६६७, १६६८, १७०१

स्थापना कर दी। सूर की राधा से आज तक हिन्दी संसार अभिभूत रहा है। अन्य कृष्ण भक्तों की राधा भी सूर से बहुत भिन्न नहीं है। यह अवश्य है कि राधा कृष्ण की रंग रेलियां में कुछ भिन्नता आ गई हो जैसे सूर ने कृष्ण को गारुड़ी के छद्म वेश में राधा तक पहुँचाया है तो ध्रुवदास ने वैद्य बना कर राधा से मिलाया है। आगे रीतिकाल में छद्म वेश की लीलाओं की ओर इतना अधिक ध्यान गया कि अकेले चाचा हितवृन्दावन दास (रचनाकाल १८००-१८४०) ने सुनारिन लीला, पनिहारिन लीला, मालिन लीला, बिसातिन लीला, चितेरिन लीला, नाइन लीला, पटविन लीला, रंगरेजिन लीला, तमोलिन लीला, वैद्यनि लीला, गंधिन लीला इत्यादि अनेक लीलाएँ रचीं जिनमें कृष्ण छद्म वेश से राधा के पास पहुँचे और मिले। इन लीलाओं का प्रेरणा श्रोत है सूर की गारुड़ी लीला। गारुड़ी लीला तो एक स्वाभाविक भित्ति पर खड़ी है। जब कृष्ण ने कालिदह को नाथ लिया तो स्वाभाविक था कि यह प्रसिद्धि हो गई हो कि कन्हैया किसी सपेरे का शिष्य है। वह ऐसे मंत्र-जंत्र जानता है जिससे साँपों को वश में किया जाता है। किन्तु अन्य लीलाओं के पीछे केवल कल्पना है और है सूर की गारुड़ी लीला।

इस रीति काल में कृष्ण भक्तों के अतिरिक्त शुद्ध कवि भी राधा चित्रण की परम्परा स्थापित कर रहे थे। चन्द्र वदनी मृगनयनियों द्वारा बाबा संबोधन सुनकर पन-घट पर बैठे एक महाकवि की छाती पर साँप लोटने लगा। यह थे शृङ्गारिक कवि आचार्य केशवदास। ये सूर के समकालीन कवि थे। इन्होंने भी राधा को अपने काव्य में प्रमुख स्थान दिया। केशव बड़े कुशल कवि थे। उन्होंने देखा दो धाराएँ प्रवाहित हैं, एक रामधारा और दूसरी कृष्ण धारा। महाकवि केशव ने दोनों हाथों को लड्डुओं से भर लिया। एक ओर उन्होंने रामचन्द्रिका में भगवान् राम का गुण गान किया और जगज्जननी सीता का गुणानुवाद गाया। दूसरी ओर उन्होंने रसिक प्रिया में कृष्ण और उनकी प्रेयसी—राधिका का शृङ्गारिक चित्रण किया। सूर एवं अन्य कृष्ण भक्तों ने यद्यपि राधा कृष्ण का खुला शृङ्गार भी लिखा, तब भी वे भक्त कवि थे और युगल सरकार के उपासक थे। फलतः राधा का शृङ्गारिक चित्रण करते हुए भी वे राधा को कृष्ण से भिन्न न मान कर उन्हें इष्ट देवी समझ रहे थे। ऐसे सभी भक्त कवि मधुर भाव के उपासक थे। दूसरी ओर महाकवि केशव का राधा के प्रति युगलो-पासना का भाव न था। उन्होंने कृष्ण और राधा को शुद्ध शृङ्गारिक नायक और नायिका के रूप में स्वीकार किया और चित्रित किया। उनके राधा और कृष्ण हैं नायिका और नायक के उदाहरण। राधा को आधार बनाकर आचार्य कवि केशव ने नायिका भेद का वर्णन किया है। रसिक प्रिया में राधा नायिका के सभी भाव हाव और हेलाओं से भरी है, वह कृष्ण को चिढ़ाती है, तीरों से आहत करती है, स्वयं दूती बन जाती है, कृष्ण को पैरों पर पड़ा देखकर प्रसन्न होती है, वर,

बन में मिलने के साधन खोजती है, आसव पिलाती है और पीती है, गारी और मार देती हैं, कृष्ण के साथ शतरंज खेलती है। वीर रस के उदाहरण में केशवदास राधा की शृङ्गारिक शूरता का परिचय देते हैं। केशव ने शृङ्गार की परिभाषा ही दी है कि राधा और कृष्ण के प्रेम का नाम ही शृङ्गार है।

प्रेम राधिका कृष्ण को है ताते सिंगार

रसिक प्रिया ६–१५

जब राधा और कृष्ण का प्रेम ही शृङ्गार है तब राधा का शुद्ध नायिका रूप में चित्रण स्वाभाविक ही था। जितने रस और भाव हैं, जितने हाव और हेला हैं सब के उदाहरण हैं राधा और कृष्ण। केशव की राधा शृङ्गार की नायिका है और कृष्ण हैं शृङ्गारिक नायक। रीतिकाल के कवियों ने केशव का अनुकरण किया और राधा के नायिका रूप का चित्रण किया। शृङ्गार के उदाहरणों में राधा को सामने रक्खा। रीतिकाल में राधा निश्चित रूप से शृङ्गार की अधिष्ठात्री बन गई। यह हुआ केशवदास जी के कारण, यद्यपि सूर का प्रभाव भी माना जा सकता है। बिहारी और मतिराम ने अपनी शृंगार सतसइयों का प्रारंभ राधा के गुणगान से किया। बिहारी की राधा के देखिये[1]—राधा को देख कर कृष्ण लजा जाते हैं और फीके पड़ जाते हैं। राधा अपने प्रिय कृष्ण के हृदय पर लक्ष्मी बन कर नहीं रहती हैं, वरन् अप्सरा उर्वशी के सदृश लगी रहती है[2] कृष्ण ने लोक हितार्थ गोवर्द्धन पर्वत को हाथ पर उठाया। किन्तु उनका हाथ काँपने लगा। क्यों? क्या बड़े निर्बल और अशक्त थे भगवान् कृष्ण? नहीं, नहीं। किशोरी राधा दिखाई दे गई थीं। फलतः हाथ डिगने लगा और पर्वत गिरने लगा। यह सब देखकर ब्रजवासी बुरी हालत में पड़ गए और साथ ही कृष्ण लजा गए।[3] दोनों ने एक दूसरे से मिलने का षडयंत्र किया। घर वाले बराबर पहरा लगा रहे थे। कैसे आँखों में धूल झोंक कर भागें? एक मार्ग दोनों ने एक साथ खोज लिया। राधा ने कृष्ण का रूप बनाया और कृष्ण ने राधा का। अब वे घर से निकले। कृष्ण के घर वालों ने राधा को घर से बाहर जाते देखा, अतः नहीं टोका। उधर राधा के सम्बन्धियों ने कृष्ण को बाहर जाते पाया तो कुछ नहीं कहा। दोनों इस प्रकार एकांत स्थान पर मिले और मन की साध साधी[4]। प्रतीत होता है मुगल हर्मों में रहने वाले शाहजादों और शाहजादियों के समान राधा-कृष्ण भी वेश बदलने का सामान अपने साथ रखते थे।

---

१. जातन की झाईं परत स्याम हरित दुति होइ। बि० बो० १

२. तू मोहन के उर बसी ह्वै उर-बसी समान। बि० बो० २५९

३. डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कंप किसोरी दरस तैं खरे लजाने लाल॥ बि० बो० १३

४. बि० बो० ३४३।

मतिराम की राधा के दर्शन भी कर लेने चाहिए। राधा और कृष्ण अपने-अपने घरों से चले, कृष्ण, राधा की ओर और राधा, कृष्ण के घर की ओर। इनके पास वेश परिवर्तन का सामान न था, अतः अपने असली रूप में थे। मार्ग में दोनों के नयन जुड़ जाते हैं।[1] घर पहुँचकर कृष्ण, राधा की वेणी गूंथते हैं। वे नाइन का काम खूब कर सकते थे। सौतें देखकर भुन गईं।[2] कृष्ण ने सब को प्रसन्न करने का उपाय खोजा और बोले—आओ, चोर मिहींचनी खेलें। सब प्रस्तुत हो गईं। प्रत्येक सोचती थी कृष्ण मुझे चोर बनाकर मेरी आँख मींचेंगे। परन्तु वहाँ हुआ और ही कुछ। बार-बार राधा-कृष्ण ही चोर बनते हैं[3]। बस एक ही बुराई होती है। जब राधा के विशाल नयनों को कृष्ण जी कभी मूंदने लगते हैं तो वे नेत्र कृष्ण की हथेलियों को पार करके उनके हृदय को बरछी बन कर चीर डालते हैं, यद्यपि वे राधा के पीछे बैठे थे।[4] सहेलियाँ बुलाकर घर लिवा गईं। इसी समय कन्हय्या ने बांसुरी फूंकी। अब तो ये सहेलियाँ राधा को शूल से अधिक चुभी और आँखों में आँसू छलक पड़े।[5] किसी प्रकार सहेलियों से छुटकारा पाया और राधा बन में दौड़ गईं। संध्या का अंधेरा आघिरा था। राधा ने देखा, कन्हय्या अन्य गोपों के साथ हैं। वह बड़ी चतुरा थीं, तुरन्त कृष्ण से बोलीं—अरे ओ कन्हय्या! देखतो मेरा एक बछड़ा कहीं हिरा गया है। इतनी दया कर, मैं मनुहार करती हूँ। जरा उसे खोज दे। वह उधर घने वन की ओर भागा था। मुझे डर लगता है वहां जाने में! कन्हय्या ने कहा—पर राधे! मैं तेरे बछड़े को कैसे पहिचानूंगा? तुरन्त राधा ने कहा—बड़ी कठिनाई आ पड़ी है। तब तो मुझे भी साथ चलना पड़ेगा। खैर, चल मैं भी साथ चलती हूँ।[6] यह राधा का चित्रण है उन कवियों का जिन्होंने अपने ग्रन्थ के आरंभ में राधा को मंगलाचरण में स्थान दिया है। अन्यों को क्या कहा जाय?

आचार्य भिखारीदास की राधिका का वर्णन देखिये। सेनापति और बिहारी के ज्येष्ठ माघ की भयंकरता से अधिक सन्नाटा था। कोई पक्षी तक आकाश में न उड़ रहा था। तब भी एक पथिक, राधा की वाटिका में फूल तोड़ने लगा। मालिन ने डाटा।

---

१. हरि की सुधि कौं राधिका चली अकेली भौन।
हँसत बीच ही मिलि गए बरनि सकै सुख कौन॥ मतिराम सतसई ४३२

२. म० सतसई ५४५

३. छुवत परस्पर हेरि कै राधा नन्दकिसोर।
सब मैं वैई होत हैं चोर मिहिचिनी चोर॥ म० स० ११७

४. राधा के दृग खेल [illegible] नन्द कुमार।
करनि लगी दृग कोर सों भई छेदि उर-पार॥ म० स० २१६

५. रसराज ६२

६. रसराज ७२।

पास गई तो देखा—मोर मुकुट वाला था। मालिन मुस्कराई और बोली—बनवारी, प्यारी राधा पंथ निहार रही है।[१] थोड़ी दूर पर राधा खड़ी थी। कृष्ण ने हाथ में हाथ लिया और शीतल कुञ्ज की ओर चल दिए। सूरज अंगारे बरसा रहा था, पृथ्वी तवा बनी हुई थी। परन्तु राधा को ठंडक लग रही थी और पृथ्वी पर कमल बिछे दिखाई दे रहे थे। कारण था, राधा साथ जा रही थीं जो ताप की औषधि थी।[२] प्रातःकाल उठते ही राधा का सब से पहिला काम था, एक दूती को बुला कर कन्हय्या को बुलवा भेजना[३]। कन्हय्या आता है। राधा घर में दूसरों को देखकर कभी आंगन में खड़ी होती है, कभी जीने पर चढ़ती है, कभी चाँद देखती है और कभी जंभाई लेती है[४]। राधा कृष्ण का वेश बना लेती है। वह वन में जाती है। सखियाँ आकर रास रचती हैं। उन्हें यही ज्ञात है कि कृष्ण के साथ रास कर रही हैं। तुरन्त कृष्ण, एक साँवरी का रूप बनाकर आते हैं और कहते हैं—ओ, कन्हय्या, मां नाक पर गुस्सा बिठाए आ रही हैं। बस आफत है। गोपियाँ भाग जाती हैं। दोनों एक दूसरे को देखकर हँसते हैं[५]। यह है भिखारीदास की राधा। महाकवि देव की राधा के विषय में क्या कहा जाय? एक ही उदाहरण पर्याप्त है। उनकी एक पुस्तक है "अष्टयाम"। इसमें राधा-कृष्ण के चौबीसों घंटे की दिनचर्या दी गई है। हम इस आशा से इसके पास जाते हैं कि महापुरुष कृष्ण के दैनिक कृत्यों से प्रेरणा ग्रहण करेंगे। किन्तु यह पुस्तक कोक-शास्त्र को लजाती है। काम सूत्र तो इससे कहीं अधिक परिष्कृत प्रतीत होता है।

यह है भक्ति-काल और रीतिकाल की राधिका रानी। भारतेन्दु युग पुनर्जागरण का काल है। सामाजिक और धार्मिक सुधारों का बिगुल इसी युग में बजा। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज, देव समाज, राम कृष्ण मिशन, थियोसिफिकल लाज इत्यादि अनेक संस्थाएँ इसी युग में उगीं और बढ़ीं। सामाजिक सुधार का शकट, द्विवेदी युग में तीव्र वेग से दौड़ा। यह सुधारवादी युग था। इस युग में भागवत की माखन लीला और रास लीला को कोसा गया। रीतिकालीन शृंगारिक कविता के विरुद्ध जिहाद बोला गया। सूर को दोषी ठहराया गया। देश और समाज की सेवा का भाव भी दूसरी ओर बराबर बढ़ रहा था। आर्य समाज ने हिन्दू जीवन को सबसे अधिक झकझोरा यद्यपि इस आन्दोलन का विरोध भी बहुत हुआ। द्विवेदी युग में जीवन की पवित्रता और नैतिकता की ओर बहुत ध्यान दिया गया। जगह-जगह भाषणों में कृष्ण को महान् सामाजिक नेता मानकर उनके शृंगारिक जीवन को कपोल कल्पित बताया

१. काव्य निर्णय २२४।
२. वही ५०७।
३. शृंगार निर्णय १९५।
४. शृंगार निर्णय २७४, २७५।
५. वही २८६।

गया। उपाध्यायजी पर इस नवीन चेतना और आर्य समाजी दृष्टिकोण का प्रभाव पड़ा। उन्हें कृष्ण और राधा के विषय में पश्चिमी विचार पोषकों और आधुनिक नैतिकवादियों से यह सुनकर बहुत खला कि कृष्ण तो दूसरों की स्त्रियों से छेड़-छाड़ करते फिरते थे, वे चरित्र हीन छैला युवक थे। उन्होंने राधा और कृष्ण को परिष्कृत रूप में रखने की ठानी और फलतः 'प्रिय प्रवास' का जन्म हुआ जिसमें राधा-कृष्ण की जुगल जोड़ी एक सच्चरित्र तथा लोक सेवी दम्पति के रूप में दिखलाई पड़ती है।

प्रिय प्रवास की राधा के दो रूप हैं—एक प्राचीन और दूसरा नवीन। प्राचीन रूप में राधा सूर की राधा के समान है, हाँ उतनी शृंगारिक नहीं है। सूर ने राधा-कृष्ण के प्रेम के दो आधार बनाए हैं:—बचपन की खिलवाड़ प्रणय में परिवर्तित होती है और दोनों गंधर्व विवाह कर लेते हैं। इन दोनों रूपों में प्रिय प्रवास की राधा भी दिखलाई पड़ती है। दो मित्र थे। उनके नाम थे नन्द और वृष भानु। वे पास के ही रहने वाले थे। दोनों मित्रों के दो संतानें हुईं। नन्द के घर कन्हय्या ने जन्म लिया और वृषभानु के घर राधा ने। दोनों शिशु एक दूसरे के घर ले जाए जाते थे। शिशु अवस्था से ही दोनों साथ-साथ रहने लगे थे और बड़े हो जाने पर दोनों बालक स्वयं चले जाते थे और साथ-साथ खेलने लगते थे। यशोदा और नंद, दोनों को साथ खेलते देखकर प्रसन्न होते थे तो वृषभानु और कीर्ति भी। बचपन का यह अनुराग, धीरे-धीरे प्रणय में परिवर्तित हो गया और दोनों एक दूसरे को प्रेम करने लगे। स्वभाविक था कि स्त्री होने के कारण राधा के हृदय में कन्हय्या के प्रति तीव्र अनुराग था और दूर होने पर वह कन्हय्या का स्मरण करती रहती थी। दोनों के माता पिता एवं गाँव वाले जानते थे कि दोनों का विवाह हो जाएगा। कृष्ण से ही विवाह हो इसके लिए राधा व्रत-उपवास, पूजा-अर्चा करती थी। एक दिन सहसा अक्रूर जी कन्हय्या को लिवाने ब्रज में आ धमके। कृष्ण-बलराम को राजा कंस ने बुला भेजा था। कृष्ण प्रातःकाल चले जायेंगे। राधा रात भर रोई। वह अत्यन्त दुखी हुई। किन्तु कृष्ण न रुके। कृष्ण के वियोग में तो वह पागल सी हो गई। उन्माद और उद्वेग की अवस्था में वह पवन को दूती बनाकर कृष्ण के पास भेजती है। कृष्ण न लौटे। उसने सुना कि कृष्ण द्वारका चले गए हैं। तब उसने हृदय में संतोष और धैर्य किया और ब्रज सेवा में अपने को लगा दिया। वह दूसरों को सुखी बनाकर सुख पाती थी। यही है प्रिय प्रवास की राधा।

प्राचीन रूप—

राधा बड़ी रूपवती है। उसके रूप का वर्णन करते कवि हुए कहता है—

रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु बिम्बानना

तन्वंगी कल हासिनी सुरसिका क्रीड़ा कला पुत्तली।

शोभा वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य लीला मयी
श्री राधा मृदुभाषिणी मृग दृगी-माधुर्य की मूर्ति थी ॥६-४॥
फूले कंज समान मंजु दृगता थी मत्तता कारिणी
सोने की कमनीय कांति तन की थी दृष्टि उन्मेषिनी।
राधा की मुसकान की मधुरता थी मुग्धता मूर्ति सी
काली कुंचित लम्बमान अलकें थीं मानसोन्मादिनी ॥६-५॥
लाली थी करती सरोज पग की भू पृष्ठ को भूषिता
बिम्बा विद्रुम को अकांत करती थी रक्तता ओष्ठ की।
हर्षोत्फुल्ल-मुखारविन्द गरिमा सौंदर्य आधार थी
राधा की कमनीय कान्त छवि थी कामांगना मोहिनी ॥६-७॥

इन पंक्तियों में राधा की सुन्दरता के साथ साथ प्राचीन परिपाटी पर, नखशिख वर्णन भी कर दिया है। उसका मुख चन्द्रमा के समान था, वह बिम्बाननना भी थी। उसके नेत्र, कमल एवं मृग के समान थे। केश काले, घुंघराले और लम्बे थे जो मन को तरंगित करते थे। पृथ्वी उसके कमल पगों से लाल हो जाती थी। होंठ की लालिमा, बिम्बाफल और मूंगे को लजाती थी। यह प्राचीन परिपाटी का नख शिख वर्णन ही तो है। इसके साथ ही सूर की राधा के समान, प्रिय प्रवास की राधा हृदय गत भावों को प्रकट करने में ही चतुर नहीं थी वरन् हावों द्वारा प्रणय को विकसित करने में भी कुशल थी। सूर की राधा केवल बांसुरी बजा लेती थी और नृत्य में निपुण थी। इधर प्रिय प्रवास की राधा कई वाद्य यंत्र बजा लेती थी।

नाना भाव विभाव हाव कुशला आमोद आपूरिता
लीला लोल कटाक्षपात निपुणा भ्रू भंगिमा पंडिता।
वादित्रादि समोद वादनपरा आभूषण भूषिता
राधा थीं सुमुखी विशाल नयना आंदोलन आंदोलिता ॥४-६॥

यहाँ कवि ने राधा को "वादित्रादि समोद वादनपरा" कहा है। कवि का अभिप्राय है कि वह अनेक वाद्ययंत्र बजाती रहती थीं। काव्य की दृष्टि से यह विशेषण बहुत सशक्त नहीं है। अच्छा होता, बाजों के नाम दे दिए जाते। इससे राधा में आधुनिकता की पुट आ गई है। वह ग्रामीण गोप बालिका होते हुए भी बाजे बजाती रहती थी।

राधा के विरह वर्णन में सूर की भांति उपाध्याय जी ने विरह की लगभग सभी दशाओं को दिखला दिया है। राधा प्रवत्स्यत्पतिका और प्रोषित पतिका इन दो रूपों में विरह विधुरा दिखलाई गई है। कालिदास के यक्ष की नाईं राधा की पवन को

दूती बना कर मथुरा में कृष्ण के पास भेजती हैं। महाकवि कालिदास का यक्ष पुरुष था अतः उसने अपनी प्रेयसी के पास अपने सखा मेघ को भेजा। प्रिय प्रवास में राधा, पवन को दूती बना कर भेजती हैं। यह उचित और स्वाभाविक है। प्रिय प्रवास का यह स्थान अत्यन्त भावपूर्ण और मार्मिक है।

कृष्ण मथुरा चले गये हैं। राधा बड़ी दुखी है। उसके दिन बस रो रोकर कट रहे थे—

रो रो चिन्ता सहित दिन को राधिका थीं बिताती
आंखों को थीं सजल रखतीं उन्मना थीं दिखाती।
शोभा वाले जलद वपु की हो रही चातकी थीं
उत्कण्ठा थी परम प्रबला वेदना वर्द्धिता थी ॥६-२६॥

इसी दशा में हवा चलने लगी। पवन स्पर्श से राधा और व्यथित हुई। वे हवा से बोलीं—पापिनी! मुझे क्यों सताती है। तू तो मेरी सखी है। क्या सखी का यही धर्म है कि अपनी सखी को पीड़ा दे? सखी! मेरा दुःख घटा, मुझे कुछ सहायता दे। सहायता क्या है? तुझे पुण्य मिलेगा और मेरा काम बन आएगा। तू मेरी दूती बन कर मथुरा में श्याम के पास मेरा संदेश लेजा। प्रिय प्रवास की राधा अपने स्वार्थ वश संसार की उपेक्षा नहीं करती है। वह दूसरों के दुःखों और कष्टों का ध्यान रखती है। कृष्ण भक्तों की राधा से यहां भिन्नता आगई है। वह पवन से कहती है—

जाते जाते अगर पथ में क्लांत कोई दिखावे
तो जाके सन्निकट उसकी क्लान्तियों को मिटाना।
धीरे धीरे परस करके गात उत्ताप खोना
सद् गंधों से श्रमित जन को हर्षितों सा बनाना ॥६-३९॥
संलग्ना हो सुखद जल के कान्ति हारी कणों से
ले के नाना कुसुम कुल का गंध आमोदकारी।
निर्धूली हो गमन करना उद्धता भी न होना
आते जाते पथिक जिससे पंथ में शांति पावें ॥६-४०॥

केवल पुरुष की थकावट ही नहीं मिटानी है, तू स्त्री है, अतः स्त्रियों की श्रांति को भी दूर करना। स्त्री, स्त्री की सहायिका बननी ही चाहिए। हां, सखी एक बात और है! देख, न अपनी मर्यादा खोना और न दूसरी स्त्रियों की लज्जा का अपहरण करना। देख:—

लज्जा शीला पथिक महिला जो कहीं दृष्टि आवे
होने देना विकृत वसना तो न तू सुन्दरी को।

जो थोड़ी भी श्रमित वह हो गोद ले श्रांति खोना
होठों की श्रौ कमल मुख की म्लानताएं मिटाना ॥६-४१॥

मार्ग में पुष्प-पत्रों को हिला कर न गिरा देना। बेचारे पादपों को बड़ा कष्ट होगा। न उन पर बैठे पक्षियों के बच्चों को नीचे गिराना। यदि मार्ग में रोगी मिल जाय तो देख—

तेरी जैसी मृदु पवन से सर्वथा शान्ति कामी
कोई रोगी पथिक पथ में जो पड़ा हो कहीं तो।
मेरी सारी दुखमय दशा भूल उत्कण्ठ होके
खोना सारा कलुष उसका शान्ति सर्वाङ्ग होना ॥ ६-४५॥

फिर उसे स्मरण होता है कि संभव है किसी उद्यान में किसी एक पुष्प पर भ्रमरी-भ्रमर बैठे हों, तो तुरन्त अपनी दशा को ध्यान में रखकर वह पवन से कहती है—

जो पुष्पों के मधुर रस को साथ सानन्द बैठे
पीते हों वे भ्रमर भ्रमरी सौम्यता तो दिखाना।
थोड़ा सा भी न कुसुम हिले श्रौ न उद्विग्न वे हों
क्रीड़ा होवे न कलुष मयी केलि में हो न बाधा ॥६-४२॥

यह बड़ा मनोवैज्ञानिक वर्णन है। राधा को ध्यान हो आता है कि अक्रूर ने राधा और कृष्ण के जोड़े को जो प्रेम रस पीने में मग्न था, आकर अलग कर दिया है। अतः वह पवन को सावधान करती है। इसी प्रकार वह पवन से कहती है कि तू स्त्रियों के शरीर के पुष्पों की सुगंध से उनके पतियों को प्रसन्न करना ताकि वे पति अपनी पत्नियों पर प्रसन्न हो जायें। राधा इससे कृष्ण की प्रसन्नता का संकेत करती है। वह कहती है—

जो इच्छा हो सुरभि तन के पुष्प संभार से ले
आते जाते सरुचि उनके प्रीतमों को रिझाना। ६-५२॥

रीतिकाल में दूतियों के कार्य कलापों का विस्तार से वर्णन है। ये दूतियाँ बड़ी चतुर होती थीं और वचन एवं कार्य की चतुराइयों से नायक को प्रसन्न करती थीं। राधा पवन से इन दूतियों का अनुकरण करने की प्रार्थना करती है। वह कहती है कि देख कृष्ण जब अपनी चित्र शाला में बैठे हों तो किसी विरह-विधुरा के चित्र को जोर से हिला देना। संभव है उनको मेरा स्मरण हो आवे। यदि इससे भी काम न चले तो एक और कौशल करना। तू एक मुरझाए फूल को उड़ा कर कृष्ण के चरणों पर डाल देना। सम्भव है उन्हें स्मरण हो आवे कि एक फूल सा शरीर मुरझा गया है

और वह उनके चरणों को चूमना चाहता है। कोई कमल मिल जाय तो उसे पानी में डुबोना। उस कमल पर पानी देख कर सम्भव है, श्याम मेरी आँखों के आँसुओं की कल्पना करलें। यदि कृष्ण किसी वृक्ष के नीचे बैठे हों तो उसकी किसी एक पत्ती को जोर से हिला देना, स्यात् उन्हें ध्यान आजावे कि उनकी प्रेमिका, उनके विरह में इसी भांति कांप रही है। कोई मलीन और सूखी लता कहीं पड़ी हो तो कृष्ण के पैरों के पास गिरा देना। शायद इसीसे उन्हें स्मरण हो आवे कि कोई लता के समान मलीन हो सूखती जा रही है। तू ऐसा कोई भी कार्य कर देना।[1] यदि तुझसे ये काम न हो सकें तो प्यारी सखी, एक काम तो अवश्य कर आना। क्या? उनके पैरों की थोड़ी सी धूल ले आना। मैं उस धूल से ही शांति पाने की प्रयास करूंगी—

जो ला देगी चरण रज तो तू बड़ा पुण्य लेगी
पूता हूँगी भगिनि उसको अंग में मैं लगा के।
पोतूंगी जो हृदय तल में वेदना दूर होगी
डालूंगी मैं शिर पर उसे आँख में ले मलूंगी ।।६-७८।।

कवि इस स्थान पर प्रेम, करुणा और श्रद्धा का निर्झर प्रवाहित कर देता है।

सूर की गोपियां जिनमें राधा भी छिपी है, बड़ी भोली और सरल बालाएँ हैं। वे अपने भोलेपन से उत्तर देती हैं—ऊधो, ठीक है तुम जो कहते हो। पर हम करें तो क्या करें? यह मन तो मानता ही नहीं। कभी वे कहती हैं—अच्छा, निर्गुण भी बड़ा सुन्दर और उत्तम है। भला यह तो बताओ उसके मां बाप कौन हैं और उसकी स्त्री कौन है? नन्ददास की गोपियां जो राधा को छिपाए रहती हैं, ऊधो को मुँह तोड़ उत्तर देती हैं और तर्क करती हैं। वे बड़ी मुखरा हैं। उपाध्याय जी और आगे बढ़े हैं और उन्होंने राधा को दार्शनिक, विदुषी, पंडिता, अध्येता, शास्त्रज्ञा और उपदेशिका बना दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह संस्कृत विश्वविद्यालय से उच्चतम डिग्री प्राप्त कर आई है और उसने उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया है। वह ऊधो जी की बोलती बन्द कर देती है और उन्हें नवधा भक्ति का नवीन रहस्य समझाती है। प्रिय प्रवास के राधा-ऊधो संवाद पर श्रीमद्भागवत् का कुछ प्रभाव है। सूर एवं अन्य कृष्ण भक्त कवियों ने ऊधो के सर्वान्तर्यामी निर्गुण ब्रह्म का खंडन गोपियों से कराया है। भागवत में गोपियां ऊधो के ब्रह्म के आगे सिर झुका लेती हैं।[2] प्रिय प्रवास की राधा भी कृष्ण के विराट् रूप, विश्वात्मा रूप की पुष्टि करती है और उसी में लीन हो जाती है। वह ऊधो से कहती है —

१. प्रिय प्रवास, ६-६८ से ७६ तक

२. श्रीमद्भागवत, अ० ४७, श्लोक ५९, ५८,

पाई जाती विविध जितनी वस्तुएँ हैं सबों में
जो प्यारे को अमित रंग औ रूप में देखती हूँ ।
तो मैं कैसे न उन सबको प्यार जी से करूँगी
यों है मेरे हृदय तल में विश्व का प्रेम जागा ।। १६-१०५।।

ताराओं में तिमिर हर से वह्नि विद्युल्लता में
नाना रत्नों, विविध मणियों में विभा है उसी की ।
पृथ्वी, पानी, पवन, नभ में, पादपों में, खगों में
मैं पाती हूँ प्रथित-प्रभुता विश्व में व्याप्त की ही ।।१६-११०।।

मैंने की हैं कथन जितनी शास्त्र-विज्ञात बातें
वे बातें हैं प्रकट करती ब्रह्म है विश्व रूपी ।
व्यापी है विश्व प्रियतम में विश्व में प्राण प्यारा
यों ही मैंने जगत-पति को श्याम में है विलोका ।।१६-११२।।

राधा अपने को बहुत ऊपर उठा लेती है जब वह ऊधो से कहती है—

प्यारे जीवें जगहित करें गेह चाहे न आवें ।।१६-६८।।

राधा अपने दुःख से दुःखी नहीं है । वह व्यथित है ब्रज वासियों के दुखों से—

मैं ऐसी हूँ न निज दुख से कष्टिता शोक मग्ना ।
हां ! जैसी हूँ व्यथित ब्रज के वासियों के दुखों से ।।१६-१३२।।

अतः अब मैं अपने को ब्रज वासियों के दुःख दूर करने और विश्वहित कार्य करने में लगा दूंगी । ऊधो ! कह देना ! मैं अब विवाह न करूंगी और अपने जीवन को जन-सेवा में अर्पित कर दूंगी—

सत्कर्मी हैं परम शुचि हैं आप ऊधौ सुधी हैं
अच्छा होगा सनय प्रभु से आप चाहें यही जो ।
आज्ञा भूलूं न प्रियतम की विश्व के काम आऊँ
मेरा कौमार व्रत भव में पूर्णता प्राप्त होवे ।।१६-१३५।।

राधा ने यही किया भी । उन्होंने अपने आप को लोकहित में डुबो दिया । एक ओर वह कृष्ण के माता पिता का बड़ा ध्यान रखती थी, उनकी सब प्रकार से सहायता करती थी । वह यशोदा के घर जा कर उन्हें समझाती थी । यदि कभी यशोदा अस्वस्थ हो जाती थीं तो राधा, आठों पहर उनके पलंग के पास बैठ कर सेवा करती थी । शोक-मग्ना माता यशोदा को राधा अपने अंग में भर लेती थीं, उनके चरणों को दबाती थीं । मीठे मीठे शब्दों से वह यशोदा को धैर्य देती थीं । नन्द को वह शास्त्र पढ़ कर सुनाती थीं और संसार-विभव की तुच्छता समझाती थीं ।

एक विरह विधुरा बालिका चन्द्रमा से आग निकलती देख कर तड़प रही थी। राधा उसके पास गई। उसे धीरे से सहलाया और बोली—तू तो बड़ी बुद्धिमती है। क्या तू चन्द्रमा में प्यारे कृष्ण के मुख की कांति नहीं देख रही है? फिर क्यों व्यथित होती है। जैसे ही वहां से निकल रही थी, पास के घर में एक अन्य गोप बाला को मूर्छित पाया। राधा ने उसके मुख पर शीतल जल के छींटे दिये। फिर पंखे से हवा की। कमल पुष्प और पत्तों को बिछाकर विरह तप्त बाला को लिटा दिया। चन्दन और अगर का ठंडा लेप बनाया और उसके शरीर पर लगाया। रात्रि हो गयी थी। एक बाला रो रही थी, तारों को कोस रही थी। उसे किसी प्रकार भी नींद न आ रही थी। राधा, रात भर उसके पास बैठ कर उसे ढाढ़स देती रही। प्रातः काल उसने कुछ गोपियों को गाय ले जाते देखा। वे आंसू बहा रही थीं। राधा ने बांसुरी बजाई, कृष्ण लीला गाई, उन्हें कृष्ण की क्रीड़ाएं सुनाईं, उनके साथ नाची।

केवल स्त्रियों को ही नहीं, पुरुषों को भी वह ढाढ़स, उत्साह और प्रेरणा प्रदान करती थी। उसने एक दिन कई गोपों को खिन्न, उदास और सिर नीचा किए बैठे पाया। वह उनके पास जाकर बैठ गयी और मधुर वाणी से बोली—भाइयों! यह क्या? आप पुरुष हो कर निष्क्रिय और खिन्न बैठे हो, हमें देखो ना? उद्योगी बनो। ऐसे कार्य करो जो हमारे प्यारे कृष्ण को प्रिय थे। गायों को ध्यान से चराओ, वन को हिंसक जन्तुओं से रिक्त करो। ऐसे ही कार्य तो उन्हें प्रिय थे। थोड़ी दूर आगे गयी थी कि कुछ गोप बालकों को उदास बैठे पाया। राधा तुरन्त फूल तोड़ कर लाई। पुष्पों के खिलौने बनाए। फिर उनसे बच्चों को खिलाया। उन्हें शिक्षा दी और उनसे कृष्ण लीलाएं कराईं। यह बाला सर्वत्र देखी जाती थी—

इन विविध व्यथाओं मध्य डूबे दिनों में
अति सरल स्वभावा सुन्दरी एक बाला।
निशिदिन फिरती थी प्यार से सिक्त हो के
गृह, पथ, बहु बागों, कुंज पुंजों, बनों में॥ १७-२९॥

कोई स्थान ऐसा न था जहाँ उसका वरद हस्त और सेवा भरा पैर न पहुँच पाता था। कवि राधा के इस कार्य की सराहना करता हुआ कहता है—

खो देती थीं कलह जनित आधि के दुर्गुणों को
धो देती थीं मलिन मन की व्यापिनी कालिमायें।
बो देती थी हृदय तल में बीज भावज्ञता का
वे थी चिन्ता विजित गृह में शान्ति धारा बहाती॥१७-४७॥

वे ब्रज वासियों की सहायिका बनी थीं और सर्व प्रकारेण उनकी सहायता कर रही थीं। किन्तु यदि कोई पुरुष कुमार्ग पर जाता दिखाई पड़ता था तो वे उसे डराती

और धमकाती थीं। आवश्यकता पड़ती थी तो वे उसे दंड देने में न चूकतीं थीं। उनके स्नेह आंगन में मानव मात्र ही सुख-शांति पाने नहीं बैठते थे वरन् पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि भी उनसे अन्न-पानी और सहायता पाते थे। फलतः ब्रज-धरा में वे देवी के समान पूजी जाती थीं।

वे छाया थीं सुजन शिर की शासिका थीं खलों की
कंगालों की परम निधि थीं औषधि पीड़ितों की।
दीनों की थीं बहिन, जननी थीं अनाथाश्रितों की
आराध्या थीं ब्रज अवनि की प्रेमिका विश्व की थीं ॥१७-४६॥

जन जीवन को कृष्ण रूप मानने वाली महिमामयी ऐसी राधा ही उपाध्याय जी के प्रिय प्रवास की नायिका है।

कामायनी का नारी चित्रण

बाबू जय शंकर प्रसाद ने अपने साहित्य में नारी को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उनके नाटकों और काव्य ग्रन्थों में नारी के भिन्न-भिन्न रूप और उसके सम्बन्ध में विभिन्न विचार अपेक्षाकृत अधिक विस्तार और स्पष्टता से अंकित हैं। कामायनी प्रवन्ध काव्य, ध्रुवस्वामिनी नाटक की नाई नारी को सामने रख कर ही रचा गया है। यह नायिका प्रधान प्रवन्ध काव्य है, यह तो नाम से ही स्पष्ट है।

नारी का नखशिख चित्रण

प्रसाद जी ने कामायनी में नारी के अंगों का वर्णन बड़ी रुचि और विशदता से किया है। नारी के नखशिख, रूप यौवन और आलिंगन-चुम्बन के वर्णन में वे रीतिकालीन कवियों की कोटि में आ जाते हैं। अन्तर केवल है शैली का। नारी का चित्रण कामायनी में दो प्रकार से हुआ है—प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रकार से। प्रत्यक्ष रूप में वे नारी को सामने खड़ा करके उसका चित्र उतारते हैं, उसके तन और मन में रंग भरते हैं। परोक्ष रूप में वे नारी को उपमानों से सजाते हैं और प्रतीकों में नारी के विषय में कुछ बताते हैं। नारी के नखशिख वर्णन का जब अवसर मिला है, कवि ने उसका उपयोग किया है। नारी की लम्बी काया उसकी सुघड़ता में सम्मिलित है।[1] कौन सा मुख सुन्दर है? जो रक्त की लालिमा से लाल और गौर वर्ण का हो।[2] यदि उस मुख से रम्य राग की उपज भी होती हो तब तो सोने में सुहागा है।[3] रमणी के कल कर्ण प्रिय राग से पुरुष की नस-नस स्पंदित हो उठती है और वह पुलक उठता है।[4] नारी के नेत्र तो मद भरे चषक हैं जो नर को बेसुध कर डालते हैं, हलाल कर देते हैं।[5] नारी का गन्धमाल्य विश्व का किरीट है जिसे नर-संसार अपने सिर पर सहेजता है और आंखों पर बिठाता है।[6] नुकीली नासिका और पतले अधरों का मूल्य कौन

---

१. कामायनी (प्रथम संस्करण) ४२-९ (पृष्ठ४८ का दूसरा अंक)।
२. वही ४६-८,१०।
३. वही १६८-२४।
४. वही १०१-२१।
५. वही १६८-२४।
६. वही १६८-२४।

आँक सकता है।[१] मुख की मुस्कान को क्या कहा जाय? ऐसा प्रतीत होता है मानो लाल किसलय पर उषा की लालिमा सोई पड़ी हो।[२] इसी मुस्कान से मीठा प्रकाश फैलता है जो अग जग को मोह लेता है[३]। वही प्रकाश ओस-कन और सरिता की तरंगों में प्रतिबिम्बित होता है।[४] इसी मुस्कान से प्रकृति चेतनामय है।[५] सुकुमार और घुंघराले बाल नारी के सौन्दर्य को बांधे हुए हैं।[६] इन बालों में मनुष्य जीवन का कण-कण उलझा पड़ा है।[७] उसकी त्रिवली में तीन गुण लिपटे पड़े हैं। त्रिवली स्वयं तो लहरें ले ही रही है, यह मानव मन को भी लहरा देती है।[८] जब नारी अपने चन्द्र-मुख को घूंघट से छिपा लेती है तब तो वह और आकर्षक बन जाता है।[९] उस समय का क्या वर्णन किया जाय? घूंघट के पीछे स्निग्ध और चमकता मुख ऐसा लगता है मानो कोमल किसलय में कलिका छिपी बैठी हो या दीपक पर आंचल का आवरण डाल दिया गया हो।[१०] नारी के इन अंगों में से विद्यापति के समान सबसे अधिक प्रसाद जी खिंचे हैं नारी के उरोजों की ओर। उरोज नारी के प्रतीक हैं। लघु उरोजों को उन्होंने बिजली का गुलाबी फूल बताया है।[११] इन्हीं के मध्य नर का सुख तिरता रहता है।[१२] स्वांस के झूले में ऊपर उठते और नीचे आते उरोज मनुष्य जीवन के ज्वार-भाटे बन जाते हैं।[१३] बंधे पीन पयोधर अपनी अलग कहानी कहते है।[१४] सेनापति और बिहारी ने इन्हें शिशिर शीत की औषध ही माना था किन्तु प्रसाद जी ने इनमें ज्ञान-विज्ञान भरा पाया है।[१५]

नखशिख सौन्दर्य भरी नारी कौन हो सकती है? युवती ही न। प्रसाद जी यौवन, रूप, विलास और प्रेम के कवि हैं। नारी के यौवन का चित्रांकन उन्होंने मनोयोग से किया है। यौवन से दीप्त नारी, जग की अभिलाषाओं को साकार मूर्ति है,

१. वही १६६-२६।
२. वही ४७-१२।
३. वही ११६-४७।
४. वही ३१-७३।
५. वही २६०-६१।
६. वही ४७-११।
७. वही १२५-७८।
८. वही १६८-२४।
९. वही ६७-२३
१०. वही ६७-१।
११. वही ४६-८।
१२. वही १२५-७५।
१३. वही १२५-७६
१४. वही १४२-१७, १८
१५. वही १६८-२४

जिसमें आकर्षण और आनन्द देखा जाता है।[1] भोला मानव उसमें सुख का स्रोत ढूंढ़ता है। वह नारी को अतुल और असीम विभव से भरा देखता है[2] एवं उस यौवन-विभव को देख कर किंकर्त्तव्य विमूढ़ बन जाता है।[3] इस अष्टांगवती षोडशी के रूप-सौन्दर्य की थाह कौन पा सकता है। इस रूप की उपमा अकल्प्य है। यह रूप सब प्रकार के आकर्षण और तेज से भरा दिखाई पड़ता है। कौन उस मधुरिमा का बखान कर सकता है? क्या उषा की प्रथम रेखा इसे कहा जाय।[4] नहीं नहीं, यह सौन्दर्य उससे बढ़ कर है। यह तो ज्योत्स्ना का अजस्र निर्झर है।[5] कभी इसे वासना की मधुर छाया बताया जाता है तो कभी हृदय की सौन्दर्य प्रतिमा उसे स्वीकार कर लिया जाता है।[6] सौन्दर्य सम्पन्न नारी ही तो छवि का सागर है जिसमें मानव मन डूब कर ऊपर उठने का नाम नहीं लेता।[7] नारी का सौन्दर्य छायापथ की तारक द्युति के समान आंखों को पकड़ लेता है।[8] मानव उस छवि को हृदय पट पर खींच कर प्रसन्न होता है।[9] पागल मानव इसे देख कर बेसुध सा हो जाता है, उसकी धमनियों में ज्वार आ जाता है।[10] आँखें मूंद कर वह अभिलाषाओं के झूलों में झूलने लगता है।[11] इस सौन्दर्य से आंखें जलती हैं और हृदय शीतल होता है। तब नेत्र मुद जाते है।[12] बस विवश नर अपनी चेतना न्योछावर कर डालता है।[13] भूले मन के लिए सौन्दर्य में विचित्र जादू दिखाई पड़ता है।[14] मनुष्य पागल और[15] विमूढ़ बन कर उसे अपनी चेतना का वरदान मानने लगता है।[16] पुरुष इस सौन्दर्य को खरीदने के लिए सब कुछ देने को प्रस्तुत है, अपनी स्वतन्त्रता भी। वह .गुलाम बनने

---

१. वही ४७-१३।
२. वही ४०-७८।
३. वही ४०-७७।
४. वही ४७-१४।
५. वही ८६-२०।
६. वही ८७-२४।
७. वही ८६-३२।
८. वही १०४-३८।
९. वही २२२-६६।
१०. वही ८६-३५।
११. वही १०२-२७।
१२. वही १०१-२२।
१३. वही १०२-२७।
१४. वही ३६-७१।
१५. वही ६२-४३।
१६. वही १०२-२७।

के लिए तैय्यार है।[1] जब कवि नखशिख सौन्दर्य और रूप माधुरी के आकर्षण को अंकित करे तो उसके विलास का चित्रण क्यों न करेगा। फलतः कवि ने आलिंगन[2] और चुम्बन[3] की हाट लगाई ही है।

नायिका भेद

प्रसाद जी ने कामायनी में नारी के भिन्न भिन्न चित्रों को खींचा है जो नायिका भेद के अन्तर्गत आ जाते हैं। एक अभिसारिका नारी है। वह प्रिय से मिलने के लिए आतुरता पूर्वक दौड़ रही है। दौड़ती-दौड़ती हांफने लगती है। परन्तु प्रिय मिलन की तीव्र इच्छा उसे खड़ी नहीं होने देती। वह और वेग से दौड़ती है।[4] दौड़ती हुई वह सामने देखती है। उसे आभास सा होता है कि प्रिय सामने कुछ दूर पर खड़ा है। वह उत्कंठिता हो जाती है। मुख का घूंघट उठा कर वह मुस्कान छटा छितराती है, ठिठकती है और पुनः आगे बढ़ती है।[5] अब वह मुदिता है। उसने पहिचान लिया है। अब उसकी हृदय वेदना दूर हो गई है। वह हर्षित हो फूल उठती है।[6] लज्जा शीला मुग्धा के कई चित्र कामायनी में हैं। मुग्धा पति को देख गद्‌गद् है, उसकी पलकें झुक जाती हैं।[7] कोमलांगी अपने में ही सिमिट रही है।[8] उसके कर्ण एवं कपोल आरक्त हो उठे हैं, हाँ मन में मरोड़ है।[9] मन की उद्दाम लालसा क्या करे, जब लज्जा पैर बांधे खड़ी है।[10] मानिनी नायिका भी कामायनी में मान किए बैठी है। पति के प्रति कुछ आक्रोश है और वह रूखी सी दिखाई पड़ती है।[11] नायक आकर मनाता है। हाथ में हाथ लेकर आंखों और वाणी से विनय करता है।[12] प्रोषितपतिका या विरहिनी नायिका के बड़े सुन्दर और सरस चित्र प्राप्त होते हैं। पति के विरह में उसका शरीर कृश है, वह रेखाओं का चित्र मात्र ज्ञात होती है, प्रभात के चन्द्र की

---

१. वही ६६-१५।
२. ६७-४; १२५-५४,७५; ८-२७; १०-३५; ११-३७; १२-४६; १४-५३; १५-५७; २०-७६; ८६-२१; ७३-४६।
३. ३५-३८; ३६-५६; ३६-७१; १३६-१२७; ८८-२८; २६१-६४।
४. ३६-७२।
५. ३६-७४।
६. ४-६।
७. ६४-५२।
८. ६८-८।
९. १०३-३२,३३
१०. ११६-४८।
११. १२६-८३,८४।
१२. १२७-८५,८६,८७,८८।

नाईं निस्तेज दिखाई देती है।[१] उसकी कृशता देख कहना पड़ता है कि वह शिशिर ऋतु की क्षीण सरिता है।[२] आराम और विश्राम भी पति के साथ चला गया है।[३] बस साथ हैं सूनी आहें।[४] सरिता के किनारे खड़ी हो उसका हृदय भर आता है। सरिता जा रही है अपने प्रियतम से मिलने। उसको पति के सहेट स्थान का पता है। वह जानती है, उसका प्रियतम वहाँ अवश्य मिलेगा। इसी विश्वास से तो अभिसारिका सरिता दौड़ी जा रही है।[५] किन्तु विरहिनी का संसार सूना और उजड़ा है।[६] चारों ओर उसके लिए अंधकार ही अंधकार है। अपने स्नेह को जला कर वह प्रकाश करती है। शायद पति को मार्ग दीख जाय लौटने का। कुटिया में दीप जलता है और साथ ही साथ जलती है वह। पर कौन उसकी जलन का अनुमान कर सकता है?[७] कोकिल की कूक उसे पहिले सुहाती थी, अब नहीं। पर वह करे क्या? उस मर्म भेदी कूक को सहती है। आंखें उसकी पथ पर बिछी हैं।[८] चारों ओर उसके लिए दुख बिखरा पड़ा है। उसके आंसू बहने लगते हैं। वह सोचती है—पर ये जल-कण किसका पद पखारेंगे? हाय, वे तो हैं ही नहीं।[९] प्रकृति मकरन्द के कण बरसाती है और विरहिनी के नेत्र आँसू बरसाते हैं। प्रत्येक अश्रुकण एक मोती है जिसमें उसके प्रियतम का चित्र बना है।[१०] ये अश्रुकण उसे जुगुनू प्रतीत होते हैं क्योंकि इनके प्रकाश में वह पिछली सुखभरी कलोलों को देख लेती है।[११] आँखों की झड़ी दिल की तपन न बुझा सकी है।[१२] विरहिनी गत दिनों की याद कर कांपती है। वह उन दिनों की स्मृति को दूर रखना चाहती है। जितना वह उन्हें भूलने के लिए बल लगाती है वे उतने ही वेग से सामने आकर नाचने लगते हैं। कितनी अबला है वह? अब उसे प्रिय की निष्ठुरता भी स्मरण हो आती है। किस अपराध से प्रिय छोड़ गये हैं! क्या यह प्रियतम की विजय मानी जायगी। नहीं, कदापि नहीं।[१३] कहां

१. १७५-२,३।
२. १७५-४।
३. १७५-५।
४. १७६-६।
५. १७६-७।
६. १७६-८।
७. १७६-९।
८. १७७-१०।
९. १७७-११।
१०. १७८-१९।
११. १७९-२०।
१२. १७९-२१।
१३. १७७-१३।

गए वे पुराने हास-विनोद, रंग-रेलियां ! ओह, मैंने उन पर कितना अटूट विश्वास किया था। क्या यह मेरा पागलपन न था ? पुरुष क्या विश्वास के योग्य है ? मैंने तो अपना सब कुछ उन्हें दे दिया था। अपना कहने को मेरे पास कुछ भी न बचा था। सब कुछ लूट कर मुझे क्यों इस दशा में उन्होंने पहुँचाया।[१] स्त्री का जीवन क्या सदा देते रहने ही के लिए है ? क्या विनिमय में उसे कुछ भी प्राप्त करने का अधिकार नहीं है ? स्त्री इतना देकर पाती कितना है ? बहुत ही अल्प। संध्या, रवि का दान देकर थोड़े से बिखरे तारे ही तो पाती है। वह भी नारी है ना ? क्या नारी जीवन की यह कहानी आवृत्ति पाती रहेगी।[२] प्रिय ने मुझे बुरी तरह छला। वे हँसी छिटकाते आये। मैं फूल उठी, आनन्द में नाचने लगी। मेरी और उनकी वह हँसी कहाँ गई ? "आता हूं" का वचन देकर चिर प्रवास से अभी तक नहीं लौटकर आए हैं।[३] वे रातें कहाँ गईं जो जगते ही बीत जाती थीं क्योंकि बातों बातों में, मधुर संभाषणों में रात के जाने का पता ही न चलता था। दिन भी इसी प्रकार चुपके से आता था और बिना कहे चला जाता था। दिन से रात कब हुई, इसका ज्ञान ही न रहता था। आज वे दिन-रात सपने के समान कहाँ छिप गये।[४] घर की पुकार सभी को खींच लाई है किन्तु मेरा परदेशी नहीं लौटा है।[५] अब उसे घर काटने दौड़ता है। वह बन-बन में पपीहे की पुकार मचाती है।[६] विरह के असह्य भार को सह न सकी वह। बन-बन में खोजने लगी। सबसे पूछती है—अरे कोई बता दो मेरा प्रवासी प्रिय कहां है ? मैं उसीसे मिलने के लिए चक्कर काट रही हूँ।[७] वह मुझसे रूठ गया है। भला अपने की भी मनुहार की जाती है। इसी लिए मैंने उसे मनाया नहीं। किन्तु यही भूल आज हृदय की शूल बनी है। कोई बता दो, मैं उसे कहाँ खोजूँ ?[८]

यह मालिन है क्या ? माला तो गूँथ रही है। इसकी माला और माला गूँथने की कला से कौन प्रभावित न होगा ? सिर नीचा किए यह अपने कार्य में संलग्न है। वह माला ही नहीं, हृदयों को भी गूँथ रही है।[९] लो माला तय्यार है। प्रिय भी सामने है। रोमांचित होकर वह माला को प्रिय के हृदय पर डाल देती है। माला हृदय के

---

१. १७७-१४।
२. १७८-१५।
३. १७८-१६।
४. १७८-१७।
५. १७८-१८।
६. १८०-२७।
७. २११-२८।
८. २१२-२९,३०।
९. ६७-५।

ऊपर नहीं झूल रही है, अन्दर भी प्रवेश कर चुकी है। प्रियतम के मन की डाली उस मालिन के सामने झुक चुकी है![1] कामायनी में गर्भिणी नारी का चित्र भी बड़ा यथार्थ है। केतकी के हृदय के समान उसका मुख पीत वर्ण है। आँखों में स्नेह के साथ आलस्य भरा है। शरीर कृशता और लज्जा से ढक गया है और कभी-कभी काँप उठता है। पीन-पयोधर मातृत्व के भार से झुक गये हैं।[2] नारी का एक रूप मद ढालने वाली साकी का भी है। साकी बन कर वह पुरुष को प्याले पर प्याला दे रही है। इतने ही से तृषित पुरुष की आग क्या बुझ जायगी?[3]

नारी के अनेक रूपों के साथ उसकी अनेक मुद्राओं का चित्रण भी कामायनी में हुआ है। सुहागरात के बाद प्रातः काल हुआ है। शय्या पर नव वधू संकुचित हुई बैठी है। उसकी स्मृति में रात्रि की हल चल है। वह पति को सामने देख मान करती है और ऐंठ जाती है।[4] एक दूसरी मुद्रा देखिए। नारी घूँघट डाले पति की ओर जा रही है। सहसा सामने उसे खड़ा पाती है। घूँघट उठा कर वह देखती है। मुस्करा कर वह ठिठक जाती है। फिर पहिचानने का प्रयास करती है[5]। लज्जाशील नारी की मुद्रा देखिए। उसकी पलकें झुकी हैं, साथ ही झुकी है नासिका की नोंक भी। लज्जा से कर्ण-कपोल लाल हो गये हैं। पर पति सामने है। अतः शरीर रोमांचित है और बोली में है गद्‌गद्‌ता।[6]

नारी के दो रूप

प्रसाद जी ने कामायनी में एवं अन्यत्र भी नारी के दो रूपों को प्रधानता दी है। वे हैं—नारी का सात्त्विक रूप और राजसिक रूप। सात्त्विक रूप में वह हृदय की सद्-वृत्तियों, सद्-गुणों और उत्तम विभूतियों का आगार है। कामायनी में इसका नाम है श्रद्धा या कामायनी। अपने राजसिक रूप में वह बुद्धि के गुण-दोषों से सम्पन्न है और कामायनी में इसका नाम है इड़ा। सात्त्विक नारी अनेक शुभ गुणों का भण्डार है। वह करुणा की प्रतिमूर्ति है। उसकी करुणा का क्षेत्र बड़ी दूर तक फैला है। उस क्षेत्र में पुरुष ही नहीं इतर प्राणी पशु-पक्षी भी आते हैं।[7] यदि पुरुष पशु-पक्षियों को मारना चाहता है या धर्म के नाम पर बलि देना चाहता है तो वह

१. १८-६।
२. १४२-१६,१७।
३. १८३-३६,४०।
४. २४-६।
५. ३६-७४।
६. ५४-५२।
७. ८३-१०, ११, ७१२

इस कार्य का विरोध करती हुई पुरुष से कहती है—क्या सृष्टि में केवल तुम्हें ही जीने का अधिकार है, इतर प्राणियों को नहीं।[1] वह नर को समझाती है—तुम्हें अस्त्र मिला है, दूसरों का गला काटने के लिए नहीं, वरन् अपनी रक्षा के लिए। ये पशु-पक्षी क्या हमारे उपकारी नहीं हैं? गऊ-बकरी हमारा पोषण दुग्ध से करती है, महिष, वृषभ, हरिण भी हमारे जीवन के हितकारी हैं। उनका चमड़ा हमारे काम आता है। उनको पालो, मारो मत। जन्म से हम भी पशु थे। हम मानव बनकर पशुत्व पीछे छोड़ आये हैं। फिर क्यों रक्त पात करके हम पशु बनने की तैयारी कर रहे हैं?[2] नारी मनुष्य का अंग है। पशु-पक्षी पर करुणा की अजस्र वर्षा करने वाली पुरुष पर करुणा क्यों न करेगी? करुणा का ही फल है कि नारी जग का कल्याण करती है। उसके स्वांस-स्वांस से, शब्द-शब्द से, कर्म-कर्म से मंगल की शीतल वर्षा होती है। वह तो यही सिखाती है—स्वयं हँसो और औरों को हँसाओ। दूसरों के सुखानन्द में अपना सुख खोजो।[3] केवल अपने सुख में लीन रहने वाला दूसरों को पीड़ा दिया करता है अरे! मानव! तू सुगन्धित कुसुम बन और जग को सुगन्ध का दान कर। जीवन सामाजिक ही होता है, एकान्तिक नहीं। कोई भी प्राणी अकेला नहीं रह सकता। जब दूसरों के साथ रहना ही है तो दूसरों को देख कर अपने कार्यों को सँभाल। मनुष्य की यही तो मानवता है कि वह सामाजिक है।[4] नारी का उद्घोष है—यह लोक, कल्याण भूमि है।[5] नारी की वीणा पर जगमंगल के तार झनकारते हैं। अपने जीवन सागर से वह सदा कल्याण-मुक्ता उपजाती रहती है।[6] नारी का स्नेह ही तो दिव्य श्रेय का उद्गम स्थान है।[7]

संसार में सबसे बड़ा त्याग और बलिदान करने वाली है नारी। वह सर्वस्व दान कर देती है।[8] उसका हृदय विश्वास का महासागर है। इसीलिए वह मौन होकर सर्वस्व समर्पित कर देती है।[9] वह देना ही जानती है, विनिमय में कुछ लेती नहीं।[10] नारी, हृदय का अवतार है। उसके पास जगत का सबसे बड़ा और अमूल्य

---

१. १२६-६६, ६७।
२. १४६-३४ ३५, ३६, ३७।
३. १३२-१०६।
४. १३३-१११ से ११६ तक
५. १६६-२०।
६. २५५-८२।
७. २४४-२४।
८. ६४-५३।
९. १०४-३७।
१०. १०५-४३ एवं १७८-१५।

धन है उसका हृदय। वह प्रणय, सरलता और मान भरे उसी हृदय को पुरुष के चरणों में चढ़ा देती है।[1] वह महान् तपस्विनी है। क्षमा उसका सबसे बड़ा गुण है। प्रिय की निर्दयता को भी वह क्षमा कर देती है। निर्दयता पाने पर भी वह अपने दिये दान के लिए कभी पश्चाताप नहीं करती। यही तो उसका सात्त्विक दान है।[2] न अपने अतुल दान को वह भूलती है और न उसकी शिकायत करती है।[3] विश्वास के कण-कण से वह बनी है[4]। विश्वास तरु के तले ही सदा वह रहती है[5] विश्वास पूर्ण हृदय के दान का फल प्रायः उसे भला नहीं मिलता। वह ठुकरा दी जाती है झंझा और आँधियों के थपेड़ों के बीच वह झूलने लगती है। पुरुष का निर्मम और निष्करुण व्यवहार उसके कोमल हृदय को घायल कर देता है। किन्तु नारी धैर्य का पालना है[6] और सहन का सागर[7]। इतने पर भी यदि पुरुष निराशा के भंवर में फँस जाता है तो वह उसका साथ नहीं छोड़ती। उसे सान्त्वना और ढाढस देती है[8]। वह श्रम को पैरों से बाँधकर चलती है[9] और शान्ति को हृदय में छिपाए रहती है।[10] पुरुष के कष्टों को कम करके[11] वह उसे सजीवता देती है।[12] उसके साहस को बढ़ाती है[13], संकोच और झिझक हटाती है[14] सहन शक्ति उपजाती है[15] और उसे धैर्य देकर पथ पर अग्रसर करती है।[16] साहस बढ़ाती हुई वह पुरुष से कहती है—अधीर क्यों बनते हो? जीवन के दाँव को न हारो। साहस से जीवन के तूफानों से लोहा लो।[17] जीवन में जो अवसाद या अंधेरा छाया है, यह सब क्षणिक है। जीवन का अर्थ है

---

१. १६३-१३।
२. २४२-२०।
३. २५०-३६।
४. १०६-४५।
५. १०४-३७।
६. २४८-३२।
७. १७६-६।
८. २६१-१६।
९. १०४-३८।
१०. २२३-७६।
११. २१५-४१।
१२. २१५-४२ एवं ६३-४७।
१३ ५२-३३।
१४ ५२-३५।
१५. ५३-३६,४०,४२।
१६. ५५-१४।
१७. ५५-४४।

परिवर्तन। जब सुख सदा नहीं रहा, तो दुख की बदली भी सदा घिरी न रहेगी।[१] जीवन की सफलता की सीढ़ी है, कर्म। अतः कर्मशील बने रहो।[२] जीवन में वही विजयी होता है जो शक्ति रखता है, अतः सदा शक्ति का अर्जन करो।[३] शक्ति प्राप्त कर पर-पीड़ा में न लगो वरन् इस शक्ति से जग को सुखी और मंगलमय बना दो। स्मरण रक्खो, तुम्हारी शक्ति से सागर पट जायेंगे, पर्वत चूर्ण हो जायेंगे। और ग्रह नक्षत्र टूटकर छितरा जायेंगे। शक्ति का मूल है श्रम। अतः श्रम का महत्त्व समझो।[४] यदि प्रत्येक व्यक्ति इस मार्ग पर चलने लगे तो मानवता की विजय होगी।[५] भग्न हृदय रोते नर से वह कहती है—तू अपने अश्रुओं से सरोवर बना रहा है, मैं उसमें सरोज खिलाऊँगी।[६] तेरे अंधकार को दूर करने के लिए मैं दीपक की नाईं जलूँगी।[७] तेरे तप्त जीवन पर मैं वर्षा करूँगी।[८] फिर तू निराश क्यों होता है? शब्दों और कर्मों के हाथों में दीपक लेकर नारी सृष्टि की दिशाओं को आलोकित करती है।[९] वह पुरुष के कर्म पथ में आगे बढ़कर दीपक दिखा कर कहती है—ले मैं आगे हूँ तू भय क्यों करता है? मेरे पीछे चला आ।[१०] नारी देवत्व और दानवत्व का संधिस्थल है एवं जीवन को समन्वित मार्ग देती है।[११]

नारी का दूसरा रूप है राजसिक। नारी के इस रूप में अग्नि का तेज भरा है। राजसिक नारी उल्लास, प्रेरणा और उत्साह से भरी है।[१२] मानव को वह सौन्दर्य का मद प्याला ही नहीं पिलाती आवश्यकता पड़ने पर साक़ी बनकर मानव को प्याले पर प्याले देकर विमूढ़ कर देती है।[१३] सात्त्विक नारी के समान वह धैर्य से अपमान की घूँट पीकर शान्त नहीं रह जाती वरन् क्रुद्ध होकर पुरुष का सामना करती है। पुरुष के विरुद्ध षडयंत्र रचती है और पुरुष को बंदी भी बना सकती है।[१४]

---

१. ५५-४५, ४६, ४७।
२. ५६-४६।
३. ५७-५५।
४. ५८-५६, ६०।
५. ५६-६३।
६. २१७-५२।
७. २१७-४६।
८. २१७-५०।
९. २२५-८३।
१०. २५७-२ एवं २६०-१४।
११. २७३-७३।
१२. १८१-२८, २६।
१३. १८२-२६, ४०।
१४. १८५-४६ एवं १८६-५३, ५४।

यह नारी स्वयं नियमों में बँध कर दूसरों को भी उनमें बांधना चाहती है।[१] यह प्रभुता की भूखी है और प्रभुता नियमों के खंभों पर ही तो टिकती है। वह रौब से कहती है—मेरी आज्ञा मानो, विरोध न करो। यदि विरोध करोगे तो फल भोगोगे। मैं कुछ कम नहीं हूँ। मैं शक्ति हूँ और सृष्टि मेरे साथ है। भलाई इसी में है कि मेरे संकेत पर नृत्य करो।[२] वह पुरुष को संघर्ष सिखाती है।[३] पुरुष को पुरुष से अलग करके[४] अपना आतंक जमाती है।[५] यह जलती ज्वाला[६] में स्वयं तप कर दूसरों को भी तपाती है।[७] नारी के पास माया और ममता का अपूर्व बल है जिसके कारण यह शक्ति शालिनी है।[८] बुद्धि की राशि होकर यह नरों के सिर पर चढ़ जाती है[९] और अपना स्वार्थ साधती है। स्वार्थ वश दूसरों की संतति और समृद्धि को छीनने में भी नहीं हिचकती[१०] किन्तु राजसिक नारी सात्त्विक नारी के सामने झुकती है और उसकी विजय स्वीकार करती है।[११]

नारी का चाहे सात्त्विक रूप हो, चाहे राजसिक, पुरुष आकर्षित होता है। वह दोनों के सामने अपने को अवश पाता है।[१२] यद्यपि अन्त में वह सात्त्विक नारी को ही श्रेष्ठतर समझता है। इन दोनों नारियों में मातृत्व का रूप अधिकार पाता है। प्रसाद जी ने नारी के मातृत्व रूप को बहुत गौरव दिया है और माता के रूप के बड़े ही यथार्थ और सरस चित्र उतारे हैं। सात्त्विक और राजसिक दोनों नारियों में संतति की अमिट और प्राकृतिक भूख है। संतति की यह भूख केवल नारियों में ही नहीं इतर प्राणियों में भी पाई जाती है।[१३] संतति से हीन नारी का जीवन नीरस, अभाव भरा और सूना है।[१४] नारी की सबसे बड़ी कामना है कि उसकी गोद भर

---

१. १९०-१४।
२. १९३-१९,४४,४६।
३. १९६-६६।
४. १९६-६८।
५. १९६-७१।
६. २०६-८।
७. २०७-११।
८. २३८-११।
९. २४१-१७।
१०. २४२-२०।
११. २४४-२४।
१२. ९९-१५ एवं १९८-२३।
१३. १४४-२५।
१४. १४४-२६।

जाय।[1] इसके लिए वह दाम्पत्य जीवन में सदा लालायित रहती है। जैसे ही वह दाम्पत्य पथ पर आगे बढ़ती है वैसे ही वह कल्पना करने लगती है—मैं अपने लाल को झूले पर झुलाउँगी। जब धूल भरा मेरा हीरा मुस्कान के फूल बखेरता दोनों बाहें फैला कर मेरी ओर आएगा तो मैं उसे छाती से चिपटा लूँगी। उसकी टूटी फूटी शब्दावली मेरे दुखों और अभावों को हर लेगी।[2] गोद भर जाने पर उसका प्यार बंट जाता है। बच्चे का एक शब्द "माँ" उसे स्वर्ग में ले जाकर बिठा देता है।[3]

प्रसाद जी ने नर और नारी के क्षेत्रों को भिन्न-भिन्न माना है। नारी का कर्म क्षेत्र है, घर। वे नारी को पुरुष की प्रतिस्पर्द्धा में देखना नहीं चाहते। राजसिक इड़ा जब पुरुष के क्षेत्र में आगे बढ़कर पुरुष की प्रतिस्पर्धा में खड़ी होकर प्रभुता में हाथ बँटाती है तो अन्ततः निराशा ही उसके हाथ आती है। दूसरी ओर सात्विक श्रद्धा अपने कर्म क्षेत्र को जानती है अतः सदा विजयिनी है। श्रद्धा सदा अपने घर के निर्माण और संवार में व्यस्त है।[4] वह कातती है और कपड़े बनाती है।[5] अनाज संग्रह पर ध्यान रखती है। उसे सुख मिलता है घर के परकोटे में।[6] यही उसका जगत है, यही उसके जीवन का लक्ष्य। नारी श्रद्धा के समान चाहे सभी सात्विक गुणों का अवतार हो और चाहे इड़ा के समान शक्ति, तेज और प्रभुता का सागर हो, उसका जीवन पुरुष के बिना अधूरा है। इतनी दुर्बल और निःसंबल है नारी।[7] पुरुष भी उसी प्रकार नारी के बिना अपूर्ण और निर्जीव है। नारी के सौन्दर्य से अभिभूत होकर वह नारी को अपना बनाता है। किन्तु विश्वासिनी नारी को वह छलता है, भुलावे में डालता है[8] और समय पर स्वार्थवश बल प्रयोग भी करता है।[9] नर की यह अमिट लालसा है कि सभी सुन्दर विभूतियों का स्वामी बनूँ।[10] नारी भी सुन्दर विभूति है अतः वह शंखनाद करता है "आकर्षण पूर्ण विश्व मेरा भोग्य है"[11] पुरुष केवल अपने सुख को देखता है।[12] वह चाहता है कि नारी का एक मात्र केन्द्र-बिन्दु वही

---

१. १५०-५१।
२. १५२-५६,६०,६१,६२।
३. १७६-२२।
४. १४६-४७, ४८।
५. १४२-१५।
६. २१६-४६।
७. १०४-३५।
८. १२८-६२ एवं १३५-१२०, १२१।
९ १८४-४५ एवं १८५-४६।
१०. ८५-१६।
११. १२८-८६।
१२. १२०-६६, १००,१०१ एवं १३१-१०२।

बना रहे ।[१] वह नारी पर एकाधिकार चाहता है ।[२] जब वह इस एकाधिकार में किसी से बाधा पड़ती देखता है तो वह ईर्षालु बन जाता है, चाहे बाधक कोई पशु हो,[३] चाहे उसका अपना पुत्र[४] और चाहे उसकी प्रजा ।[५] स्वार्थ का पुतला वह नर कभी नारी की अनुनय विनय करता है,[६] कभी निष्करुण हो नारी को त्याग देता है और कभी नारी पर आक्रमण करता है ।[७] जहां नारी में स्थिरता और दृढ़ता है वहां ही पुरुष में चंचलता और परिवर्तन शीलता है । वह नवीनता खोजता है और दुःख उठाता है । श्रद्धा के रूप में नारी ही उसे पुनः स्थिरता, त्राण और मंगल देती है ।

नारी की इतनी व्याख्या करने के बाद भी प्रसाद जी उसे रहस्य भरी मानते हैं ।[८] इसका कारण यही है कि प्रकृति रहस्यमय है[९] और नारी प्रकृति का प्रतिनिधित्व करती है । नारी के सभी रूप रहस्य भरे हैं । नारी के दोनों रूपों में से अन्ततः वह सात्त्विक रूप की नारी श्रद्धा को साथ लेकर ही मंगल की ओर बढ़ता है । यह सात्त्विक श्रद्धा पत्नी रूप में उसे सौभाग्य, स्नेह और संतोष से स्नान कराती है ।[१०] प्रसाद जी स्त्री और पुरुष के मिलन को हेय नहीं मानते वरन् उसे जग-मंगल दायक समझते हैं ।[११] फलतः पुरुषों को चाहिए सात्त्विक नारी और सात्त्विक-काम मंगलमय है ।[१२] नारी, नर का अनिवार्य पूरक रूप है, अतः नर के साथ उसे प्रमुखता प्राप्त होनी चाहिए । इसी मत को स्वीकार कर प्रसाद जी ने अपने काव्यों और नाटकों में नारी को अत्यन्त ऊँचा स्थान दिया है ।

---

१. १४५-२७ से ३१ तक ।
२. १४७-३८, ३९, १४८-४३, ४४, १९४-५३, १९६-७१ ।
३. ८४-१३, १४, १५ ।
४. १५३-६३ से ६७ ।
५. २००-१००, १०१ ।
६. १३६-१२४, १२५, १२६ ।
७. १८५-४६ ।
८. १६६-१९ ।
९. ८६-२१ ।
१०. २२६-८७ ।
११. २५२-३९ ।
१२. २६०-५९ ।

प्रकृति-परी का चतुर चितेरा, पंत

पंत जी की कविताओं का प्रधान स्वर है उनका प्रकृति चित्रण। वे मां-प्रकृति से हाथ जोड़कर मांगते हैं कि मैं तेरे राग को ही गाता फिरूँ—

रोम रोम के छिद्रों से मा !
फूटे तेरा राग गहन

—याचना

पंत जी पहाड़ी प्रदेश में जन्मे और बढ़े। प्रकृति के खुले आंगन में बालपन से ही रहने और विचरने से प्रकृति के प्रति कवि का अटूट अनुराग जम गया। बालक पंत, पहाड़ की किसी तलैटी, उसके किसी शिखर या एकान्त कोने में बैठकर प्रकृति के सौन्दर्य को अपलक निहारता और पीता था। फलतः प्रकृति पंत जी के रोम रोम में व्याप्त हो गई है। इस तथ्य को पंत जी ने स्थान-स्थान पर स्वीकार किया है—

(१) प्रिय हिमाद्रि, तुमको हिमकण से
घेरे मेरे जीवन के क्षण !
मुझ अंचल वासी को तुमने
शैशव से आशा दी पावन !
नभ में नयनों को खो, तब से
स्वप्नों का अभिलाषी जीवन !

(२) भीम विशाल शिलाओं का वह
मौन हृदय में अब तक अंकित

—हिमाद्रि

(३) प्रकृति गोद में छिप, क्रीड़ा प्रिय
तृण तरु की बातें सुनता मन

—हिम प्रदेश

(४) उस पवित्र प्रान्तर की आत्मा
हुई निविष्ट हृदय में अविदित

—हिम प्रदेश

सूपनखा राम के पास अनिन्द्य सुन्दरी का रूप बना कर आयी थी। जब राम ने उसका प्रणय अस्वीकार कर दिया तो उसने राक्षसी का भयंकर रूप भरा और वह

सीताका खाने चली। सूपनखा के समान ही प्रकृति के दो रूप हैं—सुन्दर और भयानक वृन्दावन लाल वर्मा को अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में प्रकृति का भयानक रूप अधिक प्रिय है, तो पंत जी को अपनी कविताओं में उसका सुन्दर रूप। वैसे पंत जी ने प्रकृति के भयानक रूप को देखा है और उसका वर्णन भी किया है—

(१) सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकर
दीर्घ भरता समीर निःश्वास
प्रखर झरती जब पावस धार
न जाने, तपक तड़ित में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन

(२) क्षुब्ध जल शिखरों को जब वात
सिन्धु में मथकर फेनाकर
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना, बिथुरा देता अज्ञात
उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने, मुझे बुलाता मौन

—मौन निमंत्रण

किन्तु उनके मन को बरबस खींचता है प्रकृति का मनोरम और सौन्दर्य सम्पन्न रूप ही। और वे गा उठते हैं:—

(१) स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर
विहग कुल की कल कंठ हिलोर
मिला देती जब नभ के छोर
न जाने, अलस पलक दल कौन
खोल देता तब मेरे मौन

—मौन निमंत्रण

(२) शुभ्र शांति में समाधिस्थ हे
शाश्वत सुन्दरता के भूभृत
वाह्य चेतना मेरी लुप्त में
जड़ीभूत आनन्द तरंगित

—हिमाद्रि

(३) कोश हरित, तृण श्वसित तल्प पर
सातप वन श्री लगती सुन्दर
नील भुका सा रहता ऊपर
अमिल हर्ष में उसे अंक भर

—हिम प्रदेश

सुन्दरता के पारखी मन के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह प्रकृति को नारी रूप में निहारता। फलतः पंतजी ने प्रकृति का नारी के भिन्न-भिन्न रूपों में चित्रित किया है। "पर्वत प्रदेश में पावस" नामक कविता में उसे वे बालिका रूप में स्मरण करते हैं और कहते हैं—

सरल शैशव की सुखद सुधि सी वही
बालिका मेरी मनोरम मित्र थी!

छाया को तो वे स्त्री रूप में सोई पाते हैं और कल्पना करने लगते हैं कि क्या यह दमयन्ती है? गङ्गा भी उनकी आँखों के सामने दुबली पतली मनोरम तापस बाला बन जाती है—

सैकत शैय्या पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म विरल
लेटी है श्रांत, क्लांत, निश्चल।
तापस बाला गंगा निर्मल, शशि मुख से दीपित मृदु करतल
लहरें उर पर कोमल कुंतल
गोरे अंगों पर सिहर सिहर, लहराता तार तरल सुन्दर
चंचल अंचल सा नीलाम्बर

—नौका विहार

संध्या को देखकर कवि उसे रूपवती नायिका मान पूछता है कि तू कौन है और उसका नखशिख चित्रण करने लगता है—

कहो तुम रूपसि कौन?
व्योम से उतर रहीं चुपचाप
छिपीं निज छाया छवि में आप

और तुरन्त कवि रीतकालीन कवियों की नाईं किन्तु भिन्न शैली में सुन्दरी नायिका का नखशिख वर्णन करने लगता है—

सुनहला फैला केश कलाप
मधुर, मंथर, मृदु, मौन!
मूंद अधरों में मधुरालाप

पलक में निमिष पदों में चाप
भाव संकुल, बंकिम भ्रू चाप
मौन, केवल तुम मौन
ग्रीव तिर्यक, चंपक द्युति गात
नयन मुकुलित, नत मुख जल जात
देह छवि छाया में दिन रात
कहां रहतीं तुम कौन ?
लाज से अरुण अरुण सु कपोल
मदिर अधरों की सुरा अमोल—
बने पावस घन स्वर्ण हिंदोल
कहो एकाकिनी कौन ?

—संध्या"

इसी प्रकार वर्षा भी मत्त यौवना नायिका के रूप में सामने आ खड़ी होती है और कवि उत्फुल्ल दृष्टि से उसके नख शिख को निहार कर गा उठता है—

नीलांजन नयना
उन्मद सिंधु सुता वर्षा यह चातक प्रिय वयना !
नभ में श्यामल कुंतल छहरा
क्षिति में चल हरितांचल फहरा,
लेटी क्षितिज तले, अर्द्धोत्थित शैल माल जघना !
इच्छाएँ करती उर मन्थन
चिर अतृप्ति भरती गुरु गर्जन
मुक्त विहँसती मत्त यौवना स्फुरित तड़ित् दशना !
रजत बिन्दु चल नूपुर झंकृत
मंद्र मुरज रव नव घन घोषित
मुग्ध नृत्य करती बर्हस्मित कल बलाक रसना !
बकुल मुकुल से कबरी गुंफित
श्वास केतकी रज से सुरभित
भू नभ की बांहों में बांधे इन्द्र धनुष वसना !

—वर्षागीत

वायु एक दुबली पतली स्त्री है जो अज्ञात दिशा को चलती है (वायु के प्रति)। चन्द्रमा भी एक परिश्रांत बाला है जो मुख छिपा कर देखने वालों को दीवाना बना लेती है (प्रथम रश्मि)।

चन्द्रमा की चाँदनी एक नर्तकी है। वह एकाकिनी बैठती है, सुन्दर शिखर पर खड़ी होती है, सागर की लहरों पर नाचती है एवं बैठ कर माला गूँथती है:—

नीले नभ के शत दल पर
वह बैठी शारद-हासिनि
मृदु करतल पर शशि मुख धर
नीरव, अनिमिष-एकाकिनि !
अपनी छाया में छिप कर
वह खड़ी शिखर पर सुन्दर
है नाच रही शत-शत छवि
सागर की लहर-लहर पर !
जग के अस्फुट स्वप्नों का
वह हार गूंथती प्रतिपल
चिर सजल सजल करुणा से
उसके आंसू का अंचल।

प्रकृति का यही रूप प्रिय है पंत जी को, यद्यपि उन्होंने अन्य रूपों एवं वेषों का भी वर्णन किया है, किन्तु वहां उनका मन नहीं रमा है। बादल मनुष्य बन कर अनेक रूप धरते हैं वे "मदन राज के वीर बहादुर" बन वायु विहार करते हैं (बादल) तो बसंत दक्षिण नायक बन कर आता है (बसंत)।

सृष्टि के आदि काल से स्त्री के सौन्दर्य की कल्पना परी या अप्सरा के रूप में होती रही है। संसार के सभी देशों की 'नानी की कहानियाँ' इसका प्रमाण हैं। सुख और सौन्दर्य की पूँजीभूत कल्पना है स्वर्ग। फिर स्वर्ग, नारी के सुन्दरतम रूप से क्यों विहीन रहता। मनुष्य मरने के बाद उड़कर दूर स्वर्ग में जाता है अतः वहाँ यह उड़ने वाली परियों को प्राप्त करता है। किन्तु परियाँ इस लोक में भी दिखाई दे जाती हैं। किनको? कल्पना शीलों को। कवि से अधिक कल्पना शील और कौन होगा। अतः कोई-कोई कवि, परियों को अन्तर्दृष्टि से देख लेता है, चाहे उनसे पुष्प बरसाने का काम ले और चाहे नाचने गाने का। प्रकृति को स्त्री रूप में देखने वाले कल्पनाशील कविवर पंत जी ने भी प्रकृति में परियों को पाया है और उनका वर्णन किया है। नदी के तट पर नौका में विहार करता कवि वन की परियों को धूप छाँह की साड़ी पहिने हुए क्रीड़ा करते हुए पाता है[1]। पहाड़ी प्रान्तों में तो परियाँ रहती ही हैं।

१. वन की परियाँ धूप छाँह की साड़ी पहने
जहाँ निरखता सुन्दर मृदु ऋतुओं के गहने — दिवा स्वप्न

कोई भी कवि एकान्त में उनका शब्द आज भी सुन सकता है। वे चांदनी रातों में अभिसार के लिए आती हैं।[१] आप इन्हें ढूँढ़िये। ये पहाड़ी प्रदेशों के निर्जन स्थलों में अपना अंचल फहराती मिलेंगी। धूप-छाँही साड़ी से भूषित ये अपने बालों से सुगन्ध फैलाती हैं।[२] परी वास्तव में प्रकृति है। प्रकृति के बच्चे, बादल यह स्वीकार करते हैं कि हम परियों के बच्चे हैं।[३] वायु भी परी है।[४] इसी प्रकृति परी का अर्चन कविवर पंत ने अपनी कविताओं में विशद और भाव भरे हृदय से किया है। कवि को प्रकृति इतनी प्रिय है कि वह इस जगत की पीड़ा और व्यथा से डर कर प्रकृति की ममतामयी गोद में मुँह छिपा लेना चाहता है। यह ठीक है कि यह पलायनवाद है किन्तु उस पलायनवाद से अच्छा है जहाँ कवि अज्ञात और अनजान प्रदेश में छिप जाना चाहता है। जैसे वैरागी वन में, भक्त भगवान के चरणों में, रीतिकालीन कवि सहेट में छिप कर बैठ जाने का इच्छुक है उसी प्रकार पंत, प्रकृति की गोद में—

वन की परियाँ, धूप छाँह की साड़ी पहने
जहाँ विचरतीं चुनने ऋतु कुसुमों के गहने
वहाँ मत्त करती मन नव मुकुलों की सौरभ
गुंजित रहता सतत द्रुमों का हरित श्वसित नभ
वहाँ गिलहरी दौड़ा करती तरु डाली पर
चंचल लहरी सी मृदु रोमिल पूँछ उठाकर
और वन्य विहगों-कीटों के सौ सौ प्रिय स्वर
गीत वाद्य से बहलाते शोकाकुल अंतर
वहीं कहीं जी करता, मैं जाकर छिप जाऊँ
मानव जग के क्रन्दन से छुटकारा पाऊँ
प्रकृति नीड़ में व्योम खगों के गाने गाऊँ
अपने चिर स्नेहातुर, उर की व्यथा भुलाऊँ

—दिवा स्वप्न

---

१. इन [illegible] की [illegible] में
परियाँ अभिसार को आतीं —गिरि प्रान्तर

२. [illegible] परियाँ, [illegible] धनुष अंचल फहराये
धूप छाँह रंग सारी पहने, [illegible] कुंतल छहराए —हिम प्रदेश

३. फिर परियों के बच्चों से हम
सुभग सीप के पंख पसार
समुद्र पैरते शुचि ज्योत्स्ना में
पकड़ इन्दु के कर सुकुमार —बादल

४. निखिल [illegible] की छवि, [illegible] अप्सरी सी अज्ञात —वायु के प्रति

यह तो सभी जानते हैं कि आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी काव्य जगत में प्रकृति को खुल कर खेलने का अवसर नहीं मिला और उसका अपना रूप अवगुंठन में दबा रहा। कबीर तो जगत में अपने राम की लाली ही देखना चाहते हैं, उषा की लाली नहीं। जायसी तो प्रकृति को सुखी और दुखी नर-नारियों के साथ सहानुभूति या शत्रुता करती दिखाते हैं। यदि कहीं पेड़ पौधों की ओर ध्यान गया तो सूची बना डाली। प्रकृति उनके काव्य में नायिका-नायकों के साथ रोती है या इठलाती है। यही हाल सूर का है। सूर ने भी जायसी के समान प्रकृति का उद्दीपन रूप निहारा है और गोपियों के पास सदा वर्षा बैठी रहती है वह हृदय और नयनों से बह कर जमुना में डूब जाती है। केशव दास को प्रकृति की ओर देखने का अवसर नहीं है। यदि देखते भी हैं तो उसमें अलंकार ही दिखाई पड़ते हैं और कुछ नहीं। केशव की प्रकृति अलंकारों से तो भूषित है परन्तु उसके न शरीर है और न आत्मा। जग को सियाराम मय देखने वाले लोकनायक तुलसी प्रकृति को उपदेशिका के ही रूप में देखते हैं, जो सबको शिक्षा देती है। रीतिकालीन कवियों के नेत्र कामिनी के भौतिक सुन्दर रूप में गड़े रहे, उनकी दृष्टि के सामने प्रकृति का सूक्ष्म रूप आया ही नहीं। यदि दृष्टि गई भी तो वह खसखानों और गलीचों से टकरा कर लौट आई। द्वारों से बाहर बग्घी में बैठ कर देखा तो उषा के मुख पर मुस्कान की लाली देखी और संध्या के हाथ रक्त से भरे देखे, पलाश में नारियों को जलते पाया और वायु में उन्हें उड़ते पाया। इसी लम्बी कवि सेना में सेनापति ने थोड़ा राजमार्ग से फिसल कर वर्षा और तीक्ष्ण धूप को देखा भी तो वहाँ आंसू और क्रोध का आभास ही अधिक पाया। फलतः सेनापति में भी प्रकृति का प्रधान रूप उद्दीपनात्मक ही है। वे भी राजभवन के फव्वारों में ग्रीष्म वर्षा और शरद का सुख लूट लेते हैं और रात्रि में डरी नायिका को विष की डली लाकर दे देते हैं। भारतेन्दु जी रसिक नागरिक थे अतः उन्होंने भी प्रकृति का अपना रूप नहीं देखा। आधुनिक काल में सबसे पहिले सुधाकर जी ने प्रकृति की ओर ध्यान दिया। आधुनिक काल की एक बड़ी विशेषता है कि सुधाकर जी से लेकर आज तक प्रकृति की ओर कवियों के नेत्र अधिकता से घूमे हैं और उसके आलम्बन रूप को उन्होंने देखा है। इन प्रकृति के चितेरों में पंत जी का स्थान सबसे ऊँचा है। जीवन के शैशव से प्रकृति की खुली गोद में खेलने वाले कवि के हृदय पर प्रकृति का अमिट चित्र अंकित हो गया है और वह उसे कभी भी भूल नहीं पाता है। पंत जी के काव्य की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है।

(१) यथार्थ वर्णन—पंत जी ने प्रकृति को अपने निजी रूप में देखा है। और आलम्बन रूप में उसका विशदता से वर्णन किया है। प्रकृति का यह यथार्थवादी रूप है—

गिरि का गौरव गाकर झर-झर
मद में नस नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों से सुन्दर
झरते हैं झाग भरे निर्झर।

—वन प्रदेश में पावस

गंगा के चल जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल
है मूंद चुका अपने मृदु दल!
लहरों पर स्वर्ण रेख सुन्दर पड़ गई नील, ज्यों अधरों पर
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर! —एक तारा

(२) अलंकृत वर्णनः—अलंकृत वर्णन कई रूपों में प्राप्त होता है—

(क) प्रकृति का उपमानों के रूप में प्रयोग।
(ख) प्रकृति का अलंकारों के सहारे वर्णन।

(क) प्रकृति को उपमान बनाकर मानवी जगत का वर्णन किया जाता है। कमल के समान हाथ बताया जाता है। यहाँ प्रकृति के एक सुन्दर और कोमल पदार्थ कमल को उपमान बनाया गया है। सभी कवि इस शैली को अपनाते हैं। पंत जी ने भी यह किया है—

जलाशयों में कमल दलों सा
हमें खिलाता नित दिन कर

—बादल

मृदुल कुडमल से, जिसे न ज्ञात
सुरभि का निज संसार
खोल से नव अवदात
स्खलित अविदित पथ पर अविचार —शिशु

शिशिर सा झर नयनों का नीर
झुलस देता गालों के फूल
मृदुल होठों का हिमजल हास
उड़ा जाता निःश्वास समीर
सरल भौहों का शरदाकाश
घेर लेते घन, घिर गंभीर

स्वर्ण शैशव स्वप्नों का जाल, मंजरित यौवन, सरस रसाल
प्रौढ़ता, छाया वट सुविशाल, स्थविरता, नीरव सायंकाल

—परिवर्तन

(ख) कवि अलंकारों के आधार पर प्रकृति के यथार्थ रूप का वर्णन करता है। वह पहिले प्रकृति के किसी अंग या पदार्थ को सामने लाता है और फिर उपमा, उत्प्रेक्षा रूपक, रूपकातिशयोक्ति इत्यादि अलंकारों से उसे सजाता है। भारतेन्दु जी ने यमुना वर्णन इसी शैली पर किया है किन्तु उत्प्रेक्षा एवं संदेहों का ऐसा घटाटोप लगा दिया है कि यमुना का यथार्थ रूप तिरोहित हो जाता है। बिहारी ने रूपक के आधार पर कुञ्ज के समीर को मतवाला गज बनाया है—

रनित भृंग घंटावली झरत दान मधुनीर
मंद मंद आवतु चल्यौ, कुंजर कुंज समीर

—बि० बो०, ५६०

केशव दास ने सूर्य में वानर का सांग रूपक प्रस्तुत किया है—

चढ़ो गगन तरु धाय, दिनकर वानर अरुन मुख
कीन्हों झुकि झहराय, सकल तारक कुसुम बिन

—रामचन्द्रिका, ५-१३

पंत जी ने भी इस प्रकार का अलंकृत वर्णन किया है और उपमा, रूपक इत्यादि अलंकारों से उसे सजाया है। उदाहरण—

निराकार तम मानो सहसा; ज्योति पुंज में हो साकार
बदल गया द्रुत जगत जाल में धर कर नाम रूप नाना

—वाप्सना

विद्रुम औ मरकत की छाया
सोने चांदी का सूर्यातप
हिम परिमल की रेशमी वायु
शत रत्न छाय, खग चित्रित नभ !

—अल्मोड़े का बसंत

केवल नील फलक सा नभ, सैकत रजतोज्वल
और तरल बिल्लोर वेश्मतल सा गंगा जल

—दिया स्वप्न

आधुनिक काल से पूर्व अमूर्त-उपमानों का प्रयोग कम होता था किन्तु आधुनिक काल में इनका प्रयोग विशेष हुआ है। पंत जी ने भी अमूर्त उपमानों का प्रयोग पर्याप्त किया है। बादलों का वर्णन करते हुए वे अमूर्त उपमानों को लाते हैं—

धीरे-धीरे संशय से उठ, बढ़ अपयश से शीघ्र अछोर
नभ के उर में उमड़ मोह से, फैल लालसा से निशि भोर

—बादल

गिरिवर के उर से उठ उठ कर, उच्चाकांक्षाओं से तरुवर
हैं झांक रहे नीरव नभ पर, अनिमेष, अटल, कुछ चिंता पर

—पर्वत प्रदेश में पावस

(३) मानवीकरण :—भारतीय मस्तिष्क प्रकृति को जड़ मात्र नहीं मानता है। भारतीय ऋषियों ने वैदिक काल से ही सृष्टि की सजीवता का उद्घोष किया था सृष्टि के अणु-अणु में ईश्वरीय सत्ता मानने वाले प्रकृति को जड़ कैसे मान सकते हैं। धर्म और दर्शन के क्षेत्र में प्रकृति को सदा से चेतन माना जाता रहा है। साहित्य के क्षेत्र में भी ऐसा होता रहा है। विरही यक्ष मेघों को दूत बनाकर प्रियतमा के पास अलका पुरी भेजता है। यह विरही का उन्माद और प्रलाप माना जा सकता है किन्तु है जड़ को चेतनता देने का ही प्रयास। कवियों ने प्रकृति में ईश्वरीय व्यापकता तो देखी ही है, उसने चेतनता का भी आरोप किया है। कृष्ण ने जगत् को अपनी विभूतियों से व्याप्त बताया है। वेद व्यास के इन गीतों का विरोध संस्कृत, हिन्दी एवं अन्य प्रान्तीय भाषा के किसी भी कवि ने नहीं किया है। कबीर अपने राम की ललाई सर्वत्र देखते हैं तो तुलसी सम्पूर्ण सृष्टि को सिया राम मय समझते हैं। जायसी भी सर्वत्र भगवान् का सौन्दर्य पाते हैं। कवियों ने प्रकृति में चेतनता का आरोप किया है। यह रूपकों के सहारे हुआ है। केशव ने वर्षा को काली के रूप में देखा है। उन्होंने वर्षा के समस्त अंगों का आरोप काली के अंगों, आभूषणों और वस्त्रों में किया है। सेनापति श्लेष और सांगरूपक के बल पर कल्पना करते हैं कि वनस्थली दुल्हिन है (क० र० ३-७), काला बादल कृष्ण है, (३-३४) और वर्षा बन जाती है वृद्धा (३-३६)। कविवर जायसी कुछ और आगे बढ़े हैं और उन्होंने रूपक का पर्दा दूर कर दिया है एवं प्रकृति में जीवन तत्व पाया है। उनका मानसरोवर पद्मावती को देख कर उसके पैरों को स्पर्श करता है। जायसी के वायु, जल, धुँआ, बादल सब ईश्वर रूप पद्मावती से मिलने जाते हैं, किन्तु पहुँच नहीं पाते हैं। इस प्रकार प्रकृति में प्राणों का संचार हुआ है। हाँ, इतनी बात है कि यह केवल ईश्वरीय प्रसंग में हुआ है और जगत में ईश्वरीय सत्ता का प्रसार दिखाया गया है। सृष्टि का सौन्दर्य ईश्वरीय सौन्दर्य है, यह जायसी का सिद्धान्त है। प्रकृति ईश्वरीय अंश है, जो उससे अलग होकर विरह में तड़पती है और मिलने का प्रयास करती है। आधुनिक काल में प्रकृति और प्रकृति के पदार्थों का मानवीकरण हुआ है। यह मानवीकरण और कुछ नहीं, सृष्टि को जीवित रूप में देखना है। रूपक में हम उपमेय और उपमान दोनों को अलग-अलग रखते हैं। रूपकातिशयोक्ति में केवल उपमान हमारे सामने आते हैं। दोनों दशाओं में वे निर्जीव पदार्थ होते हैं। मानवीकरण में सांगरूपक और रूपकातिशयोक्ति का विलय एक भावात्मक शैली पर हो जाता है। इसमें हमारे सामने वस्तु से उपमान नहीं रहते वरन् एक उपमान रह जाता है। उपमेय इन उपमानों के पीछे छिपा रहता

है और उसके अंगों की कल्पना हम सरलतया कर सकते हैं। अन्तर यह है कि सांग रूपक और रूपकातिशयोक्ति में उपमान मनुष्य या स्त्री की भाँति न हृदय रखता है और न क्रिया करता है। मानवीकरण में उपमान भावावेश में दौड़ता है, सोता है, प्रेम करता है, रोता है, हँसता है और अन्य क्रिया रत दिखाई पड़ता है। एक उदाहरण देखिये—कविवर पंत नौका विहार के लिए गंगा तट पर गए। गंगा को किस रूप में पाया—

शांत स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल
अपलक अनंत, नीरव भूतल
सैकत शय्या पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म विरल
लेटी है श्रांत, क्लांत, निश्चल
तापस बाला गंगा, निर्मल शशि मुख से दीपित मृदु करतल
लहरें उर पर कोमल कुंतल

—नौका विहार

इसमें गङ्गा और दुबली पतली तापसी बाला का सांग रूपक बांधा गया है—

सैकत=शय्या; दुग्धता=अंगों का रंग; गंगा=तन्वंगी तापसी बाला; शशि=मुख; लहरें=केश

सांग रूपक से अधिक हैं हृदय के भाव और शरीर की क्रियाएं। उपमान, तापसी बाला "लेटी है", यह क्रिया है। हृदय के भावों को बताने वाले शब्द हैं—क्लांत और निश्चल।

एक दूसरा उदाहरण लीजिए—कवि संध्या को देख कर गा उठता है।

कहो, तुम रूपसि कौन?
व्योम से उतर रहीं चुपचाप, छिपीं निज छाया छवि में आप
सुनहला फैला केश कलाप, मधुर मंथर, मृदु मौन
मूंद अधरों में मधुरालाप, पलक में निमिष, पदों में चाप
भाव संकुल, बंकिम भ्रू चाप, मौन केवल तुम मौन!
अनिल पुलकित स्वर्णांचल लोल, मधुर नूपुर ध्वनि खगकुल रोल
सीप से जलदों के पर खोल, उड़ रही नभ में मौन

—संध्या

संध्या उपमेय है और रूपवती स्त्री उपमान।

रूपक के अंग :

अंधकार जो पीलापन लिए है, वह है "सुनहला फैला केश कपाल"

—रूपकातिशयोक्ति

निमिष=पलक; चाप=पद; चाप=भ्रू;

खगकुल रोल=मधुर नूपुर ध्वनि;

क्रिया—व्योम से उतर रही, छिपी निज छाया छवि में आप, उड़ रही नभ में।

भाव—चुपचाप मधुर मंथर मृदु मौनः भाव संकुल, मौन केवल मौन।

पंतजी ने प्रकृति का ऐसा मानवीकरण बहुत किया है। कुछ उदाहरण ऊपर प्रकृति के स्वरूप चित्रण में आ गए हैं।

कहीं पंत जी प्रकृति को जीवन दान दे कर उससे अपनी आत्म चर्चा कराते हैं, वह उत्तम पुरुष में अपने विषय में बताती है कि मैं कौन हूँ, "बादल" और "लहरों का गीत" इसके उदाहरण हैं।

(४) **उपदेशिका रूप**—प्रकृति उपदेश भी देती है। तुलसी ने उत्प्रेक्षाओं के बल पर वर्षा-शारदवर्णन के अन्तर्गत प्रकृति को उपदेशिका बनाया है। पंत जी ने उत्प्रेक्षा का पर्दा हटा कर प्रकृति के कार्यों पर विचार किया है और प्रकृति से उपदेश दिलाया है—

आज तो सौरभ का मधुमास-शिशिर में भरता सूनी सांस
वही मधु ऋतु की गुंजित डाल, झुकी थी जो यौवन के भार
अकिंचनता में निज तत्काल, सिहर उठती—जीवन है भार !

—अनित्य जग

हंस मुख प्रसून सिखलाते, पल भर है जो हँस पाओ
अपनी उरकी सौरभ से, जग का आंगन भर जाओ
कंप कंप हिलोर रह जाती, रे मिलता नहीं किनारा
बुदबुद विलीन हो चुपके, पा जाता आशय सारा

—गाता खग

(५) **उद्दीपन रूप**—भक्ति काल और रीतिकाल के पिटे पिटाये उद्दीपन रूप को पंत जी ने कम स्वीकृति दी है। हाँ, यह बात नहीं है कि उस रूप की ओर कवि का ध्यान ही न गया हो।

वसंत का वर्णन करते कवि कह उठता है—

कलि के पलकों में मिलन स्वप्न
अलि के अंतर में प्रणय गान
लेकर आया प्रेमी बसंत—
आकुल जड़ चेतन स्नेह-प्राण
काली कोकिल ! सुलगा उर में
स्वर मयी वेदना का अंगार

—बसंत

यहाँ कलि और भ्रमर, नायिका एवं नायक के प्रतीक हैं जिनके हृदयों में वेदना का अंगार सुलग जाता है।

नाटक-घाट

नाटक में अनुकरण

अरस्तू ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में नाटक या कविता को 'अनुकरण' माना है। भारत में भी यही स्वर गूँजा है। "अवस्थानुकृति नाट्यम्" (नाट्यशास्त्र)। भरत मुनि का कथन है कि 'अवस्था का अनुकरण नाट्य है।' अनुकरण का क्या अर्थ है? सिसरो, अरस्तू के शब्दों की व्याख्या करता हुआ कहता है "नाटक जीवन की प्रतिलिपि है, यह रीति-रिवाजों का दर्पण है।" पश्चिम में 'अनुकरण' को पकड़ कर काफी उछल-कूद हुई। एक दल उन विचारकों का उत्पन्न हुआ जो कहने लगा कि नाटक में वास्तविक जीवन प्रतिबिम्बित होना चाहिए। जीवन की वास्तविकता से दूर का नाटक, नाटक नहीं। हम नाटक में वही देखें जो जीवन में प्रतिदिन दिखलाई पड़ता है। वेशभूषा ही वास्तविक न हो वरन् शब्द और संवाद भी वास्तविक हों। यदि प्रेम करने में हम गद्य का प्रयोग करते हैं तो क्यों नाटक में पद्य प्रयुक्त हो? यदि क्रोध में भर हम रुकते-रुकते गद्य में अपने भावों को व्यक्त करते हैं या धारा प्रवाह फटकार सुनाते हैं तो क्यों हम नाटक में पद्य में क्रोध के भाव व्यक्त करें? प्रिया के विरह में नायक रोकर कुछ अस्पष्ट और टूटे-फूटे शब्द कहे तो क्यों जबरदस्ती उसके मुख में एक सुन्दर कविता या मार्मिक गीत भरा जाय? यह वास्तविकता से दूर है। अतः यह वास्तविक अनुकरण नहीं। अनुकरण का अर्थ है, हूबहू चित्र। जैसे फोटू में मुख का घाव भी उतर आता है, टेढ़ी नाक सीधी नहीं हो जाती, उसी प्रकार नाटक में जीवन के फोटू वाले चित्र खींचे जायँ। यही है अनुकरण।

किन्तु क्या वास्तव में जीवन का सच्चा अनुकरण रङ्गमञ्च पर उपस्थित किया जा सकता है? क्या नाटक में वे ही शब्द पत्नी-पति के मुख से कहलाये जा सकते हैं जिन्हें वे कामुकता के अतिरेक में बक जाते हैं? क्या दो सौतें जिन शब्दों में गाली देकर झगड़ती हैं, उनको हूबहू नाटक में लिखा जा सकता है? क्या नाटककार कागज पेंसिल लिये द्रुत गति से लिखने बैठेगा? दूकानदार जिन शब्दों से ग्राहक को फँसाता है क्या वे ही शब्द नाटक में आ सकते हैं? क्या एक बोलने वाला जिस खिचड़ी भाषा का प्रयोग करता है वही भाषा बोली जायगी? संयुक्त राष्ट्र के मञ्च पर चीनी, रूसी, अंग्रेजी, अरबी, भारतीय और सिंहली जिन भाषाओं में बैठे बातें कर रहे हैं क्या नाटककार उन सबको उसी रूप में अपनायेगा?

स्पष्ट है, न ऐसा हो सकता है, न वाञ्छनीय है। यह असंभव है कि ठीक-ठीक शब्दों को नाटककार याद करले या लिखले जब तक कि वह टेपरिकार्डर या शब्द-ग्राहक-यन्त्र साथ-साथ लिये न घूमे। फिर यह वांछनीय भी नहीं है। यदि नाटककार दो भंगिनों की लड़ाई उन्हीं के शब्दों में पेश करेगा तो कौन उस पुस्तक को पढ़ेगा, कौन उनमें रस लेगा? यदि नाटककार दो मित्रों की गाली-गलौज भरी मस्ती की बात-चीत, जिसमें साले, उल्लू, अहमक, गधे का बहुत बाजार खुला है, नाटक में देने लगेगा तो भांड़ की भड़ैती ही होगी, कला दूर से नमस्कार कर लेगी।

वास्तव में नाटककार वास्तविक अनुकृति न देकर कलात्मक अनुकृति देता है। वह फोटू न खींचकर चित्र सजाता है। वह जैसे के तैसे शब्द या दृश्य न देकर ऐसे देता है जो जीवन के अनुरूप दिखलाई देते हैं। वास्तव में अनुकृति का अर्थ अनुरूपता है। हम नाटक में जीवन की नग्न वास्तविकता नहीं चाहते, जीवन ऐसा हो सकता है या ऐसा सम्भाव्य है, इसकी आशा करते हैं। नाटक का कृपक संसार में भी ऐसा ही है, इसकी आशा नहीं रखनी चाहिये। हम अधिक से अधिक यही कहेंगे, कृपक ऐसे ही होते हैं या हो सकते है। नाटककार अपनी कला के साँचे में ढाल कर वस्तुओं, पात्रों और शब्दों को हमारे सामने लाता है। कला का अर्थ है, कल्पना या प्रतिभा, जो अभ्यास साध्य है।

नाटककार अपनी कल्पना का प्रयोग कर पात्रों को सँवारता है। उनके शब्दों में तेज या सरसता भरता है। वह यह कार्य ऐसी निपुणता से करता है कि वह जीवन में सम्भाव्य प्रतीत हो। यदि किसी पात्र को देख दर्शक ने कह दिया, यह तो असाधारण है, जीवन में ऐसा नहीं होता। वहाँ ही नाटककार की सफलता फिसल पड़ती है। उसे जीवन के अनुरूप आकार और प्रकार देने पड़ते हैं, परन्तु वे जीवन की हूबहू तस्वीरें नहीं हैं। नाटककार जीवन के निर्जीव शब्दों और चित्रों को ले अपनी हृदय की चित्रशाला में ले जाकर उन्हें रँगता है, आवश्यकता हुई तो काट-छांट करता है। नाटक में ये सजीव चित्र ही 'अनुकृति' हैं।

भारतीय मनीषियों ने आरम्भ से ही इस पर बल दिया है। अतः कोरा यथार्थ जीवन नाटकों में होना चाहिए, इसको लेकर वाक् युद्ध नहीं हुआ। नाट्य-शास्त्रकार अवस्था की अनुकृति को नाट्य कहता है। दश रूपककार का भी यही मत है। साहित्य दर्पणकार इसी बात को दूसरे शब्दों में कहता है "भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः" अवस्था शब्द पर जोर है। इससे स्पष्ट है कि नट राम का अनुकरण नहीं करता है, उसकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का अनुकरण करता है। अवस्था सापेक्ष होगी, निरपेक्ष नहीं। दुष्यन्त विरही है तो यह विरह अकेला नहीं हो सकता, किसी के सम्बन्ध से होगा। अवस्था का सम्बन्ध हृदय से अधिक है। नाटक में इसी कारण इसका महत्व

है। नाटयशास्त्र अन्यत्र कहता है "नाट्यं भावानुकीर्तनम्" (१,१०८)। भावों का अनुकीर्तन नाट्य है। वास्तव में यह अधिक व्याख्यात्मक परिभाषा है। नाटककार वास्तविक जीवित नर-नारियों के भावों का कीर्तन करता है। भावों से ही अवस्थाएँ पैदा होती हैं। हृदय जैसा चलाता है, मनुष्य चलता है। अतः भाव का, जिसका बाह्यरूप अवस्था है, अपने शब्दों में कथन ही नाट्य है। यहाँ स्पष्ट है कि नाटककार अपना व्यक्तित्व भरता है, अपने शब्दों में भाव को गाता है।

रूपक की परिभाषा से यह और भी स्पष्ट हो जाता है। संस्कृत में रूपक शब्द सभी प्रकार के नाटकों के लिये प्रचलित था। हिन्दी में रूपक के स्थान को नाटक ने ले लिया है। रूपकं तत्समारोपाद् (दशरूपक)। तद्रूपारोपात्तु रूपकम् (सा० दर्पण) आरोपण के कारण ही इसे रूपक कहते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ है कि नाटककार की दृष्टि में नाटक खेलने वाले पात्र प्रधानता लिये हुये हैं। वह राम का वास्तविक जीवन देता है। परन्तु वास्तविकता इतनी ही है कि जैसा नट कार्य कर रहा है, राम भी ऐसे ही थे। नट स्वयं राम नहीं, वह राम के समान दिखलाई देता है। इसी प्रकार जो कुछ नाटककार देता है वह जीवन के समान या अनुरूप है, हूबहू जीवन नहीं। अतः अनुकृति का अर्थ भारतवर्ष में सदा 'अनुरूपता' के अर्थ में लिया गया है, कोरी नग्न वास्तविकता के अर्थ में नहीं।

अतः नाटककार को ध्यान रखना पड़ेगा कि कलात्मक जीवन दे, न कि प्रतिदिन का वह जीवन जिससे हम ऊबे बैठे हैं, एक मानसिक व्यथा सँभाले बैठे हैं। इस दृष्टि से देखने पर नाटकों में कविता, गीत, कल्पना और विचारों का महत्त्व प्रतिपादित होगा।

हिन्दी का नाटक साहित्य

ब्रज-भाषा नाटक युग (१६१०-१८५०)

हिन्दी नाटकों की प्रथम शृङ्खला ब्रजभाषा नाटक हैं। ब्रजभाषा नाटक दो प्रकार के हैं (१) मौलिक और (२) अनूदित। मौलिक नाटकों में सबसे पहिला है, प्राणचन्द चौहान कृत 'रामायण महानाटक' (१६१०ई०)। यह गोस्वामी तुलसीदासजी के 'रामचरितमानस' की शैली पर लिखा हुआ काव्य-नाटक है। इसमें गद्य नाम मात्र को भी नहीं है। प्राणचन्द पर तुलसी का प्रभाव स्पष्ट है। 'रामायण महानाटक' के राम भगवान हैं। सेतुबंध वर्णन, लंका दहन, विभीषण का राम की शरण में आना, इत्यादि सैकड़ों स्थल तुलसी का ऋण स्वीकार करते हैं। इस युग का दूसरा मौलिक नाटक है, लछीराम कृत 'करुणाभरण' नाटक (१६५७ई०)। ऐसा प्रतीत होता है कि इस नाटक को बड़ी लोक-प्रियता प्राप्त हुई थी, क्योंकि इस नाटक की अनेक प्रतिलिपियाँ प्राप्त होती हैं। अकेले काशी नागरी प्रचारिणी सभा पुस्तकालय में ही इसके ५ हस्तलेख सुरक्षित हैं। 'सरस्वती भंडार' उदयपुर में भी ३ हस्तलेख रखे हैं। यह नाटक खेला भी गया था, इसके भी प्रमाण प्राप्त होते हैं। स्वयं नाटककार कहता है कि इस नाटक का अभिनय हुआ था।[1] पहाड़ी शैली में इस नाटक के दृश्यों से सम्बन्धित १७ चित्र प्राप्त हुये हैं।[2] ये चित्र, नाटक के चित्राभिनय के लिए बनाए गए थे, ऐसा अनुमान होता है। उस काल का यह बड़ा ही सरस और प्रौढ़ नाटक है जिसमें मनोविज्ञान, एवं अन्तर्द्वन्द्व के आधार पर गोपियाँ, सत्यभामा, राधा और यशोदा का चरित्र, चित्रित किया गया है। कथा का केन्द्र है सूर्यग्रहण के अवसर पर प्रभास क्षेत्र में कृष्ण एवं ब्रजवासियों का मिलन।

लच्छीरामकृत 'करुणाभरण' के करुण प्रसंगों से प्रभावित हो राम के जीवन को लेकर उदय कवि ने 'रामकरुणाकर' नाटक (१८४० से पूर्व) लिखा। इसमें लक्ष्मण

---

१. लछीराम नाटक कियो, दीनो गुनिन पढ़ाय।
सेष रेप नर्तन निपुन, लाये नट निस धाय।।
सुहृद मंडली जोरि तहँ, कीनो बड़ो समाज।
सो इमि नाच्यो जो अहो, कविता में सुप साज।।

२. कला निधि पत्रिका, सं० श्री रायकृष्णदास, श्रावण २००५ में श्री गोपाल कृष्ण का लेख 'करुणाभरण और उसकी चित्रावली'।

मूर्छा की कथा है। ५६ छन्दों का यह एक लघु नाटक है। नाटक के संवाद बड़े सरस, सरल और मार्मिक हैं। ब्रजभाषा-नाटक-काल का चौथा महत्त्वपूर्ण नाटक 'आनन्द रघुनन्दन' है जो रीवां नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह जी द्वारा रचित है (१६ वीं शताब्दी)। आचार्य प्रवर पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस नाटक को हिन्दी का प्रथम नाटक माना है। इसमें ब्रजभाषा-गद्य का भी प्रयोग हुआ है। यह नाटक विचित्रताओं से भरा है। (१) नाटककार राज्यतिलक के समय अरबी और अंग्रेजी के गीत गवाता है (२) पात्रों के नाम विचित्र हैं, जैसे—डीलधराधर (लक्ष्मण का नाम), त्रेतामल्ल (हनुमान का नाम), डहडहजगकारी (भरत का नाम) (३) राम के राज्यतिलक के समय अप्सराएँ पूरा नायिका-भेद कह डालती हैं। (४) रंग संकेत संस्कृत में हैं।

उदय कवि कृत 'हनुमान नाटक', नागर कृत 'सभासार नाटक', महाराज रघुराज सिंह कृत 'परमप्रबोध विधुनाटक', व्यास पुत्र कवि देव कृत 'देव माया प्रपंच नाटक' इस काल के अन्य मौलिक नाटक हैं, किन्तु इस काल में प्रधानता है अनूदित नाटकों की। यह बात ध्यान में रखने की है कि दो तीन को छोड़कर शेष सब नाटक छायानुवाद हैं, पूर्ण अनुवाद नहीं। अनूदित नाटकों में 'प्रबोध चन्द्रोदय' के सबसे अधिक (दस) अनुवाद हुये, महाराज यशवन्त सिंह कृत (१६२६ से१६७८ ई०) 'प्रबोध चन्द्रोदय' सबसे पहिला अनुवाद है। अन्य अनुवाद हैं—अनाथदास का १६४६ ई० का, सुरतिमिश्र का १७४३ ई० का, ब्रजवासी दास का १७६० ई० का, कविवर आनन्द का १७८३ ई० का, गुलाब सिंह का १७८६ का, नानकदास का १७८६ ई० का, घोंकल मिश्र का १७६६ ई० का एवं हरिवल्लभ का अठारहवीं शताब्दी का। जन अनन्य कृत एक अनुवाद की भी चर्चा मिलती है।

शकुन्तला नाटक के दो अनुवाद हुए। एक नेवाज कवि ने १६८० ई० में किया और दूसरा घोंकल मिश्र ने (१७६६ ई०)। 'हनुमन्नाटक' के तीन अनुवाद प्राप्त होते हैं। हृदयराम का १६३३ ई० का, मंजुकवि का १८३६ ई० का और जगजीवन का। भवभूति के 'मालती माधव' का अनुवाद 'माधव विनोद' नाम से सोमनाथ ने १७५२ ई० में किया। जैन कवि बनारसी दास कृत 'समयासार नाटक' (१६३६ ई०) भी कुन्द कुन्दाचार्य के 'समय पाहुड' ग्रन्थ का अनुवाद ही है। वास्तव में यह नाटक है ही नहीं। 'समय पाहुड' ग्रन्थ को टीकाकार अमृतचन्द जी ने नाटक रूप में देखा और उसकी व्याख्या नाटक रूप में की। उन्होंने जीव इत्यादि को पात्र मानकर अपनी व्याख्या दी। इस प्रकार उनकी टीका ने नाटक रूप लिया और उसका नाम हो गया 'समयसार नाटक'। कविवर बनारसीदास जी ने नाम तो 'समयसार नाटक' ग्रहण कर लिया किन्तु जीव, क्रोध आदि पात्रों का आगमन, निष्क्रमण, रंग-संकेत इत्यादि को निकाल बाहर किया। परिणाम है कि नाटकत्व दूर हो गया।

भारतेन्दु युग (१८५०-१९००)

बा० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी का जन्म सन् १८५० ई० में हुआ। उनका प्रथम नाटक १८६७-६८ में निकला। १८५० और १८६७ ई० के मध्य एक ओर तो ब्रजभाषा के पद्य प्रधान नाटकों की परम्परा चलती रही और दूसरी ओर खड़ी बोली नाटकों का प्रवेश हुआ। भारतेन्दु एवं भारतेन्दु युगीन अन्य नाटककारों के नाटकों पर इन दोनों धाराओं का प्रभाव स्पष्टतया दिखलाई पड़ता है। उर्दू प्रधान खड़ी बोली का पहिला नाटक सैयद आगा हसन अमानत द्वारा लिखित 'इन्दर सभा' है जो १८५३ ई० में बना था। यह नाटक ब्रजभाषा नाटकों के समान पद्य बद्ध है और रासलीला एवं स्वांग जैसी जन नाट्य शैलियों के अनुकरण पर लिखा हुआ है। इस नाटक में उर्दू शब्दों एवं उर्दू छन्दों को प्रधानता मिली है, यद्यपि हिन्दी शब्दों और हिन्दी गीतों का भी खुलकर प्रयोग हुआ है। इस नाटक ने शीघ्र ही बड़ी लोकप्रियता पाई और इसका अभिनय स्थान-स्थान पर हुआ। इन्दरसभा की नाट्य शैली पर ही आगे थियेट्रीकल नाटक लिखे गए। यही नहीं, 'इन्दर सभा' से आकर्षित होकर बहुतों ने इन्द्रसभा नाटक लिखे। भारतेन्दु जी ने इस प्रकार के नाटकों की खिल्ली उड़ाने के लिए "बन्दर सभा" का निर्माण किया था। यह भी इन्दर सभा नाटकों की लोक-प्रियता का एक प्रमाण है।

भारतेन्दु जी के पिता बा० गिरिधरदास जी ने १८५७ ई० में 'नहुष' नामक नाटक ब्रजभाषा में लिखा। यह ब्रजभाषा नाटकों की परम्परा का नाटक है। ब्रजभाषा नाटकों के समान इसमें प्रबंध काव्यात्मक शैली है जिसमें कवि स्वयं मंच पर उपस्थित है। गद्यात्मक अंश बहुत थोड़े हैं। भारतेन्दु जी ने इस नाटक की बड़ी प्रशंसा की और इससे प्रेरणा भी पाई। सन् १८६३ ई० में राजा लक्ष्मणसिंह ने महाकवि कालिदास के विश्वप्रसिद्ध नाटक अभिज्ञान शाकुन्तलम् का अनुवाद खड़ी बोली गद्य में किया। कुछ वर्षों बाद राजासाहब ने इसी अनूदित नाटक का संशोधित रूप गद्य-पद्य मिश्रित निकाला जो आज तक हिन्दी जगत् में प्रसिद्धि पाए है। सन् १८६४ ई० में गणेश कवि ने ब्रजभाषा पद्य में 'प्रद्युम्न विजय' नामक नाटक लिखा। यह नाटक ब्रजभाषा नाटकों की परम्परा का एक प्रमुख नाटक है और नाट्य शास्त्र के नियमों के अनुसार निर्मित हुआ है। भारतेन्दु जी ने इसी नाटक को "प्रभावती" कहा है। इसी समय गणेश कवि ने हिन्दी का सबसे पहिला नाट्यशास्त्र "दश रूपक" ब्रजभाषा में लिखा। यह लक्षण ग्रंथ दशरूपक, साहित्यदर्पण और भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र के आधार पर लिखा गया है।

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली पहिला भाग (सम्पादक बा० ब्रजरत्नदास) पृष्ठ ७५२

भारतेन्दु जी ने अनूदित नाटकों को लेकर हिन्दी नाटक जगत में प्रवेश किया। 'रत्नावली' उनका पहिला अनूदित नाटक है जो १८६७–६८ का लिखा हुआ है। यह संस्कृत संसार में प्रसिद्ध महाकवि हर्ष कृत रत्नावली नाटिका का अनुवाद है। भारतेन्दु जी के अनुवाद में प्रस्तावना और विष्कंभक मात्र हैं। १८६८ ई० में भारतेन्दु जी ने 'विद्यासुन्दर' नाटक की रचना की। भारतेन्दु जी इसे यतीन्द्रमोहन ठाकुर के नाटक के आधार पर रचा हुआ बताते हैं। सन् १८७२ ई० में भारतेन्दुजी का संस्कृत प्रबोध चन्द्रोदय नाटक के तीसरे अंक का अनुवाद 'पाखण्ड विडम्बन' नाम से छपा। १८७३ में भारतेन्दुजी ने प्रथम मौलिक प्रहसन 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' हिन्दी माँ को भेंट किया। इसमें लेखक ने माँसाहारियों की खिल्ली उड़ाई है और वैष्णवों को ऊँचा स्थान दिया है क्योंकि वे माँस नहीं खाते हैं। इसी वर्ष उन्होंने कांचन कवि कृत संस्कृत के व्यायोग 'धनंजय विजय' का अनुवाद प्रकाशित किया। १८७५ ई० में भारतेन्दु जी ने 'प्रेम योगिनी' नामक मौलिक नाटिका के चार गर्भांक प्रकाशित किए। इन चार गर्भाङ्कों को देखकर यह अनुमान लगाना कठिन है कि यह नाटिका, चन्द्रावली नाटिका के समान शास्त्रीय नियमों के आधार पर लिखी नाटिका होती अथवा नाटककार एक छोटा सा नाटक लिखकर उसे नाटिका नाम देने जा रहा था क्योंकि छोटे नाटकों को नाटिका कहने की रीति उस काल में थी। प्राप्त चारों गर्भाङ्कों में शृङ्खलित कथा नहीं है। १८७५ ई० के अन्त में भारतेन्दुबाबू ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाम का एक अत्यन्त प्रौढ़ और प्रांजल नाटक हिन्दी को दिया। यह नाटक यद्यपि संस्कृत के 'चण्ड कौशिक' को सामने रखकर लिखा गया था किन्तु बन गया है मौलिक जैसा। इसी वर्ष उन्होंने संस्कृत के प्रसिद्ध राजनीतिक नाटक 'मुद्रा-राक्षस' का बड़ा ही सफल अनुवाद प्रकाशित कराया। भारतेन्दु काल के दो प्रौढ़तम अनुवाद हैं—राजा लक्ष्मणसिंह का शाकुन्तलम् का अनुवाद और भारतेन्दु जी कृत मुद्रा-राक्षस का अनुवाद।

इस समय तक भारतेन्दुजी संस्कृत नाटकों के अनुवाद लेकर सामने आए थे अथवा मौलिक नाटक। १८७६ ई० में भारतेन्दु जी ने कविराज शेखर कृत 'कर्पूर मञ्जरी' नामक सट्टक का प्राकृत से अनुवाद किया। अनुवाद में भारतेन्दु जी ने अपने छन्दों के अतिरिक्त रीतिकालीन कवियों के कुछ छन्दों को भी स्थान दिया है। इसी वर्ष बाबू साहब ने 'विषस्य विषमौषधम्' नामक एक मौलिक भाण की रचना की। यह भाण संस्कृत नाट्यशास्त्र के लक्षणों के अनुसार लिखा गया है और एक राजनीतिक रूपक है। इसी वर्ष भारतेन्दुजी ने अपनी मौलिक नाटिका 'चन्द्रावली' लिखी। यह नाटिका संस्कृत नाट्यशास्त्र की कसौटी पर बहुत कुछ पूरी है। इस नाटिका को हिन्दी जगत में अत्यन्त मान मिला है और स्वयं भारतेन्दु जी को भी

यह बहुत प्रिय थी। नाटिका में भारतेन्दुजी ने अपना हृदय खोलकर रख दिया है। इसी वर्ष भारतेन्दुजी का दूसरा प्रसिद्ध राजनीतिक नाटक 'भारत दुर्दशा' प्रकाशित हुआ। यह पश्चिमी शैली समन्वित दुःखान्त नाटक है और भारतेन्दु जी के राजनीतिक एवं सामाजिक विचारों पर भरपूर प्रकाश डालता है। १८७७ ई० में बंगला से अनूदित 'भारत जननी' नामक नाटक प्रकाशित हुआ। भारतेन्दु जी स्वीकार करते हैं कि इसे उनके एक मित्र ने बँगला से अनूदित किया था और उन्होंने संशोधित कर प्रकाशित किया।

१८८० ई० में भारतेन्दु जी ने अपने ऐतिहासिक नाटक 'नील देवी' को प्रकाशित कराया। यह नाटक पश्चिमी शैली पर निर्मित हुआ था और भारतेन्दु जी ने इसे गीति रूपक बताया है। इसी वर्ष विश्व-प्रसिद्ध महान नाटककार शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का अनुवाद 'दुर्लभबन्धु' नाम से प्रकाशित हुआ। इसमें भारतेन्दुजी ने अँग्रेजी नामों का भारतीयकरण किया है। मर्चेन्ट आफ वेनिस अन्टैनियो, बेसेनियो, पोर्शिया और शाइलाक ने क्रमशः अनन्त, बसंत, पुरश्री और शैलाक्ष नाम पा लिया है। भारतेन्दु जी की इस अनुवाद शैली को तत्कालीन अनेक अनुवादकों ने अपनाया और अंग्रेजी नामों का भारतीयकरण किया। १८८१ ई० में भारतेन्दु जी का 'अन्धेर नगरी' नामक प्रहसन सामने आया जिसमें बड़े मार्मिक व्यंग्य भरे पड़े हैं। सन् १८८३ ई० में भारतेन्दुजी ने 'सती प्रताप' नामक एक पौराणिक नाटक लिखा किन्तु वह पूर्ण न हो पाया। इसी वर्ष उन्होंने नाटक नामक एक छोटा-सा लक्षण-ग्रंथ लिखा जो हिन्दी का दूसरा लक्षण ग्रंथ है। इसमें भारतेन्दु जी ने नाट्यशास्त्र संबंधी अपना दृष्टिकोण बड़ी निर्भयता से प्रकट किया है।

हिन्दी नाटक जगत पर भारतेन्दु जी का बहुत बड़ा ऋण है। ब्रजभाषा नाटकों की जन नाटक धारा को आधुनिक नाटकों की ओर उन्होंने ही मोड़ा। फलतः वे आधुनिक हिन्दी नाटक के जन्मदाता माने जाते हैं। भारतेन्दु जी ने मौलिक एवं अनूदित नाटकों का निर्माण करके एवं एक लक्षण ग्रन्थ लिखकर नाटककारों को मार्ग दिखाया है। उनके नाटक, वास्तव में नाटक हैं क्योंकि वे अभिनेय हैं एवं अधिकांश नाटकों का अभिनय उनके सामने ही हो गया था। उनका नाटकीय दृष्टिकोण भी संकुचित न था। एक ओर उन्होंने संस्कृत नाटकों का अनुगमन किया तो दूसरी ओर आधुनिक दृष्टिकोण को भी सोत्साह अपनाया। राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, धार्मिक और प्रेम-नाटकों का निर्माण कर उन्होंने तत्कालीन एवं भावी सभी नाटक धाराओं के सामने उदाहरण रखे। साथ ही संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी नाटकों से अनुवाद करके अनुवाद दिशा की ओर भी संकेत किया। संस्कृत नाट्य शैली पर

नाटिका और भाण लिखे तो पश्चिमी शैली पर दुःखान्त ऐतिहासिक नाटक 'नील देवी' का निर्माण किया। नृत्य और कविता प्रधान लास्य-रूपक 'भारत-दुर्दशा' को जन नाट्य शैली पर रचा एवं 'अंधेर नगरी' में प्रहसन को नवीनता की ओर मोड़ा। इस प्रकार भारतेन्दु जी ने चारों ओर का पथ दिखलाया। भारतेन्दु कालीन एवं बाद के अन्य नाटककारों ने भारतेन्दु जी के संकेतों एवं निर्देशों को माना और नाटक-निर्माण दिशा में क़दम बढ़ाया।

भारतेन्दु युगीन नाटककारों में लाला श्री निवासदास जी का नाम सबसे पहले आता है। इसका कारण है उनका उस काल का अत्यन्त लोक प्रिय नाटक 'रणधीर प्रेम मोहिनी'। इस नाटक का स्थान-स्थान पर अभिनय हुआ और दर्शक भीगे नयनों से घर लौटे। लाला जी के अन्य नाटक हैं—संयोगिता-स्वयंवर, प्रहलाद-चरित और तप्ता-संवरण, जो साधारण नाटक हैं। इस युग के दूसरे प्रमुख नाटककार हैं बाबू राधा कृष्ण दास जो भारतेन्दु जी के फुफेरे भाई थे। इनके दो ऐतिहासिक नाटकों—महारानी पद्मावती और महाराणा प्रतापसिंह—ने लोक चर्चा पाई थी। 'दुःखिनी बाला' नामक एक लघु रूपक भी बाबू राधा कृष्णदास जी ने रचा जो एक अत्यन्त साधारण नाटक है। बाबू राधा कृष्ण दास जी के 'धर्मालाप' को नाटक नहीं मानना चाहिए। यह एक विस्तृत संवाद मात्र है। पं० देवकी नन्दन तिवारी ने कई नाटक लिखे। इनका प्रहसन 'जयनारसिंह' प्रसिद्ध हुआ। इस प्रहसन में अंधविश्वासों पर कुठाराघात किया गया है। 'रुक्मणी हरण' इनका एक अच्छा नाटक है जिसमें पौराणिक वातावरण के बीच नवीन परिस्थितियों को स्थान दिया गया है। यह नाटक शास्त्रीय कसौटी पर नीचा नहीं उतरता। 'सीता हरण' नाटक में नाटककार ने बौद्धिकता को प्रश्रय दिया है और पौराणिकता को नवीन दृष्टि से देखा है। वानर, गृद्ध, जयंत—ये सब मनुष्य हैं, पशु पक्षी नहीं। यह नाटक गद्यात्मक है। इसमें रावण, राक्षस-संस्कृति का प्रसारक है। स्त्री के अधिकारों पर राम और सीता बातें करते हैं। 'भारती हरण' इनका एक अन्य प्रतीकात्मक राजनीतिक नाटक है जो 'भारत दुर्दशा' की शैली पर लिखा गया है। गो-रक्षा की समस्या को लेकर तिवारी जी ने दो नाटक लिखे जिनके नाम हैं—गोरक्षण नाटक और गो वध निषेध नाटक। पहिले नाटक में कोई स्त्री पात्र नहीं है। ये दोनों अत्यन्त साधारण नाटक हैं। वेश्या-प्रहसन एक असफल प्रहसन है जो हास्य उत्पादन नहीं कर पाता। 'एक एक के तीन तीन' नामक लघु रूपक में नाटककार १८७९ में ग्राम्य समस्या को उठा कर कर्ज़ में डूबे किसानों की दुरवस्था दिखाता है। 'बैल छै टके को' नामक प्रहसन में ठगों की चोरी चित्रित है। 'कृष्णोत्सव' एवं 'कंस वध' इनके दो अन्य पौराणिक नाटक कहे जाते हैं।

पं० बालकृष्ण भट्ट का नाम भी इस युग के नाटककारों की गणना में बहुत

ऊपर हैं। 'दमयंती स्वयंवर' इनका एक सुन्दर नाटक है। 'शिक्षादान' एक संकीर्ण प्रहसन है जिसमें शिक्षा देने के साथ-साथ हास्य की उत्कृष्ट योजना की गई है वेणु-संहार और बृहन्नला, इनके पौराणिक नाटक हैं जो प्रकाशित हो चुके हैं। 'जैसा काम वैसा परिणाम' नामक लघु रूपक भी प्रकाशित हो चुका है। अन्य कई मौलिक एवं अनूदित नाटक इनके बताए जाते हैं जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं। ला० शालिग्राम वैश्य ने भी कई नाटकों की रचना की। इनका 'अभिमन्यु' पश्चिमी शैली का सफल दुःखान्त नाटक है। 'पुरु विक्रम' एक चरित्र प्रधान ऐतिहासिक नाटक है जिसमें पुरु की वीरता पर तीक्ष्ण प्रकाश डाला गया है। लाला श्रीनिवासदासजी के दुःखान्त नाटक 'रणधीर प्रेम मोहिनी' के अनुकरण पर लाला शालिग्राम वैश्य ने 'लावण्यवती सुदर्शन' नाटक रचा। 'मोरध्वज' इनका पौराणिक नाटक है। 'माधवानल काम कन्दला' दस अंकों का महानाटक है जो पढ़ने के लिए लिखा गया प्रतीत होता है। "अर्जुन मद मर्दन" इनका एक और पौराणिक नाटक है। काशीनाथ खत्री भी इस युग के एक महत्त्वपूर्ण नाटककार हैं। खत्रीजी हिन्दी के प्रथम एकांकीकार हैं और हिन्दी का प्रथम एकांकी है 'गुनौर की रानी' जो पश्चिमी एकांकी के प्रायः सभी लक्षणों से सम्पन्न है। खत्रीजी का दूसरा एकांकी है 'सिंधु देश की राजकुमारियाँ' जो पूर्व कथित एकांकी के बाद ही स्थान पाएगा यद्यपि लिखा गया था उसी संम्वत् में। खत्रीजी के अन्य लघु रूपक हैं—लवजी का स्वप्न, ग्राम पाठशाला, निकृष्ट नौकरी और बाल विधवा संताप नाटक। खत्रीजी ने अपना ध्यान एकांकियों और लघु रूपकों पर ही केन्द्रित रक्खा। राजा खंगबहादुर मल्ल ने भी कई नाटक लिखे जो साधारण कोटि के हैं। इनके नाम हैं—रतिकुसुमायुध नाटक, कल्प वृक्ष नाटक, भारत ललना, महारास, भारत आरत। पं० प्रताप नारायण मिश्र ने भारतेन्दुजी के नाटक 'भारत दुर्दशा' के अनुकरण पर अपना 'भारत दुर्दशा' नाटक रचा। इनका दूसरा नाटक 'कलि कौतुक रूपक' एक शृङ्खलाविहीन निम्न कोटि का नाटक है जिसमें अश्लीलता भरी पड़ी है। 'हठीहमीर' एक अच्छा नाटक कहा जा सकता है। गोरक्षा के प्रश्न को लेकर उन्होंने 'गो संकट' नामक एक साधारण प्रचार-नाटक लिखा। इनका 'संगीत शाकुन्तल' एक जन नाटक है जो स्वांग शैली पर लिखा गया है। पं० अंबिकादत्त व्यास ने भी कई नाटकों का निर्माण किया। भारतेन्दुजी के भारत दुर्दशा नाटक को सामने स्थापित कर इन्होंने 'भारत सौभाग्य' नामक नाटक की रचना की। इस नाटक में १८५७ ई० के भारतीय विद्रोह को गदर या विद्रोह बताया गया है और अंग्रेजी शासन की बड़ी प्रशंसा की गई है। भारतेन्दु जी ने नाटिका लिखी तो व्यास जी ने भी एक नाटिका लिखी, जिसका नाम है 'ललिता'। इन्होंने 'गो संकट' नाटक में गो रक्षा की समस्या को उठाया। संस्कृत के 'वेणी संहार' का इन्होंने अनुवाद भी किया।

'मन की उमंग' नामक एक और नाटक इनका बताया जाता है। पं० बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने भारतेन्दुजी के 'भारत दुर्दशा' नाटक के अनुकरण पर अम्बिकादत्त व्यास के समान 'भारत सौभाग्य' नाटक लिखा जिसमें अंग्रेजी राज्य की प्रशंसा की गई है। १८५७ ई० के विद्रोह को विद्रोह या गदर की संज्ञा देते हुए यह भी बताया गया है कि इसमें अनेक देश भक्त भी सम्मिलित थे। 'वारांगना रहस्य' इनका एक अपूर्ण नाटक है। पं० राधाचरण गोस्वामी का 'सती चन्द्रावली' नाटक एक दुःखान्त रचना है जिसमें मुस्लिम शासकों की विलासिता और क्रूरता का भंडा फोड़ किया गया है। अमरसिंह राठौर, और श्रीदामा इनके साधारण नाटक हैं। इनके प्रहसन हैं—बूढ़े मुँह मुँहासे, तनमनधन गोसाईंजी के अर्पण और भंग तरंग। इस युग के अन्य नाटककार हैं—दामोदर शास्त्री, ज्वालाप्रसाद मिश्र, अमानसिंह गोठिया, जगन्नाथप्रसाद शर्मा, रत्नचन्द्र, तोताराम, बलदेवप्रसाद मिश्र, जवाहरलाल वैद्य, श्रीमति लालीजी, बालमुकन्द पांडेय, किशोरीलाल गोस्वामी, रविदत्त शुक्ल, खिलावनलाल, गोपालराम गहमरी, देवदत्त मिश्र, देवीप्रसाद शर्मा, जगतनारायण, रघुवीरसिंह वर्मा, विजयानन्द त्रिपाठी, हरिऔधजी, बजरप्रसाद, केशवराम भट्ट, उदितनारायण वकील, छगनलाल कासलीवाल, नन्हेमल, दुर्गाप्रसाद मिश्र, लाला देवराज, बन्दोदीन दीक्षित, सन्नूलाल गुप्त, भवदेव, मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या।

इस युग में पौराणिक नाटकों की संख्या सबसे अधिक है क्योंकि यह आदर्शवादी युग था। ऐतिहासिक नाटकों में भी आदर्श पुरुष और स्त्रियों को प्रधान स्थान मिला है। इस युग की विशेषता है कि नाटककार भूतकाल की ओर देखते हुए भी अपने समय के प्रति बड़े जागरूक थे और इसीलिए उन्होंने सामाजिक नाटकों का निर्माण सोत्साह किया। प्रेम नाटकों में भी नाटककारों की आदर्शवादिता देखी जा सकती है। इस युग में अनुवाद भी बहुतायत से हुए। अनुवादों में संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी को प्रधान स्थान मिला। जन नाटकों की परम्परा भी तीव्र वेग से बहती रही, जिसके फलस्वरूप पारसी थियेट्रीकल नाटकों की धूम मच रही थी।

प्रसाद युग (१९००-१९३२)

भारतेन्दु जी के स्वर्गारोहण के तीन वर्ष बाद बाबू जयशंकर प्रसाद का जन्म काशी नगरी में ही हुआ। हिन्दी के इन दोनों नाटककारों को जन्म देने का गौरव विश्वनाथ की वाराणसी को ही है। दुःख है कि प्रसाद जी के बाद आधुनिक युग में किसी अन्य नाटककार ने काशी की इस परम्परा को आगे नहीं बढ़ाया। जिस प्रकार भारतेन्दु जी ने अपने बाल जीवन में ब्रजभाषा नाटकों, जन-नाटकों और खड़ी बोली के गद्य नाटक के प्रभाव को अपना कर अपनी नाट्य कला को संवारा-सजाया: उसी

प्रकार प्रसाद जी ने अपने नाटक निर्माण के वास्तविक काल (१९१०-११) से पूर्व की नाटकीय परिस्थितियों को पिया और पचाया। ये नाटकीय परिस्थितियाँ विशेष गौरवमय न थीं। भारतेन्दु जी की चलाई परम्परा साहित्यिक क्षेत्र में क्षीण हो चली थी। परिणामतः प्रसाद जी से पूर्व न कोई महत्त्वपूर्ण नाटककार जनमा और न विशेष नाटकीय कृतियों का निर्माण ही हुआ। भारतेन्दु युग के नाटककार ही नाटकों की संख्या को बढ़ा रहे थे। हाँ, थियेट्रीकल नाटकों का बड़ा जोर था और वे अपने पूर्ण यौवन-विकास से झूम उठे थे। प्रसाद जी के नाटक क्षेत्र में आ जाने के बाद भी थियेट्रीकल नाटक जनता को पूरे वेग से आकर्षित करते रहे। थियेट्रीकल नाटकों की यह धारा, प्रसाद युग की विशेष और बलशाली धारा है जो साहित्यिक नाटक परम्परा से भी अधिक विकसित हुई। १९२० से लेकर १९३२ तक थियेट्रीकल नाटकों के निर्माता समूह में हिन्दी की दृष्टि से पं० राधेश्याम कथावाचक का नाम सबसे अधिक उल्लेखनीय है। इनके नाटकों में अभिमन्यु ने बड़ी ख्याति पाई थी और जनता इसका अभिनय देखने के लिए टूट पड़ती थी। पं० नारायण प्रसाद बेताब और मुंशी विनायक प्रसाद तालिब के नाटकों में सरल हिन्दी का प्रयोग है। माधव शुक्ल, आनन्द प्रसाद खत्री, दुर्गा प्रसाद गुप्त, शिवनारायण गुप्त, रघुनन्दन प्रसाद शुक्ल हिन्दी के इसी शैली के नाटककार हैं। आगा मुहम्मद हश्र काश्मीरी ने उर्दू के कई दर्जन नाटक लिखे एवं कुछ नाटक हिन्दी को भी दिए। रौनक और जरीफ के नाटक उर्दू के ही हैं, हाँ उनमें सरल हिंदी के शब्द भी प्राप्त होते हैं। विश्वम्भर सहाय व्याकुल के बुद्धदेव और जनेश्वरप्रसाद मायल के सम्राट चन्द्र गुप्त को भी अभिनय में मान मिला था। इस शैली के कुछ अन्य नाटककार हैं—मुंशी जायक, किशन चन्द जेबा, तुलसी दत्त शैदा, हरि कृष्ण जौहर इत्यादि। स्वांग नाटकों का भी बड़ा जोर था और हाथरस, कानपुर, रोहतक की स्वांग मंडलियाँ, नाम और धन बटोर रही थीं। परिणामतः अनेक स्वांग नाटकों की रचना हुई। रामलीला और रासलीला सम्बन्धी नाटकों का प्रणयन बहुत कम हुआ।

प्रसाद जी का पहिला नाटक १९१०-११ में निकला। तभी से प्रसाद युग का वास्तविक आरम्भ होता है। १९००से १९१० तक ऐसा कोई नाटककार हिंदी-मंच पर नहीं आया जिसका नाम लेकर बताया जा सके कि इसने अपना अमर स्थान बनाया है। हाँ वैसे तो इस १० वर्ष के समय में पचीसों नाटककारों ने अपनी लेखनी को दौड़ाया और पचासों नाटकों की रचना की।[1] इस काल में संस्कृत, बंगला और

---

१. कन्हैया लाल का अंजना सुन्दरी १९०१ एवं रत्न सरोज १९१०। सूर्य भान का रूप बसंत १९०१। बलदेव प्रसाद मिश्र का नवीन तपस्विनी १९०२ एवं प्रभास मिलन १९०३। महेन्द्र नाथ का बुद्ध देव चरित्र १९०२। गंगा प्रसाद गुप्त का वीर जय मल १९०३। हरिहर प्रसाद जिज्जल का जया १९०३, राजसिंह १९०६, कामिनी मदन १९०७। किशोरी लाल गोस्वामी का नाट्य

अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद भी बहुत से सामने आए। इतने पर भी भारतेन्दु जी और प्रसाद जी के मध्य ऐसा कोई देदीप्यमान नक्षत्र हिंदी आकाश में नहीं चमका जो विशेष प्रकाश देकर मार्ग को मोड़ता या युग का निर्माण करता।

हिन्दी नाटक संसार में प्रसादजी का आगमन एक ऐतिहासिक घटना है जिससे हिन्दी भण्डार में मूल्यवान रत्न ही नहीं आये वरन् नाटकीय दृष्टि कोण में बड़ा परिवर्तन आ गया। प्रसाद जी ने तेरह नाटकों का प्रणयन किया[1]। प्रसाद जी से पूर्व पौराणिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं प्रेम नाटक तो बहुत से बने किन्तु ऐतिहासिक नाटकों का निर्माण अपेक्षाकृत बहुत कम हुआ। इन में भी शुद्ध ऐतिहासिक नाटकों की संख्या तो अत्यन्त अल्प है। भारतेन्दु काल के उल्लेखनीय ऐतिहासिक नाटक हैं—भारतेन्दु कृत नील देवी, राधा कृष्ण दास कृत महारानी पद्मावती एवं महाराणा प्रताप सिंह, श्री निवासदास कृत संयोगिता स्वयंवर, राधाचरण गोस्वामीकृत अमरसिंह राठौर, प्रताप नरायन मिश्र कृत हठी हमीर, शालिग्राम कृत पुरुविक्रम नाटक और बलदेव प्रसाद मिश्रकृत मीराबाई। इन नाटकों में ऐतिहासिक पात्रों में सजीवता और स्वाभाविकता भरने के स्थान पर आदर्शों की प्रतिष्ठा पर ध्यान केन्द्रित है। इन ऐतिहासिक नाटकों के सामने इसी युग में छै सात दर्जन पौराणिक, चार दर्जन सामाजिक और लगभग इतने ही राजनीतिक नाटक रचे गये। १९०० से १९१० तक के समय में ऐतिहासिक नाटकों की संख्या अत्यन्त नगण्य है, केवल ६—७ नाटक हैं[2]। जिनमें स्वाभाविकता सजीवता और ऐतिहासिक वातावरण का प्रायः अभाव सा है। प्रसाद जी के आरम्भिक

संभव १९०४। देवी प्रसाद राय का चन्द्र कला भानु कुमार १९०४। बलवन्त राव शिन्दे का 'उषा १९०४। राधाचरण गोस्वामी का श्रीदामा १९०४। महावीर सिंह का नल दमयन्ती १९०५। रुद्रदत्त शर्मा का 'कंठी जनेउ का विवाह' १९१६। रामनारायण मिश्र का 'जनक बाड़ा १९०६। गौरचरण गोस्वामी का अभिमन्यु बध १९०६। जीवा नन्द शर्मा का भारत विजय' १९०७। शिव नन्दन सहाय का कृष्ण सुदामा १९०७। हर नारायण चौबे का कामिनी कुसुम १९०६। ब्रज चन्द बल्लभ का रामलीला १९०८। कुशी राम का राजा हरिश्चन्द्र १९०८। जसवंत सिंह का गोबर गणेश १९०८। बांके बिहारी लाल का सावित्री नाटक १९०८। वृन्दावनलाल वर्मा का सेनापति ऊदल १९०९। श्यामनारायण सिंह का वीर सरदार १९०९। लक्ष्मी प्रसाद का उर्वशी १९१०। गंगा प्रसाद का रामाभिषेक १९१०। गिरधारी लाल का राम बन यात्रा १९१०। रामनारायण मिश्र का कंस बध १९१०।

१. सज्जन १९११। कल्याणी परिणय (अप्राप्य) १९१२। करुणालय १९१३। प्रायश्चित १९१४। राज्य श्री १९१५। विशाख १९२१। अजात शत्रु १९२२। कामना १९२३-२४ में लिखित किन्तु प्रकाशित हुआ १९२७ में। जनमेजय का नाग यज्ञ १९२६। स्कन्दगुप्त १९२८। एक घूँट १९१९। चन्द्रगुप्त १९३१। ध्रुव स्वामिनी १९३३।

२. गुरु देव चरित्र, वीर जयमल, [illegible], सेनापति ऊदल, वीर सरदार इत्यादि

तीन नाटक भी इसी प्रभाव के हैं जिनमें पौराणिकता का प्रभाव स्पष्ट है। हाँ इस प्रयास काल में प्रसादजी ऐतिहासिकता की ओर दृढ़ता से बढ़ते दिखाई देते हैं और पात्रों एवं वातावरण में ऐतिहासिकता भरने का प्रयास कर रहे हैं। हिन्दी में प्रसाद जी प्रथम नाटककार हैं जिन्होंने इतिहास की प्राप्त सामग्री का मनोयोग से अध्ययन किया। इतिहास के क्षेत्र में शोध सामग्री को देखा एवं इसके बाद इतिहास के अस्थिपंजर में नवीन रक्त-मांस भरा। प्रसाद जी के नाटकों में वर्त्तमान, ऊँचे पर्वत पर चढ़ कर पुकारता है कि मैं यहाँ बैठा हुआ हूँ। कहीं-कहीं तो यह वर्तमान, देशकाल दोष का रूप भी धारण कर लेता है जैसा कि चन्द्रगुप्त नाटक के चौथे अंक में अलका पताका लिए राष्ट्रीय गान गाती आगे आगे चलती है, उसके पीछे बड़ी भीड़ है। यह चित्र गांधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन का है। नहीं तो भूत कालीन भारत में ऐसी प्रथा न थी। हर्ष की बात है कि ऐसे दृश्य कम हैं। अधिकांशतः प्रसाद जी ने वर्तमान की समस्याओं को प्राचीनता के ढाँचे में ऐसा घुलाया-मिलाया है कि वे उखड़ी हुई नहीं लगती हैं।

ऐतिहासिक नाटकों के क्षेत्र में प्रसाद जी की देन है—पात्रों का शील निरूपण। प्रसाद जी के वस्तु-संघटन में कुछ त्रुटि है किन्तु यह त्रुटि उनके सबल शील निरूपण के पीछे छिप जाती है। उनके पात्र आदर्शों का मुकुट पहिने हुए भी इसी पथिक जगत के हैं। यह कहना सत्य नहीं है कि उनके सभी नायक आदर्शवादी एवं धीरोदात्त नायक हैं। अजातशत्रु कैसे धीरोदात्त कहा जायगा जब वह सेवकों को सताता है, माता-पिता को घोर कष्ट पहुँचाता है और बन्दी भी बनता है। अपनी प्रतिज्ञा को भूल जाने वाला, एवं घोर स्वार्थ में पड़कर अपने पुत्र के स्थान पर किसी अन्य निरीह बालक की बलि चढ़ाने वाला अयोध्यानरेश राजा हरिश्चन्द्र क्या धीरोदात्त कहा जाएगा? क्या जनमेजय धीरोदात्त है जो सरमा के लिए न्याय का द्वार बन्द कर देता है और उसे पतिता कहता है, जो मृगया के व्यसन में एक ब्राह्मण की हत्या कर देता है, एवं नागों पर आक्रमण के समय उन पर जघन्य क्रूरताओं की बौछार करता है। चंद्रगुप्त और स्कन्दगुप्त अवश्य धीरोदात्त माने जायेंगे। प्रसाद जी के नाटकीय पात्र ऊँचे होते हुए भी मानवी सीमाओं और निर्बलताओं से भरे हैं। इसलिये वे स्वाभाविक और वास्तविक से जँचते हैं। चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में प्रसाद जी की विशेषता है उनके नारी पात्र सृजन में! प्रसाद जी से पूर्व भी कुछ नाटकों में प्रसाद जी जैसे कुछ पुरुष पात्र मिल जायेंगे किन्तु नारी पात्रों का निर्माण उनका सर्वथा भिन्न और मौलिक है। प्रसाद जी ने चार प्रकार की नारियों का निर्माण किया है। (१) कमल कुसुम दल से निर्मित और छवि-पराग से भरे सुन्दर शरीर में प्रणयामृत पूर्ण हृदय रखने वाली युवतियाँ। ये सुन्दरता का सागर हैं जिनके सुन्दर शरीर से सुन्दर हृदय झाँकता है। ऐसी नवनीत की पुतलियाँ हैं—

कार्नेलिया, मालविका, देवसेना, मणिमाला और वाजिरा। इन स्वर्गीय कुसुमों में भी देवसेना का स्थान अद्वितीय है। मुझे हिन्दी जगत में ऐसी दो ही कल्प-वेलियाँ मिली हैं—प्रसाद की देव सेना (स्कंद गुप्त) और वृन्दावनलाल वर्मा की कुमुद (विराटा की पद्मिनी उपन्यास)। (२) अधिकार के लिए पुरुषों से लोहा लेने वाली शक्ति सम्पन्न सबलाएँ जैसे कि अनन्तदेवी, छलना, शक्तिमती। (३) महिमामयी उदात्त देवियाँ जो कल्याण और मंगल भरा हृदय रखती हैं जैसे कि देवकी, कमला, पद्मावती, मल्लिका और राज्यश्री। इनमें मल्लिका का चरित्र सर्वोच्च है। (४) यौवन की आँधी में उड़ती फिरती पथभ्रष्ट नारियाँ जो बाद में सुधर जाती हैं जैसे कि मागंधी, विजया, सरमा, दामिनी। प्रसाद के नाटकों का बहुत कुछ सौन्दर्य इन नारी पात्रों के आँचल में छिपा पड़ा है।

प्रसाद जी सोद्देश्य नाटक रचना में लगे थे। वे सब तक भारत के गौरवमय अतीत का भव्य प्रकाश पहुँचा देना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने प्राचीन महापुरुषों को आदर्शों के आवरण से ढका है। इन महापुरुषों का आदर्श-रंग केवल भारतीयों को ही नहीं रंगता वरन् सिकन्दर जैसे विदेशी विजेताओं को भी अभिभूत करता है। बुद्ध, व्यास, दांड्यायन—प्रसाद जी के ऐसे ही महापुरुष हैं। प्राचीन भारत के पुरुषार्थ एवं कर्मयोग में प्रसाद जी का अटल विश्वास है, और है आस्तिकता के प्रति गहरी आस्था। नाटक प्रणयन में उन्होंने इसलिए भी हाथ लगाया कि वे इन नाटकों के द्वारा राष्ट्रीयता का मंत्र फूँकना चाहते थे। फलतः उनके नाटकों का प्रधान स्वर है राष्ट्रीयता जो सर्वत्र प्रतिध्वनित है। कार्नेलिया एक विदेशी बालिका होते हुए भी भारत-प्रेम से भरी है। उनका बंधुवर्मा भी भारत को सुदृढ़ एवं अविच्छिन्न राज्य बनाने के लिए महान् त्याग करता है और सहर्ष अपना राज्य स्कंदगुप्त को दे देता है। प्रसाद जी यहाँ स्पष्टतया घोषित करते हैं कि भारत का हित एक अविच्छिन्न राज्य बनने में है, छोटे-छोटे राज्यों की शृङ्खला के बँधने में नहीं। नाटकों में भारत के गौरव भरे अतीत का बखान मिलता है और राष्ट्रीय गीतों की गूँज सुनाई पड़ती है। प्रसाद जी का हृदय राष्ट्र प्रेम से युक्त था, फलतः उनके राष्ट्रीय उद्‌गारों में शक्ति और प्रभाव है। इसी राष्ट्र-प्रेम में भर कर वे भारतीय संस्कृति को सबसे महान और सबसे ऊँचा बताते हैं एवं भारतीय ऋषियों, दार्शनिकों और महापुरुषों का जादू विदेशियों के सिर पर चढ़ा दिखाते हैं। राष्ट्रीयता की भावना और प्राचीनता के प्रति आस्था का यह अर्थ नहीं है कि वे रूढ़िवादी बन गए हैं। नहीं, उन्होंने अनेक हानिकर प्राचीन भावनाओं और विचारों का विरोध किया है। प्रांतीय[1]

१. मातृगुप्त—"तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न? परन्तु आत्म सम्मान इतने ही से संतुष्ट नहीं होगा। मागध और मालव को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा, स्कन्दगुप्त।

एवं साम्प्रदायिक[1] सीमाओं के विरुद्ध उन्होंने खुलकर कहा है, धार्मिक और जातिगत संघर्षों को बुरा बताया है, अश्वमेध[2] और नरबलि[3] का विरोध किया है।

प्रसादजी की प्रतिभा बहुमुखी थी और इस प्रतिभा के बल पर उन्होंने साहित्य के कई क्षेत्रों को सजाया। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी और निबंधों से उन्होंने हिन्दी का भण्डार भरा। प्रसादजी प्रकृति से कवि थे और अभ्यास से नाटककार। फलतः उनके नाटकों में उनका कवि रूप प्रधान है। उनका कवि रूप कामायनी जैसे काव्य ग्रंथों में भी चिहुँक उठा है। कवि रूप की प्रधानता रखते हुए भी प्रसादजी की विशेष प्रसिद्धि उनके नाटककार रूप में ही है। इसका एक बड़ा कारण यह भी है कि हिन्दी में अभी तक कालिदास, शेक्सपियर और द्विजेन्द्रलाल जैसी स्थिति के नाटककार नहीं हुए हैं। कवि रूप प्रधान होने से उनके नाटक रसमय हैं। फलतः बहुत से विद्वान् नाटकों की रसमयता को देखकर समझते हैं कि प्रसादजी ने भारतीय नाट्यशास्त्र का अनुगमन कर रस की दृष्टि से नाटकों का निर्माण किया है। काव्य प्रधानता होने से रस सरिता स्वयं बह गई है, नाट्यशास्त्र के रस को पकड़ कर उन्होंने नाटकों को नहीं लिखा। काव्य की प्रधानता होने से भावोत्तेजक स्थलों का बाहुल्य है और फलतः रसों का चित्रण हमें भाव मग्न कर देता है। गद्य और पद्य में भरा काव्य सौन्दर्य ही नाटकों को ऊँचा स्थान देता है। यदि इन नाटकों में इतना ऊँचा काव्य सौन्दर्य न होता तो अभिनय योग्य न होने से ये नाटक हिन्दी जगत में कदापि इतना मान न पाते जो आज पा रहे हैं। नाटक नाम की वास्तविक अधिकारी वही कृति है जो अभिनेय हो। प्रसादजी के नाटक अपने वास्तविक रूप में सरलतया अभिनेय नहीं हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि प्रसादजी को अपने नाटकों के दो भेद करने पड़े थे—अभिनेय और पठनीय। ध्रुवस्वामिनी और राज्यश्री को छोड़कर शेष नाटकों की कथा वस्तु इतनी विस्तृत और उलझी हुई है कि नाटकों के अभिनय में ६ से ८ घंटे लगेंगे। दृश्य परिवर्तन में रंग सज्जा का ध्यान नहीं रखा गया है और ऐसे दृश्यों को आगे-पीछे रख दिया गया है जिनमें रंग-सज्जा बदलने की आवश्यकता है। ऐसी दृश्य योजना भी मिलती है जो साधारणतया रंगमंच पर दिखाई ही नहीं जा सकती जैसे कुभा नदी में बहती-डूबती सेना का दृश्य (स्कन्दगुप्त), खांडव-दाह (जनमेजय का नाग यज्ञ) एवं सिंह का आक्रमण (चन्द्रगुप्त)। चित्रपट की सहायता का नाम लिया जा सकता है किन्तु प्रसादजी ने ऐसी कल्पना नहीं की थी और न कहीं ऐसा संकेत दिया है। अनेक

---

१. स्कन्दगुप्त में ब्राह्मण और श्रमणों का संघर्ष।

२. जनमेजय का नागयज्ञ।

३. करुणालय।

दृश्यों में पात्रों की भारी भीड़ लग जाती है।[1] चन्द्रगुप्त के तीसरे अंक के नौवें दृश्य में तो पात्रों की संख्या लगभग ६०-७० हो जाती है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में लिखा है कि नाटक की भाषा मृदु और ललित पदार्थों से युक्त हो, गूढ़ शब्दों से रहित हो, जनपद या सर्वसाधारण के समझने योग्य हो।[2] आचार्य विश्वनाथ का भी यही मत है कि नाटक में समासों वाली भाषा न हो, समझ में न आने वाले, दुर्बोध एवं गूढ़ार्थ भरे शब्दों का प्रयोग न हो, वरन् सरल भाषा का प्रयोग होना चाहिए।[3] पश्चिमी सभी नाट्यशास्त्रियों ने सरल-सुबोध भाषा का पक्ष ग्रहण किया है। किन्तु प्रसादजी ने इस नियम को नहीं माना है और संस्कृत निष्ठ गूढ़ भाषा का प्रयोग किया है जो उच्च कक्षा के छात्रों एवं विद्वानों की समझ में ही आ सकती है, वह भी घर पर, नाटक-शाला में नहीं।

किन्तु इसी भाषा के बल पर प्रसादजी ने उच्च कक्षाओं के पाठ्यक्रमों और शिक्षितों में मान पाया है। जब भी विश्वविद्यालीय कक्षाओं में नाटकों की आवश्यकता पड़ती है तो बस प्रसादजी पर ही जाकर ध्यान केन्द्रित होता है क्योंकि उनकी भाषा अलंकृत और काव्य पूर्ण है। उसमें मुहावरों और अन्य भाषा के प्रचलित शब्दों के प्रयोग से प्रवाह एवं चलताऊपन भले न आया हो किन्तु अलंकारों, ललित पदावली और भाव भरे शब्दों से ऐसा अपूर्व भाषा शृङ्गार हुआ है एवं ऐसा कमनीय काव्यत्व उपजा है कि प्रसादजी के नाटक हिन्दी साहित्य में सदा अविस्मरणीय स्थान पाते रहेंगे। इस भाषा का एक लाभ यह भी हुआ है कि प्राचीनकाल का वातावरण-भ्रम सहजतया उत्पन्न हो जाता है। इसी भाषा के बल पर प्रसादजी के संवाद, काव्यात्मक एवं मार्मिक बन गए हैं। पाठक इन संवादों को पढ़कर झूम उठता है। किसी नाटक की कसौटी है उसके मार्मिक संवाद, जिस प्रकार काव्य की कसौटी है उसकी भाषा-कल्पना और जिस प्रकार उपन्यास की कसौटी है उसकी चक्करदार कथा। नाटककार इन संवादों में ऐसे वाक्य जड़ता है जो हृदय पटल पर आसन जमा लेते हैं काव्य की सूक्तियों के समान। प्रसादजी के नाटक ऐसे मुक्ता-वाक्यों के कोश हैं जिनमें जीवन के गंभीर अनुभव और प्रौढ़ विचार भरे पड़े हैं। ऐसे तल स्पर्शी वाक्यों के कुछ उदाहरण ये हैं—

(१) राज्य सत्ता सुव्यवस्था से बढ़े तो बढ़ सकती है, केवल विजयों से नहीं।

(२) व्यक्तिगत स्वतंत्रता वहीं तक दी जा सकती है जहाँ तक दूसरों की स्वतंत्रता में बाधा न पड़ सके।

१. चन्द्रगुप्त नाटक—२-१०, ३-३, ३-९।
२. नाट्यशास्त्र (चौखंभा प्रकाशन) १७-१२२।
३. साहित्य दर्पण ६-२८।

(३) महत्वाकांक्षा के दाँव पर मनुष्यता सदैव हारी है। (चन्द्रगुप्त)

(४) पवित्रता की माप है मलिनता, सुख का आलोचक है दुःख, पुण्य की कसौटी है पाप।

(५) विश्वास करना और देना, इतने ही लघु व्यापार से संसार की सब समस्याएँ हल हो जायेंगी।

(६) अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देश वासियों का।

(स्कन्दगुप्त)

प्रसाद युग में प्रसादजी को छोड़ कर अन्य कोई ऐसा नाटककार नहीं हुआ है जिसका स्थायी महत्व हो और जो प्रसादजी के पास ऊँचा आसन ग्रहण कर सके। ऐसी बात नहीं है कि भारतेन्दु युग से प्रवाहित नाटक धारा का अवसान बस प्रसाद-सागर में हो गया हो। नहीं, अनेकों नाटकों का प्रणयन हुआ है। पौराणिक[1] ऐतिहासिक[2], राजनीतिक[3], सामाजिक[4], या समस्या नाटक एवं[5] अनेक प्रहसनों का निर्माण पर्याप्त संख्या में हुआ किन्तु इन नाटकों के निर्माताओं में से कोई

---

१. मैथिली शरण गुप्त का तिलोत्तमा १९१६ और चन्द्रहास १९१६। माखनलाल चतुर्वेदी का कृष्णार्जुन युद्ध १९१८। कौशिकजी का भीष्म १९१८। शिवनन्दन मिश्र का उषा १९१८। द्वारिकाप्रसाद गुप्त का अज्ञातवास १९२१। बद्रीनाथ भट्ट का वेन चरित्र १९२१। मिश्रबंधु का पूर्व भारत १९२२। सुदर्शन का अंजना १९२३। हरिद्वारप्रसाद जालान का क्रूर बेन १९२४। बलदेवप्रसाद मिश्र का असत्य संकल्प १९२५। गोविन्द बल्लभ पंत का वरमाला १९२५। जगन्नाथशरण का कुरुक्षेत्र १९२८। गोपाल दामोदर तामस्कर का दलीप १९२९। कामताप्रसाद गुरु का सुदर्शन १९३१। मिश्रबंधु का उत्तर भारत १९३२।

२. सुदर्शन का दयानंद १९१७। उग्रजी का महात्मा ईसा १९२२। चन्द्रराज भण्डारी का सिद्धार्थ कुमार १९२२ और सम्राट अशोक १९२३। प्रेमचन्द का कर्बला १९२४। बद्रीनाथ भट्ट का दुर्गावती १९२६। लक्ष्मीधर बाजपेयी का राजकुमार कुन्तल १९२८। जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द का प्रताप प्रतिज्ञा १९२८। वियोगी हरि का प्रबुद्ध यामुन १९२९। कृष्ण कुमार मुखोपाध्याय का तुलसी दास १९२९। उदय शंकर भट्ट का चन्द्रगुप्त मौर्य १९३१।

३. काशीनाथ वर्मा का समय १९१७। प्रेमचन्द का संग्राम १९२२। कन्हय्यालाल का देशदशा १९२३। लक्ष्मण सिंह का गुलामी का नशा १९२४।

४. जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का मधुर मिलन १९१३। छविनाथ पांडेय का समाज १९२९। आनन्दी प्रसाद श्रीवास्तव का अछूत १९३०। जय गोपाल कविराज का पश्चिमी प्रभाव १९३०। घनानन्द बहुगुना का समाज १९३०। लक्ष्मी नारायण मिश्र का सन्यासी एवं राक्षस का मन्दिर १९३१। नरेन्द्र का नीच १९३१।

५. शिवनाथ शर्मा का चंडूल दास, एवं बहशी पंडित १९१४। गंगा प्रसाद श्रीवास्तव का उलट फेर १९१८, दुम दार आदमी १९१९, गड़बड़ झाला १९१९, [illegible] १९२०, एवं भूल

भी युग निर्माता का ऐतिहासिक महत्त्व अथवा प्रसाद के समकक्ष नवीन मार्ग बनाने का गौरव न पा सका। नाटककारों की इस भीड़ में उल्लेखनीय दो चार ही हैं। इनमें सबसे पहिले नाम आता है बद्रीनाथ भट्ट का। भट्ट जी ने पौराणिक (वेन चरित्र, कुरुवन दहन,) ऐतिहासिक (चन्द्रगुप्त, तुलसीदास, दुर्गावती) और प्रहसन (चुंगी की उम्मीदवारी, मिस अमेरिकन, लवड़ धोंधों, विवाह विज्ञापन) लिखे। इन नाटकों में ऐतिहासिक नाटक दुर्गावती को सर्वाधिक ख्याति प्राप्त हुई। इस नाटक में गोंड़वाने की विख्यात वीरांगना दुर्गावती का प्रभाव पूर्ण चरित्र, चलती हुई भाषा और सरल संवादों में चित्रित है। संवादों में गद्य तथा पद्य दोनों को अपनाया गया है। भट्ट जी के प्रहसनों में परिष्कृत हास्य है। हिन्दी के प्रसिद्ध कहानीकार सुदर्शन जी के नाटकों का प्रणयन भी प्रधानतया इसी युग में हुआ।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद युग की समाप्ति पर सुदर्शन जी ने नाटक क्षेत्र से संन्यास सा ले लिया। १९४० में प्रकाशित धूप छाँह नाटक तो इसी नाम के चित्रपट का रूपान्तर मात्र है और है साहित्यिकता से दूर। इन नाटकों में सुदर्शन के "अंजना" नाटक को मान प्राप्त हुआ था। इसमें अंजना एक आदर्श पतिव्रता के रूप में चित्रित है। इनका आनरेरी मजिस्ट्रेट भी एक सफल प्रहसन है। शिवनाथ शर्मा ने प्रहसन के क्षेत्र को अपनाया और भिन्न-भिन्न शैलियों पर कई प्रहसन लिखे।[2] ये प्रहसन समाज, देश और हिन्दी को दृष्टि में रखकर लिखे गये थे। हिन्दी सम्बन्धी प्रहसन 'नागरी निरादर' में नाटककार स्वयं प्रच्छन्न रूप में मातृभाषा के उद्धारार्थ चन्दा मांगता फिरता है। प्रहसनों का हास्य बुरा नहीं है किन्तु बीच-बीच में अंग्रेजी का प्रयोग उचित नहीं हुआ है। कलियुगी प्रहलाद में तो अंग्रेजी की भरमार है। हास्योत्पादन की दृष्टि से वहशी पंडित प्रहसन अच्छा है। श्री जगन्नाथ प्रसाद जी मिलिन्द ने एक नाटक "प्रताप प्रतिज्ञा" लिखकर खूब नाम बटोरा है। इस नाटक का बार-बार अभिनय हुआ है और हिन्दी के पाठ्यक्रमों में भी इसे गौरव पूर्ण स्थान मिला है। इसकी भाषा प्रभावपूर्ण, प्रांजल, रसमय और ओज भरी है। इस नाटक की एक विशेषता है कि इसमें एक भी स्त्री पात्र नहीं है, तब भी यह लोक प्रिय हुआ। इसी युग में प्रेमचन्द ने उपन्यास, कहानी का क्षेत्र छोड़ कर नाटकों पर हाथ

चूक १९२८। ह० शंकर प्रसाद [illegible] दर्शन और परकट सुम १९२२। गोविंद वल्लभ पंत का अंगूर की बेटी १९२३। रामदास गौड़ का ईश्वरीय न्याय १९२४। बद्री नाथ भट्ट का लबड़ धोंधों १९२६, विवाह विज्ञापन १९२७ और मिस अमेरिकन १९२९। उग्रजी का चार बेचारे १९२९। ठाकुर दत्त शर्मा का भूल चूक और [illegible] १९२९। सुदर्शन का आनरेरी मजिस्ट्रेट १९२९।

१. दयानन्द (ऐतिहासिक), अंजना (पौराणिक) और आनरेरी मजिस्ट्रेट (प्रहसन)

२. मानवी [illegible], कलियुगी प्रहलाद, नागरी निरादर, चन्डूल दास, वहशी पंडित।

आजमाया और दो नाटकों—संग्राम एवं कर्बला—का निर्माण किया। किन्तु शीघ्र ही प्रेमचन्द्र जी को पता चल गया कि मेरा क्षेत्र यह नहीं है। मैथिली शरण जी गुप्त ने भी तिलोत्तमा और चन्द्रहास के निर्माण द्वारा देखना चाहा कि प्रसाद जी की नाईं क्या मैं भी कवि होकर नाटककार बन सकता हूँ किन्तु तिलोत्तमा और चन्द्रहास-दो नाटकों के बाद उन्होंने इस क्षेत्र को तलाक दे दिया।

आधुनिक युग (१९३३ से आज तक)

आधुनिक युग में हिन्दी का अभूत पूर्व विकास हुआ है। नाटक क्षेत्र में भी हिन्दी ने लम्बे डग भरे हैं, बहु संख्यक नाटककारों ने हिन्दी का शृङ्गार किया है और निरंतर कर रहे हैं। दुर्भाग्य है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हिन्दी राजभाषा के आसन पर विराजमान हो गई है, कई प्रान्तों की अपनी भाषा है, इतने पर भी हिन्दी का अपना रंगमंच नहीं बना है। यही कारण है कि बंगाल और मराठी के सदृश हिन्दी का नाटक साहित्य समृद्ध और गौरव पूर्ण नहीं है, हां नाटकों की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है। यदि हिन्दी प्रेमियों ने हिन्दी रंगमंच की स्थापना की ओर ध्यान दिया होता तो हिन्दी नाटक गर्व से ऊपर उठ जाता। सर्व मान्य रंगमंच के न होते हुए भी नाटकों और नाटककारों की संख्या संतोष प्रद है और हिन्दी की यश वृद्धि में सहायक है। आज अनेक यशस्वी नाटककार अपनी लेखनी और शैली के बल पर हिन्दी नाटक का भव्य भंडार भर रहे हैं।

पौराणिक नाटक—आधुनिक युग में नाटकों की कुछ धाराएं पहिले से चलती आ रही हैं और कुछ नवीन हैं। नाटकों की पौराणिक धारा ब्रज भाषा काल में बड़ी विशाल थी। संस्कृत के पौराणिक नाटकों के अनेक पद्य बद्ध अनुवाद हुए थे। भारतेन्दु युग में भी नाटकों की पौराणिक धारा तीव्र प्रभाव से बहती रही और पौराणिक नाटकों की उपज सबसे अधिक हुई। प्रसाद युग में यह धारा कुछ क्षीण हुई। आधुनिक युग में तो यह धारा अत्यन्त दुर्बल और कृशकाय बन गई है।[१] पौराणिक नाटक दो प्रकार के हैं—(१) वे जो परम्परागत पद्धति को अपनाए हुए हैं एवं उनमें अतिमानवीय एवं

---

१. उदय शंकर भट्ट का अंबा १९३५। सेठ गोविंददास का कर्त्तव्य १९३५। चतुरसेनशास्त्री का मेघनाथ १९३६। उदयशंकर भट्ट का सागर विजय, मत्स्य गंधा १९३७ एवं विश्वामित्र १९३८। किशोरी लाल बाजपेयी का सुदामा १९३९। चतुरसेन शास्त्री का सीताराम १९३९। पांडेय बेचन शर्मा उग्र का गंगा का बेटा १९४०। विश्वंभर सहाय व्याकुल का बुद्ध देव १९४०। चतुरसेन शास्त्री का श्रीराम १९४०। उदयशंकर भट्ट का राधा १९४१। डा० लक्ष्मण स्वरूप का नल दमयंती १९४१। डा० कैलाशनाथ भटनागर का श्री वत्स १९४१। लक्ष्मी नारायण मिश्र का नारद की वीणा १९४६। सेठ गोविन्ददास का कर्ण १९४६। देवराज दिनेश का रावण १९४८। लक्ष्मी नारायण मिश्र का चक्रव्यूह १९५४।

अलौकिक प्रसंग एवं पात्र दिखाई देते हैं जैसे कि भट्ट जी का अंबा, सगर विजय, मत्स्य गंधा और विश्वामित्र; पांडेय बेचन शर्मा उग्र का 'गंगा का बेटा' और डा० कैलाश नाथ भटनागर का 'श्री वत्स'। (२) दूसरे प्रकार के वे पौराणिक नाटक हैं जिनमें पात्र, मानव हैं, प्रसंग इसी जगत के हैं और अलौकिकता को दूर रक्खा गया है। सेठ गोविन्ददास के कर्तव्य (पूर्वार्द्ध) और उत्तरार्द्ध के नायक राम और कृष्ण मानव हैं। उनके नाटक 'कर्ण' का नायक कर्ण भी लौकिक है। आधुनिक युग के पौराणिक नाटकों में वर्तमान की समस्याओं को भी स्थान मिला है। कर्ण नाटक में जातिभेद और विवाह समस्याओं को उभारा गया है।

ऐतिहासिक नाटक—पौराणिक नाटकों की धारा जिस अनुपात में इस युग में क्षीण हुई है, उसी अनुपात में ऐतिहासिक नाटकों का निर्माण बढ़ा है।[१]

ऐतिहासिक नाटक दो प्रकार के प्राप्त होते हैं—(१) प्रसाद परम्परा के हिन्दू कालीन इतिहास पर आधारित नाटक जिनमें प्राचीन भारत एवं भारतीय वीरों का उदात्त चरित्र अंकित है। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के अशोक और रेवा; सुदर्शन का सिकंदर, सेठ गोविददास के हर्ष और शशिगुप्त—इसी प्रकार के नाटक हैं। इन

---

१. उदय शंकर भट्ट का विक्रमादित्य एवं 'दाहर या सिंध पतन १९३४। हरि कृष्ण प्रेमी का रक्षा बन्धन १९३४। श्यामा कान्त पाठक का बुन्देल केसरी १९३४। द्वारिका प्रसाद मौर्य का हैदर अली १९३४। भगवती प्रसाद पांथरी का कालपी १९३४। धनाराम का वीरांगना पन्ना १९३४। गोविन्द वल्लभ पंत का राजमुकुट १९३५। सेठ गोविन्द दास का हर्ष १९३५। चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार का अशोक १९३५। हरि कृष्ण प्रेमी का प्रतिशोध एवं शिवासाधना १९३७। उपेन्द्र नाथ अश्क का जय पराजय १९३७। लक्ष्मी नारायण मिश्र का अशोक १९३७। गोपाल चन्द्र देव का सरजा शिवाजी १९३७। कैलाश नाथ भटनागर का कुणाल १९३७। शिवदत्त रमानी का नीभाड़ केशरी १९३८। सत्येन्द्र का मुक्ति पथ १९३८। परिपूर्णा नन्द का रानी भवानी १९३८। मायादत्त नैथानी का संयोगिता १९३९। मुरारी शरण मांगलिक का मीरा १९४०। हरिकृष्ण प्रेमी का स्वप्न भंग १९४०। सेठ गोविन्द दास का 'कुलीनता' १९४०। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का अंतःपुर का छिद्र १९४०। हरिकृष्ण प्रेमी का मन्दिर १९४२। सेठ गोविन्द दास का शशिगुप्त १९४२। हरिचन्द्र सेठ का पुरु और अलैक्जैंडर १९४२। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का रेवा १९४२। उदयशंकर भट्ट का मुक्ति पथ १९४४। लक्ष्मीनारायण मिश्र का गरुड़ध्वज १९४५। वृन्दावन लाल वर्मा का काश्मीर का कांटा, फूलों की बोली १९४७ एवं झांसी की रानी १९४८। हरिकृष्ण प्रेमी का उद्धार १९४९। उदयशंकर भट्ट का शक विजय १९४९। वृन्दावन लाल वर्मा का पूर्व की ओर, बीरबल, और जहाँदार शाह १९५०। लक्ष्मीनारायण मिश्र का वत्सराज १९५०। कैलाशनाथ भटनागर का [illegible] १९५१। वृन्दावनलाल वर्मा का ललित विक्रम १९५३। [illegible] भटनागर का आचार्य चाणक्य १९५३। सेठ गोविन्द दास का अशोक १९५७। हरिकृष्ण प्रेमी का संरक्षक १९५८। लक्ष्मीनारायण मिश्र का जगद्गुरु १९५८ और भारतेन्दु। जगदीश चन्द्र माथुर का कोणार्क। कैलाशनाथ भटनागर का आदित्य सेन।

नाटकों में भी प्रसाद जी के समान इतिहास तत्त्व की प्रधानता है एवं नाटक अन्तर्बाह्य संघर्ष से सम्पन्न हैं। हाँ, कथा में ये सुलझे हुए हैं; भाषा इनकी सरल है और अभिनय का इनमें ध्यान रखा गया है। (२) दूसरे प्रकार के वे नाटक हैं जो मुस्लिम काल के इतिहास से सम्बद्ध हैं जिनमें राजपूत और मराठा वीरों की वीरता एवं देशभक्ति उज्ज्वल रूप में चित्रित है। सभी ऐतिहासिक नाटकों में आधुनिक समस्याओं का प्रवेश हुआ है। हरिकृष्ण प्रेमी ने अपने नाटकों—रक्षाबंधन, स्वप्नभंग, मित्र, आहुति, शिवासाधना—में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का शंख फूँका है। प्रेमी जी के नाटक रक्षा बंधन में अछूतोद्धार की समस्या उठाई गई है और शिवासाधना तथा प्रतिशोध में देश प्रेम और स्वातन्त्र्य भावना को स्थान मिला है।

समस्या नाटक—भारतेन्दु एवं प्रसाद युग में सामाजिक, राजनीतिक एवं प्रेम नाटकों का प्रणयन बड़ी संख्या में हुआ था। ऐसे नाटकों का निर्माण आज भी अनवरत गति से हो रहा है किन्तु इन नाटकों को अब समस्या नाटक कहा जाता है। प्राचीन सामाजिक, राजनीतिक और प्रेम नाटकों एवं आधुनिक समस्या नाटकों में दृष्टिकोण का अन्तर, प्रधान है, शिल्पविधि का तो है ही। दृष्टिकोण के भिन्न हो जाने से शिल्प विधि में कुछ अन्तर तो अवश्य आ ही जाता है जैसे कि अब पात्रों पर ध्यान अधिक केन्द्रित रहता है और उसकी मानसिक क्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं को अधिक परखा जाता है। आज का नाटककार इनमें व्यक्ति और उसके मन को प्रधानता देने लगा है, व्यक्ति और समाज के संघर्ष को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से निहारने लगा है। नाटककार इन नाटकों में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं व्यक्तिगत समस्याओं की उलझनों को सामने लाता है, एवं उनका समाधान भी प्रस्तुत करता है। कभी-कभी वह उलझनों को सामने रख कर अदृश्य हो जाता है। भारतेन्दु एवं प्रसाद कालीन नाटकों में घटनाओं को महत्त्व प्राप्त था तो अब है पात्रों के जीवन को, विशेषतया अन्तर्जीवन को। भारतेन्दु एवं प्रसाद कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं प्रेम नाटकों में भावुकता का प्रधान स्थान था तो आज के इन नाटकों में बौद्धिकता को है। मनोविज्ञान, बौद्धिकता, वर्ग संघर्ष, समानता का अधिकार, अहम् भावना, रूढ़ि विरोध, वैज्ञानिक दृष्टि, यथार्थ और वास्तविक जीवन की ईंटों से समस्या नाटकों का भवन निर्माण हुआ है। आधुनिक युग की यह सबसे सबल धारा है और बहुत बड़ी संख्या में समस्या नाटकों का निर्माण हुआ है।[1]

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र का मुक्ति का रहस्य १९३२ । [illegible] एवं सिन्दूर की होली १९३४ । प्रेम सहायसिंह का नवयुग १९३[illegible] । [illegible] १९३५ । [illegible] मिश्र का आधीरात १९३७ । पांडेयबेचन शर्मा उग्र का डिक्टेटर १९३० एवं चुम्बन १९३८ । गोविन्द वल्लभ पन्त का अंगूर की बेटी १९३७ । पृथ्वी नाथ शर्मा का दुविधा

इन समस्या नाटकों की प्रधान विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) नाटककार समाज की विषमताओं, प्रचलित प्रथाओं, कुरीतियों, वर्ग के स्वार्थों और व्यक्ति की कुंठाओं पर प्रहार करता है।

(२) नाटकों में प्रस्तुत समस्याएँ बौद्धिक रूप ग्रहण करती हैं, भावनात्मक नहीं।

(३) मनोविज्ञान, वास्तविकता, स्वाभाविकता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर लेखक का विशेष ध्यान रहता है।

(४) कथा की सरलता, भाषा की सुबोधता और चरित्र की दुर्बोधता इन नाटकों में प्राप्त होती है।

(५) समस्या नाटकों में नारी, निम्न और मध्यम वर्ग को अधिक महत्त्व मिला है।

(६) ये नाटक संघर्ष सम्पन्न हैं। यह संघर्ष व्यक्ति और समाज का है, समाज और वर्ग का है, समाज-समाज का भी है। अन्तःसंघर्ष के चित्रण की ओर नाटककार विशेष आकर्षित होता है।

गीतिनाट्य—ब्रजभाषा काल के सभी नाटक पद्य नाटक हैं। इसी परम्परा का नहुष नाटक है जो भारतेन्दु जी के पिता गिरधर दास जी का है और जिसमें कभी-कभी 'गद्य महाराज' मंच पर कठिनता से दर्शन देते हैं। गणेश कवि का नाटक 'प्रद्युम्न विजय' पद्यात्मक है। भारतेन्दु काल में भी पद्यात्मक या गीतिनाट्य लिखे जाते रहे। द्विजदास कृत राम चरित्र नाटक, देवकी नन्दन त्रिपाठी कृत रामलीला नाटक, शिवशंकरलाल वाजपेयी कृत राम यश दर्पण इत्यादि कई पद्य नाटकों का निर्माण हुआ। प्रसाद जी का करुणालय इस परम्परा को एक नवीन और पुष्ट मोड़ दे देता है।

१९३८ एवं अपराधी १९३९। भगवती प्रसाद वाजपेयी का छलना १९३९। सूर्य नारायण शुक्ल का खेतिहर देश १९३९। शारदा देवी का विवाह मंडप १९३९। वृन्दावन लाल वर्मा का धीरे-धीरे १९३९। उपेन्द्रनाथ अश्क का स्वर्ग की झलक १९४०। सेठ गोविन्द दास का सेवापथ १९४० एवं विकास १९४१। हरिकृष्ण प्रेमी का छाया एवं बंधन १९४१। पांडेय बेचन शर्मा उग्र का आवारा १९४२। चन्द्रशेखर पांडेय का [illegible] १९४२। सेठ गोविन्द दास का त्याग या ग्रहण १९४३, संतोष कहाँ १९४५ एवं पाकिस्तान १९४६। वृन्दावनलाल वर्मा का राखी की लाज १९४६। सेठ गोविन्द दास का 'महत्त्व किसे' और 'गरीबी और अमीरी' १९४७। वृन्दावनलाल वर्मा का 'बांस की फांस' १९४७, पीले हाथ १९४८ एवं खिलौने की खोज १९५०। जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद का समर्पण १९५०। भगवती प्रसाद वाजपेयी का [illegible] एवं वृन्दावनलाल वर्मा का नीलकण्ठ १९५१ एवं मंगल सूत्र १९५३। उदयशंकर भट्ट का क्रान्तिकारी १९५३। वृन्दावन लाल वर्मा का केवट १९५४, निस्तार १९५५। लक्ष्मी नारायण लाल का अन्धा कुआँ १९५५। उदयशंकर भट्ट का पार्वती १९५८। सेठ गोविन्ददास का सिद्धान्त-स्वातंत्र्य १९५८।

आधुनिक युग में भी पद्य एवं गीति नाटकों की परम्परा बराबर आगे बढ़ रही है। गीति नाटक लिखने वालों में पं० उदयशंकर भट्ट का नाम सर्वोपरि है जिन्होंने मत्स्यगंधा, विश्वामित्र, राधा, शकुन्तला, विक्रमोर्वशीय एवं मेघदूत नामक पद्य-नाटक या गीति नाट्यों की रचना की है। इस युग के अन्य गीति नाटक ये हैं—हरिकृष्ण प्रेमी का स्वर्ण विहान, निरालाजी का पंचवटी, सेठ गोविन्ददास का स्नेह और स्वर्ग, भगवतीचरण वर्मा का तारा, धर्म वीर भारती का अंधा युग और कनुप्रिया, गिरिजा कुमार माथुर का इन्दुमती, सिद्धकुमार का कवि, आरसीप्रसादसिंह के मदनिका और धूप छांह, दिनकर का मगध महिमा, केदारनाथ मिश्र के काल दहन, सवर्त्त और स्वर्णोदय, अनिलकुमार के मदन दहन, जय भारत और फाग, गौरीशंकर मिश्र का राजा परीक्षित, प्रफुल्लचन्द्र ओझा का वृन्दावन, उमा देवी मिश्रा का प्रथम छाया, हंसकुमार का मिलन यामिनी।

एकांकी[1] और रेडियो रूपक इस युग की विशेष देन हैं। प्रायः सभी एकांकी-कार, रेडियो रूपक लिख रहे हैं। आधुनिक युग के कुछ उल्लेखनीय नाटककारों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

प्रसाद परम्परा के ऐतिहासिक नाटककार हैं **हरिकृष्ण प्रेमी**।[2] प्रसादजी ने अपने नाटकों की सामग्री भारतीय इतिहास के हिन्दू काल से ग्रहण की थी तो प्रेमीजी ने मुस्लिम काल से ली है। स्वर्ण विहान, छाया और बंधन को छोड़कर शेष सभी नाटक इस काल से जुड़े हैं। प्रेमीजी पर गांधी युग का पूरा प्रभाव है। इनके नाटकों का प्रधान स्वर है "हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई।" अछूतोद्धार और देश-प्रेम भावनाओं को भी मुख्य स्थान मिला है। नाटकों में इतिहास तत्त्व की रक्षा के साथ-साथ कल्पना का सुन्दर सामंजस्य प्राप्त होता है। **पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र**[3] इस युग के विशिष्ट नाटककार हैं। मिश्रजी ने समस्या नाटकों का सृजन कर हिन्दी साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। इब्सन और शॉ के प्रभाव को बौद्धिकता के रूप में ग्रहण करके मिश्रजी ने प्रसाद कालीन भावुकता का विरोध किया है। 'मुक्ति का रहस्य' की भूमिका में नाटककार कहता है—"लेखक की सबसे बड़ी चीज उसकी भावुकता नहीं, उसकी ईमानदारी है।"

---

१. एकांकी के लिए इसी पाठ में आगे पढ़िए "हिन्दी में एकांकी का विकास।"

२. स्वर्ण विहान, पाताल विजय, रक्षा बन्धन, १९३४, शिवा साधना १९३७, प्रतिशोध १९३७, आहुति १९४०, स्वप्न भंग १९४०, छाया १९४१, बन्धन १९४१, मित्र १९४५, विषपान १९४५, उद्धार १९४९, शपथ १९५१, संरक्षण १९५८।

३. राक्षस का मंदिर, सन्यासी, मुक्ति का रहस्य, राजयोग, सिन्दूर की होली, आधी रात, अशोक, गरुड़ध्वज, नारद की वीणा, गुड़िया का घर, वत्सराज, वितस्ता की लहरें, चक्रव्यूह, दशाश्वमेध, [illegible] में वसन्त।

लेखक भावुकता में जिन्दगी की धड़कन नहीं पाता है। फलतः भावुकता का विरोध करते हुए कहता है "बुद्धिवाद किसी तरह का हो, किसी कोटि का हो, समाज या साहित्य की हानि नहीं कर सकता"। नाटक यदि दृश्य काव्य है तो उसमें बौद्धिकता के मैदान की आवश्यकता के साथ भावुकता की पुष्प-क्यारियों की जरूरत भी पड़नी ही चाहिए। मिश्रजी इसी भावुकता को नाटक के क्षेत्र से निर्वासित करना चाहते हैं, यद्यपि वे स्वयं कहीं-कहीं भावुकता भरे स्थलों का निर्माण कर जाते हैं। मिश्रजी ने पश्चिमी शैली का भारतीय वातावरण में सुन्दर प्रयोग किया है और हिन्दी को अच्छे नाटकों का दान दिया है। फलतः नाटक जगत में उन्होंने अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

सेठ गोविन्ददास ने सबसे अधिक नाटक लिखे हैं। सेठजी ने ऐतिहासिक[१], पौराणिक,[२] समस्या[३] नाटक एवं प्रहसनों[४] की रचना की है। प्राचीन भाण के समान सेठजी ने एक पात्री रूपकों[५] की रचना की है। शिल्प विधि की दृष्टि से यह एक नवीन प्रयोग है। सेठजी का जीवन राजनीतिक क्षेत्र में कटा है, फलतः राष्ट्रीयता का प्रतिबिंब उनके नाटकों में दिखाई पड़ता है। नाटककार ने सभी नाटकों में कुछ समस्याओं को अपनाया है, यहाँ तक कि पौराणिक नाटकों में भी। कर्ण में अवैध संतान और शूद्र समस्या को पकड़ा है तो कुलीनता में जाति भेद पर प्रहार किया है। इन सभी नाटकों में नाटकीय कौतूहल प्राप्त होता है।

पं० उदयशंकर[६] भट्ट भी इस युग के उल्लेखनीय नाटककार हैं। भट्टजी इधर उपन्यास की ओर अधिक मुड़ गए हैं। भट्टजी अपने काव्य या गीति नाटकों के निर्माण के लिए प्रसिद्ध हैं। ऐतिहासिक नाटकों के क्षेत्र में नाटककार एक ओर मुक्तिपथ में गौतमबुद्ध के समय को ग्रहण करता है तो दूसरी ओर दाहर में आठवीं शताब्दी

---

१. अशोक, सिंहल द्वीप, शशिगुप्त, कुलीनता, भिक्षु से गृहस्थ गृहस्थ से भिक्षु, हर्ष, विकास, विजय बेलि, शेरशाह, [illegible], [illegible], रहीम, भारतेन्दु, महात्मा।

२. कर्त्तव्य (पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध) कर्ण, स्नेह या स्वर्ग।

३. विश्व प्रेम, प्रकाश, नवरस, सिद्धान्त-स्वातंत्र्य, दलित कुसुम, पतित सुमन, पाकिस्तान, भूदान, सेवापथ, दुःख क्यों, सन्तोष कहाँ, सुख किसमें, महत्व किसे, बड़ा पापी कौन, त्याग या ग्रहण, हिंसा या अहिंसा, प्रेम या पाप, गरीबी या अमीरी।

४. भविष्य वाणी, जाति उत्थान, [illegible], [illegible], [illegible] पावर, अर्धं जागृत।

५. शाप और वर, षट् दर्शन, प्रलय और सृष्टि, अलबेला, सच्चा जीवन।

६. विक्रमादित्य १९३३, दाहर अथवा सिंध पतन १९३४, अम्बा १९३५, सगर विजय १९३७, मत्स्य गंधा १९३७, विश्वामित्र १९३८, कमला १९३९, राधा १९४१, अन्त हीन अन्त १९४२, मुक्तिपथ १९४४, शक विजय १९४९, [illegible], [illegible], विद्रोहिणी [illegible], पार्वती १९५८।

के मुस्लिम आक्रमण को। इनमें नाटककार वर्त्तमान समस्याओं को भी घुलामिला कर रख देता है। वह धार्मिक कट्टरता, सामाजिक विषमता और रूढ़िवादिता पर प्रहार करता है। शिल्प विधि में एक ओर प्रसाद-भारतेन्दु के लम्बे स्वगत कथन हैं एवं गीत-पद्य बाहुल्य है तो दूसरी ओर आधुनिक मनोविज्ञान एवं द्वन्द्व भी। **श्री उपेन्द्रनाथ अश्क** ने भी अपने नाटकों में समाज को और उसकी समस्याओं को पकड़ा है, फलतः जय पराजय के अतिरिक्त सभी नाटक सामाजिक[1] हैं। अश्क जी स्वयं स्वीकार करते हैं कि वे नाटकों में स्ट्रिण्ड बर्ग जैसी गहराई और तीखापन लाना पसंद करते हैं। इसी कारण उनके नाटक व्यंग्य एवं तीक्ष्णता भरे हैं। उनमें सामाजिक प्रहार से घायल व्यक्ति कराहता दिखाई पड़ता है, प्रतिहिंसा खम ठोक कर धनी व्यक्ति और उसके समाज के सामने लोहा लेने आती है, प्यास भरा मन किसी को पुकारता है और मनोविज्ञान की गुत्थियाँ मस्तिष्क को उलझाती हैं। नाटकों का गुण है, अभिनय-सरलता।

हिन्दी के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार **श्री वृन्दावनलाल वर्मा** ने नाटक निर्माण में भी भरपूर उत्साह दिखाया है एवं अनेक नाटकों की रचना की है[2]। ऐतिहासिक उपन्यासों की इतिहास प्रियता उनके ऐतिहासिक नाटकों में भी मिलती है। ऐतिहासिक उपन्यासों में आपने बुन्देलखण्डी जीवन को पकड़ा है किन्तु ऐतिहासिक नाटकों में यह दृष्टि नहीं है। आपके कुछ नाटकों का अभिनय हो भी चुका है। **पं० गोविन्दवल्लभ पन्त** भी उपन्यासकार के साथ-साथ सफल नाटककार भी हैं और आपने पौराणिक[3] ऐतिहासिक[4] एवं समस्या[5] नाटकों की रचना की है। पंतजी अपने नाटकों में काव्य न्याय की तुला लिए रहते हैं और यथा कर्म सुख-दुख बाँट देते हैं। आपके नाटक प्रायः सुखांत ही हैं। **श्री रामवृक्ष बेनीपुरी** ने भी कई नाटकों का निर्माण किया है[6] जो अभिनेय हैं। रेडियो रूपकों को दृष्टि में रखकर आप नाटकों का निर्माण अधिकतर करते हैं। बेनीपुरी जी की भाषा सबल और प्रवाहमय है।

---

१. स्वर्ग की झलक, कैद, उड़ान, छठा बेटा, आदि मार्ग।

२. राखी की लाज, फूलों की बोली, बांस की फांस, काश्मीर का कांटा, झांसी की रानी, हंस मयूर, मंगल सूत्र, खिलौने की खोज, पूर्व की ओर, बीरबल, केवट, नीलकण्ठ, कनेर।

३. वरमाला।

४. राजमुकुट, अन्तःपुर का छिद्र, ययाति,

५. अंगूर की बेटी, सिन्दूर बिन्दी, कंजूस की खोपड़ी।

६. अम्ब पाली, शकुन्तला, अमर ज्योति, खून की याद, गाँव का देवता, तथागत, नया समाज, विजेता, सीता की माँ।

पं० सीताराम चतुर्वेदी जी अनवरत नाटकीय क्षेत्र के शृङ्गार में लगे हैं[१]। आप नाटक-लेखक के साथ-साथ नाट्य शास्त्री भी हैं। फलतः नाट्य शास्त्र की दृढ़ आधार शिला पर आपके नाटकों का निर्माण हुआ है। अभिनय और शिल्प विधि के अनेक प्रयोग आपके नाटकों में प्राप्त होते हैं। अकेले 'अलका' नाटिका में शिल्पविधि के कई प्रयोग देखे जा सकते हैं। रंगमंच का शास्त्रीय एवं व्यावहारिक ज्ञान होने से आपके नाटक अभिनेय हैं और अनेकों का सफलता पूर्वक अभिनय हो चुका है।

---

१. देवता, बेचारा केशव, विश्वास, मंगल प्रभात, मेरी माँ, अलका, वाल्मीकि, सिद्धार्थ, वसन्त, अपराजिता, [illegible], शबरी, सेनापति पुष्यमित्र, [illegible], महाकवि कालिदास, विक्रमादित्य, [illegible], [illegible], [illegible]।

भारत दुर्दशा, क्या नाट्य-रासक ?

भारतेन्दु जी के प्रति अन्य भाषा भाषियों द्वारा तो अन्याय हुआ ही था जैसे कि श्री हेमेन्द्रनाथदास गुप्त जयशङ्करप्रसाद से पूर्व हिन्दी में कोई नाटककार नहीं पाते हैं[1], हिन्दी आलोचकों और खोजकों द्वारा भी भारतेन्दु जी के प्रति अन्याय हुआ है। भारतेन्दु जी के नाटकों का शुद्ध मूल्यांकन आज तक नहीं हो पाया है। एक उदाहरण यहाँ ले लें। भारत दुर्दशा उनका प्रसिद्ध नाटक है। इसमें अनेक राजनीतिक एवं सामाजिक विचार बड़ी स्पष्टता और विशदता से अङ्कित हैं। यह नाटक बड़ा लोकप्रिय भी हुआ है। इसका अभिनय भी बहुत से स्थानों पर हुआ था। किन्तु इस नाटक के विषय में बड़े भ्रान्त मत स्थिर किये गये हैं।

हिन्दी संसार में 'भारत दुर्दशा' को नाट्य-रासक माना गया है। भारत दुर्दशा के सम्पादकों[2] ने तो नाट्य-रासक मानकर इसकी भूमिका में अपने मत स्थिर किए ही हैं। आश्चर्य है कि केवल भारतेन्दु जी के नाटकों पर गम्भीर गवेषणात्मक प्रवन्ध प्रस्तुत करने वाले डॉ० वीरेन्द्रकुमार शुक्ल ने भी यही किया है। उन्होंने तो अपने पूरे प्रवन्ध में डा० सोमनाथ एवं डा० प्रेमनारायण शुक्ल का शब्दशः ग्रहण किया है और भारतेन्दु जी के नाटकों के विषय में भ्रान्त मत बना लिए हैं। भारत दुर्दशा के सभी आलोचकों ने यह माना है कि नाट्यरासक के अधिकांश लक्षण 'भारत दुर्दशा' में नहीं हैं, फिर भी यह नाट्य-रासक है।

नाट्य-रासक के लक्षण क्या हैं—(१) एक अङ्क, (२) उदात्त नायक, (३) पीठ मर्द उपनायक, (४) शृङ्गार सहायक सहित हास्य अङ्गीरस, (५) नायिका वासक सज्जा, (६) मुख एवं निर्वहण सन्धियां अथवा प्रतिमुख को छोड़कर शेष चारों सन्धियाँ, (७) दसों लास्यांग, (८) अनेक ताल और लय की स्थिति। ये नाट्य-रासक के लक्षण हैं।[3] स्वयं भारतेन्दु जी ने नाट्य-रासक के निम्न लक्षण दिये हैं। (१) एक अङ्क (२) नायक उदात्त, (३) नायिका वासक सज्जा, (४) पीठमर्द उपनायक, (५) अनेक

---

१. श्री हेमेन्द्रनाथदास गुप्त द्वारा लिखित पुस्तक—
Indian Stage Vol. IV page 226. "We donot find a real dramatist till Jai Shankar Prasad".

२. डा० वार्ष्णेय, डा० सत्यव्रत, प्रो० रामप्रकाश अग्रवाल इत्यादि।

३. साहित्य दर्पण, ६–२७७, २७८, २७९।

प्रकार के गान नृत्य। यदि भारतेन्दुजी के स्वयं के पाँचों लक्षणों को देखा जाय तो भारत दुर्दशा में (१) ६ अङ्क हैं। (२) नायक उदात्त नहीं। नायक किसे माना जाय यह भी एक प्रश्न है। यदि भारत ही को माना जाय तो उसमें उदात्तता कहाँ है। बस मूर्छित पड़ा है, जान बूझकर सोता है।[1] (३) नायिका है ही नहीं; वासक सज्जा होने की बात दूर रही। (४) उपनायक किसे माना जाय, क्या भारत भाग्य को? डा० दशरथ ओझा तो उसे प्रछन्न शत्रु मानते हैं जो प्रतिनायक ही हुआ।[2] यदि भारत भाग्य को ही पीठमर्द माने तो इसमें भी भारत के गुण नहीं और नियमानुसार नायक के गुण कुछ कम मात्रा में पीठमर्द उपनायक में होने ही चाहिए।[3] फिर भारत भाग्य में कौन सा गुण उच्चता का है? वह तो आत्महत्या करके अपने पुरुषार्थ को कलङ्कित करता है। न वह नायक की कुछ सहायता करता है। केवल पाँचवाँ लक्षण भारत दुर्दशा में है। फिर यह नाट्य-रासक कैसे कहा जा सकता है?

यदि थोड़ा गम्भीरतापूर्वक देखें तो भूल मालूम हो जायेगी। वास्तव में 'भारत-दुर्दशा' शास्त्रीय नाट्य-रासक नहीं है। प्रमाण—(१) भारतेन्दुजी ने अपने नाटक नामक निबन्ध में रूपक उपरूपकों के लक्षण देते हुए अपने द्वारा निर्मित् नाटकों को उदाहरण स्वरूप रखा है। भाण के उदाहरण में उन्होंने स्थान दिया है, 'विषस्य विषमौषधम्' को। व्यायोग के उदाहरण में 'धनंजय विजय' दिया है; एवं प्रहसन के उदाहरणों में 'वैदिकी हिंसा' एवं 'अन्धेर नगरी' को रखा है। इसी प्रकार नाटिका के उदाहरण स्वरूप 'चन्द्रावली' का उल्लेख किया है तो सट्टक के उदाहरण में 'कर्पूर मञ्जरी' को रखा है। किन्तु नाट्यरासक के लक्षण देकर 'भारत दुर्दशा' का नाम नहीं दिया। यदि वे इसे शास्त्रीय नाट्य-रासक मानते तो अवश्य इसका उल्लेख कर देते। (२) तब प्रश्न होता है कि नाट्य-रासक शब्द 'भारत दुर्दशा नाटक के ऊपर क्यों लिखा हुआ है? वास्तव में वहाँ लिखा है "नाट्य-रासक वा लास्यरूपक'। इससे पता चलता है कि नाट्य-रासक से उनका अभिप्राय है 'लास्य-रूपक'। लास्य का क्या अर्थ है? भारतेन्दुजी ने लास्य का अर्थ नाचना किया है जिसमें गाना भी सम्मिलित है। वे कहते हैं—"तांण्डव और लास्य भी एक प्रकार के नाचने को ही कहते हैं।" नाट्य-रासक की परिभाषा में दसों लास्याङ्ग के स्थान में उन्होंने लिखा है कि "अनेक प्रकार के गान नृत्य होते हैं।[4] अतः लास्य-रूपक से उसका अभिप्राय गान एवं नृत्य से भरा नाटक है। इसे गीतिरूपक भी कह सकते हैं। हाँ, गीतिरूपक से इसमें कुछ अधिक

---

१. भारत भाग्य जो जाग [illegible] सोता है उसे कौन जगा सकेगा। (भारत दुर्दशा अङ्क ६)
२. हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास, प्र० सं०, पृ० २४०।
३. साहित्य दर्पण, ३–३९।
४. भारतेन्दु ग्रन्थावली, पहिला भाग, पृष्ठ ७१९।

विशेषता होगी। वह यह कि इसमें गीतों की स्थिति के साथ नृत्य की प्रधानता होगी। भारत दुर्दशा से स्पष्ट है कि उसमें गीतों की प्रधानता है और साथ ही नृत्य की भी। यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी यदि हम नील देवी' (गीति रूपक) और 'भारत दुर्दशा' (लास्य रूपक) का तुलनात्मक रूप से विचार करें। नील देवी में गीत की प्रधानता है, पर नृत्य की नहीं। भारत दुर्दशा में गीतों से अधिक नृत्य की प्रधानता है। भारत का प्रवेश करते हुए नाटककार कहता है, वह "शिथिल अंग प्रवेश करेगा"। "निर्लज्जता दुपट्टा गिराती खानगियों के वेष में आती है", गाती नहीं है। भारत दुर्दैव "नाचता" है और गाता भी है, गाकर पुनः नाचता है और तब कुछ बोलता है। सत्यानाश फौजदार, नाचता हुआ प्रवेश करता है। आलस्य, जँभाई लेता हुआ धीरे-धीरे आता है और 'कुड़-कुड़ाता हुआ जाता है'। अन्धकार, 'स्खलित नृत्य' करता आता है। यदि इसके विपरीत 'नील देवी' पर ध्यान दिया जाय तो वहाँ नाटककार तीन अप्सराओं तक को (पहला दृश्य) गाते भेजता है, उन्हें नचाता नहीं। दूसरे अङ्क में शरीफ मुसलमान सरदारों की ओर देखकर गाता तो है पर नाचता नहीं। वह उठकर सबकी तरफ देखकर गाता है—"इस राजपूत से रहो होशियार, खबरदार" (दृश्य २)। और भी एक अवसर बड़ा अच्छा था जब कि दो पात्र साथ-साथ नाचते। चौथे अङ्क में भटियारी एवं चपरगट्टू नाचकर गा सकते थे परन्तु नाटककार उनसे केवल गवाता है। और तो और जब महारानी सूर्य देवी गायिका के रूप में अमीर के सामने उसे मोहने ही के उद्देश्य से पहुँची थीं तो नाटककार उनसे गवाता है, नृत्य नहीं कराता। 'जो हुकुम कह' 'रानी' गाती है।

रानी ने तीन गीत गाये, परन्तु, नाची वह एक बार भी नहीं। हाँ शराब के नशे में अमीर नाच उठा था जो स्वाभाविक था। वास्तव में 'गीतिरूपक' और 'लास्य-रूपक' में भारतेन्दु जी ने भेद किया है। इसी प्रकार 'गीति रूपक' (नीलदेवी) और ऑपेरा (भारत जननी) में भी भेद किया है।

(३) तीसरा एक और सबल प्रमाण है कि भारत दुर्दशा को वे 'लास्य रूपक' या नृत्य गीत रूपक मानते हैं, शास्त्रीय नाट्य-रासक नहीं और न अपनी परिभाषा का नाट्य-रासक। उन्होंने भारत दुर्दशा को प्राचीन शास्त्रीय लक्षण वाले नाटकों के अन्तर्गत न गिनकर नवीन नाटक माना है। रूपक उपरूपक के भेदों को समाप्त कर नाटक के नवीन भेदों का वर्णन करते हुए कहते हैं—"आजकल योरोप के नाटकों की छाया पर जो नाटक लिखे जाते हैं और बङ्ग देश में जिस चाल के बहुत से नाटक बन भी चुके हैं वे सब नवीन भेदों में परिगणित है।" इन्हीं नाटकों के अन्तर्गत वे भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से लिखे हुए नाटकों का उल्लेख करते हुए देश-वत्सल नाटकों में 'भारत दुर्दशा' का भी उल्लेख करते हैं। जब भारतेन्दुजी ने इतनी स्पष्टता से अपनी सम्मति 'भारत दुर्दशा' के विषय में दे दी, तब क्यों इतनी भ्रान्ति हुई यह समझ नहीं पड़ता।

इस भ्रान्ति का कारण 'नाट्य-रासक' शब्द ही है। परन्तु तुरन्त उन्होंने 'या लास्य रूपक' लिखकर स्पष्ट भी कर दिया है कि नाट्य-रासक का अर्थ है लास्य रूपक।

शारदा तनय अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'भाव प्रकाश' में नाट्य-रासक को नृत्य गीत वाला नाटक कहते हैं,[१] विशेषतया नृत्य वाला। इस दृष्टि से तो 'भारत दुर्दशा' 'नाट्य रासक' माना भी जा सकता है, अन्यथा नाट्य—रासक की जो 'साहित्य दर्पण' की शास्त्रीय परिभाषा है और जिसके आधार पर भारतेन्दु ने अपनी परिभाषा दी है, उस परिभाषा के आधार पर 'भारत-दुर्दशा 'नाट्य-रासक' नहीं है।

---

१. भाव प्रकाश, नवम अधिकार।

चन्द्रावली नाटिका-विरही हृदय की पुकार

परिस्थितियाँ मानव के विचारों का मूल्य उसकी सफलताओं से मापती हैं। पर मानव का मूल्य उसकी सफलताओं में नहीं, उसकी आकांक्षाओं में निहित है। जीवन के लिए सतत गति, जीवन के लिए सतत लक्ष्य, यही तो हमारी आकांक्षायें हैं। इसीलिए तो भारतेन्दु सोचा करते थे, कहा करते थे और लिखा करते थे कि कितनी महान् हैं वे आकांक्षायें जो कभी सफल ही नहीं होतीं और सर्वदा आकांक्षाएँ ही बनी रह जाती हैं। भारती के इस वरद पुत्र ने कभी भौतिक सफलताओं की बात भी न सोची। रूढ़ियों ने उसे तिरछी दृष्टि से देखा इसलिए उसने रूढ़ियों का बन्धन ही तोड़ डाला और सर्वदा एक गति से, एक विश्वास से तथा एक लक्ष्य से लिखता गया—

चाहिबे की चाह, काहू की न परवाह; नेही
नेह के दिवाने सदा सूरत निमानी के।
सरबस रसिक के, दास दास प्रेमिन के
सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधा रानी के।।

ऐसे परम प्रेमी हृदय को कठोर ठेस पहुँची। जाति और वर्ण वालों ने निन्दा करनी आरम्भ की। भारतेन्दु जी पर व्यंग्य बाण छोड़े जाते थे—"मसाल काहे ले जाथैं?" "महरारुन का मुँह देखै के।" कारण था, उनका सौन्दर्य पारखी हृदय। भारतेन्दुजी बड़े रसिक थे। इसी रसिकता ने उनको एक ओर मानवी लावण्य में बाधा तो दूसरी ओर मदनमोहन का भक्त बनाया। वे गान और नृत्य के अनुरागी तो थे ही, आकर्षक मुखड़े के भी थे। वेश्याओं के हाव भाव पर लुटकर तो पुरस्कार दिया ही जाता था। अतः स्वाभाविक था, समाज की नजरें टेढ़ी होतीं। इधर-उधर खुले रूप में निन्दा की बौछारें होतीं। भारतेन्दु जी के नवनीत हृदय को ठेस पहुँचनी ही थी।

साहित्य-प्रेमियों का आदर भी उसी उन्मुक्त हृदय से होता था जिससे रूपांगनाओं का। धन की चिन्ता तो हमारे इस दान वीर ने कभी की ही नहीं। उसका तो कथन था—'इसने मेरे पुरुषाओं को खाया है, मैं इसे खाकर छोड़ूँगा।' छोटे भाई ने अपने भाग में अधिक पा ही लिया था। शेष, ऋण भार से दब गया। गरीबी अग्रसर होने

लगी। वे ही चाटुकार जो पहले तलवे चाटते थे, अब आँखें दिखाने लगे। डिग्रियों की धमकियाँ आती थीं।

उस पर सरकार ने भी वक्र दृष्टि की। उपाधि तो छीनी ही, भारतेन्दु जी की पुस्तकों एवं पत्रों पर भी रोक लगा दी कि वे सरकारी संस्थाओं में प्रवेश न पा सकें। प्राणों से प्रिय पत्र 'कवि-वचन सुधा' भूखों मरने लगा था। इस प्रकार चारों ओर से कष्ट दल उमड़ रहा था, प्रायः निन्दा ही निन्दा हाथ पड़ रही थी। इसी अवस्था का चित्रण १६३२ में लिखित 'प्रेमजोगिनी' में पाया जाता है। भारतेन्दु जी का क्षुब्ध एवं पीड़ित हृदय सूत्रधार के मुख द्वारा चीत्कार कर रहा है ?

"क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परम बन्धु पिता मित्र-पुत्र सब भावनाओं से भावित प्रेम की एक मात्र मूर्ति, सत्य का एक मात्र आश्रय, सौजन्य का एक मात्र जीवन दाता, हरिश्चन्द्र ही दुखी हो। (नेत्र में जल भर कर)— हा सज्जन शिरोमणि कुछ चिंता नहीं, तेरा तो बाना है कि कितना भी दुख हो उसे सुख ही मानना। लोभ के परित्याग के समय नाम और कीर्ति तक का परित्याग कर दिया है, और जगत से विपरीत गति चल तूने प्रेम की टकसाल खड़ी की है। क्या हुआ जो निर्दय ईश्वर तुझे प्रत्यक्ष आकर अपने अंक में रखकर आदर नहीं देता और खास लोग तेरी नित्य एक नई निन्दा करते हैं, और तू संसारी वैभव से भूषित नहीं है। तुझे इससे क्या ? प्रेमी लोग जो तेरे और तू जिन्हें सरवस है वे जब जहाँ उत्पन्न होंगे तेरे नाम को आदर से लेंगे और तेरी रहन सहन को अपनी जीवन पद्धति समझेंगे। (नेत्रों से आँसू गिरते हैं) मित्र, तुम तो दूसरों का अपकार और अपना उपकार दोनों भूल जाते हो, तुम्हें इनकी निंदा से क्या ? इतना चित्त क्यों क्षुब्ध करते हो ? स्मरण रक्खो ये कीड़े ऐसे ही रहेंगे और तुम लोक बहिष्कृत होकर भी इनके सिर पर पैर रखके विहार करोगे, क्या तुम अपना यह कवित्त भूल गये—

"कहेंगे सबैही नैन नीर भरि भरि पाछे
प्यारे हरिश्चंद की कहानी रह जायेगी।"

प्यारे हरिश्चंद का प्रेमी हृदय कसका, तड़पा और रोया। दुखी हृदय के ऊँचे उच्छ्वासों ने आकाश के हृदय में घाव कर दिये। मन भौतिक प्रेम में रमता रमता ईश्वरीय प्रेम पर जाकर टिक गया। बनिये के लड़के द्वारा मियाँ 'रसखान' ने बाल गोपाल से परिचय प्राप्त किया अथवा 'मानिनी' के मान ने उनके हृदय को ईश्वरोन्मुख कर दिया। सूर की "चिंता" के भौतिक सौंदर्य ही ने उन्हें कृष्ण रंग में विभोर किया। हरिश्चंदजी ने भी मानवी सौंदर्य पर तन मन न्यौछावर किया और इसी के द्वारा कृष्ण रस चाखा। 'चन्द्रावली' के रूप में उनकी आत्मा ही कृष्ण वियोग में रोती और कलपती है। जितना चाह उन्हें सौंदर्य उपासक कहकर निंदनीय ठहराना, उतनी

तीव्र गति से उनका हृदय सौंदर्य की ओर झपटता। १९३३ में चंद्रावली नाटिका का अवतार हुआ। उस समय तक उनके व्याकुल हृदय को शांति एवं दृढ़ता प्राप्त हो चुकी थी। तभी तो सूत्रधार कहता है :—

जग जिन तृन सम करि तज्यौ, अपने प्रेम प्रभाव
करि गुलाब सों आचमन, लीजत वाको नाँव
चंद टरै सूरज टरै टरै जगत के नेम
यह दृढ़ श्री हरिश्चंद को टरै न अविचल प्रेम

प्रेम जोगिनी एक अपूर्ण नाटिका है। अनुमान है यदि कहीं यह पूर्ण हो जाती तो माधवी मल्लिका के जीवन के सम्बंध में हमें बहुत कुछ ज्ञात होता। पर वह निराशा से भरी दुःखान्त नाटिका होती। चंद्रावली तक आते आते पतझड़ का मौसम बहुत कुछ समाप्त हो गया था। बहुत सम्भव है चंद्रावली के रूप में माधवी या मल्लिका ही छिपी बैठी हो और योगिन का वेश बनाकर मिलने वाले स्वयं हरिश्चंद्रजी ही हों। भारतेन्दुजी के जीवन का यह गुप्त अंश यदि प्रकट हो जाय तो इन दोनों नाटिकाओं पर बहुत प्रकाश पड़े।

जो हो चन्द्रावली में वियोगी हृदय का करुण-क्रन्दन है। यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि 'चन्द्रावली' में भारतेन्दु जी ने हृदय निकाल कर रख दिया है। अन्त में संयोग के होते हुए भी नाटिका आदि से अन्त तक विरह व्यथा से आप्लुत है। वियोग ही प्रेम की कसौटी है। विरह द्वारा ही स्नेही मन की दृढ़ परीक्षा होती है। चन्द्रावली भी सर्वत्र एवं सर्वदा विरह-तपस्या में लीन दिखाई पड़ती है। एक वाक्य में इसका कथानक है—प्रेम, विरह और मिलन। चरित्र चित्रण का इसमें प्रयास ही नहीं है। जो कुछ है, वह है व्यथित हृदय का प्रकाशन।

वियोग की तीन अवस्थाएँ हैं और २० दशाएँ। प्रथम अवस्था है 'विषमारंभ' वियोग की इस दशा में वियोग जन्य परिस्थितियों का चारु चित्रण होता है। इसके अन्तर्गत आठ दशाएँ या परिस्थितियाँ हैं। (१) नयनानुराग (२) मनासक्ति (३) अभिलाषा (४) स्मृति (५) गुणकथन (६) चिन्ता (७) उपालंभ (८) संकल्प।

प्रेम नगरी भी परम प्रसिद्ध अन्धेर नगरी है! इसके अनुपम अन्याय को कौन नहीं जानता। यहाँ अपराध करता है कोई, पकड़ा जाता है कोई। "लगा लगी लोयन करैं, नाहक मन बँध जाय"। लड़ते हैं नैन सेनानी, वेही वार-प्रहार, घात-प्रतिघात करते हैं किन्तु बन्दी बनता है बेचारा मन। बन्दी मन तो कारागृह में सड़ गया किन्तु हिंसक नेत्र स्वतन्त्रता पूर्वक विहार करते फिरते हैं, कुशल क्षेम से दौड़ते उछलते हैं। बन्दी मन एकान्त कोने में पड़ा सोचता रहता है और बस यही अभिलाषा है

"सपने हूँ कबहूँ हिए, लगे न तुम नन्दलाल"। मन को उधर से हटाया जाता है। नायिका अपने मन को प्रियतम से दूर रखना चाहती है किन्तु बार-बार उसी का स्मरण हो आता है, जिस प्रकार कुतुबनुमा की सुई हटाने पर भी उत्तर पर जा टिकती है। मन का साथ जिह्वा देती है। दोनों उस प्राण प्रिय के रूप गुण की गाथाएँ गाते हैं। निकट वह है नहीं, अतः पुनः-पुनः मन चिन्ता करता है, उससे मिलने के साधनों पर टिकता है। प्यारा आता नहीं तो मन घबराता है और उपालम्भ देता है—"ऊधो यह कौन की रीति"।

दूसरी अवस्था "रोगवृद्धि" के अन्तर्गत (१) क्षुधानाश (२) निवृत्ति या उदासीनता (३) निद्रानाश (४) स्वप्नमिलन व्यथा (५) अश्रुवर्षा (६) तनुता और (७) तपन ये सात अवस्थाएं हैं।

मन लग गया सो लग गया, अब लोक लज्जा क्या? प्रेम पथ पर निरन्तर अग्रसर होती नायिका "लाज लगाम न मानहीं" क्योंकि 'संतन ढिग बैठि बैठि लोक लाज खोई।' जब तक संसार का मोह था तब तक लज्जा थी, संकोच था। अब जगत से हट कर प्रियतम की ओर बढ़ चली है। अतः कहाँ की कुल मर्यादा और कहाँ की लोक लज्जा? लोक में तो मन लगता ही नहीं। न खाने में रुचि, न पीने की इच्छा। वस्त्राभूषणों का ध्यान किसे हो सकता है, जब देह गेह की चिन्ता नहीं। अब तो दिन ऊबते और शीतल उसासें खींचते बीतता है और रात्रि तारे गिनते। पल भर के लिए पलक नहीं लगती। सोने का प्रयत्न करती है किन्तु 'आँखिन आँख लगी रहैं आँखें लागत नाहिं।' कभी थोड़े क्षण के लिए पलक मुँदी भी तो वह मुस्कराता मुख, वही बल खाती चितवन, वही दिव्य दर्शन एवं मधुर मिलन। वह आता है और कभी हाथ पकड़ लेता और कभी आँखें मीच लेता है। यह स्वप्न का मिलन और भी कष्ट देता है, मन को और अधिक व्यथित करता है 'आँख न खोलूँ डरपती, मति सपना ह्वै जाय'। जागकर उसे न देख प्राण रो उठते हैं। अश्रु की झड़ी वर्षा की प्रतियोगिता में गिरने लगती है। दिन रात अश्रुवर्षा। उसकी याद आयी, एक आह खिंची और टपक पड़े मोती। 'नारि नैन के नीरतें नीरधि बढ़े अपार।' यहाँ समुद्र बना तो दूसरे स्थान पर 'भरि भरि जमुना उमड़ि चलत है या नैनन के नीर"। वे अजस्र धारा के रूप में अबाध गति से आगे बढ़ते जाते हैं। इससे दुर्बलता आती है और मांसलता भाग जाती है। देह दुर्बल होती है और ऐसी कृश हो जाती है कि उसे ढूँढ़ने के लिए मृत्यु तक को ऐनक लगा कर खोजने को घूमना पड़ता है या श्वास के धक्के से चार कदम आगे बढ़ जाती है या पीछे हट जाती है। सारा शरीर विरहाग्नि से तप जाता है। यह तपन ही तो देह को झुलसाती है। "विरह आँच साँचै भये वाके अंग अगार।" उन्हीं से "उठे आगि अति जागि।" यह झर मिटती ही नहीं, कितनी भी अश्रु वर्षा हो। इस घोर ज्वर की औषधि केवल 'सुदर्शन है।'

तीसरी अवस्था है 'असाध्य अवस्था।' इसमें ५ दशाएँ हैं (१) प्रलाप (२) उन्माद (३) मूर्च्छा (४) जड़ता एवं (५) मृति। नायिका आयँ बायँ कुछ बकने लगती है जो सामने आता है उसी को संबोधन करने लगती है। उसकी बातों को लोग समझ भी नहीं पाते। कभी चाँद की चाँदनी देख कहती है—आओ, भीतर भाग–आओ। अंगार झड़ रहे हैं। दशा और बिगड़ती है तो उन्मादिनी हो जाती है। न शरीर की सुधि है, न चेतना है। अपने आप हँसने और अपने आप रोने लगती है। कभी रात को कोसती है, चन्द्र को भय दिखाती है; वीणा ले बजाती है तो तुरंत उसे फेंक देती है। कभी पृथ्वी पर सूर्य बनाती है, तो कभी सिंह। कभी अपने आप वायु से कह उठती है—'यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव। मकु तेहि मारग मैं गिरै कंत धरै जहिं पाँव।' बादल को संदेश देती है, वृक्षों को परिजन समझ भेंटती है। असह्य दुख-भार न सह मूर्छित हो जाती है। उठती है। बैठी की बैठी रह जाती है, गुमसुम। न बोलती है, न हिलती डुलती। 'अब सुख आहि न आहि' और अंत में किसी अवस्था में मृत्यु की विभीषिका भी मुँह फाड़ सामने आ खड़ी होती है। शास्त्रकारों ने मृत्यु का चित्रण दोषमय ठहराया है पर कवि अपनी कुशलता से इसका भी अंकन कर सकता है। भारतेन्दु जी ने बड़ा सुन्दर मरण संकेत दिया है:—

"देखि लीजो आँखें ये खुली ही रहि जायँगी।।"

इन दशाओं में से प्रथम आठ दशाएँ प्रायः विरह-काव्य में मिलेंगी ही क्योंकि ये विरह जन्य परिस्थिति का दिग्दर्शन मात्र कराती हैं। शेष बारह शारीरिक और मानसिक व्याधिआधि का अंकन करती हैं। शारीरिक व्याधियाँ हैं—अश्रुवर्षा, निद्रानाश, तनुता, तपन, प्रलाप, मूर्छा एवं मृति। मानसिक कष्ट-दशाएँ हैं—त्रपानाश, निवृत्ति, 'स्वप्नमिलन' व्यथा, उन्माद एवं जड़ता। इन दशाओं में से न्यूनाधिक विरह काव्य में हो सकती हैं। बिहारी में तपन एवं कृशता का आधिक्य है, सूर में उपालम्भ, अश्रु एवं जड़ता का। हरिश्चन्द्र जी में भी मानसिक कष्ट-दशाओं का प्राधान्य है। केवल तपन उनकी चन्द्रावली में कम है।

नयनानुराग

(१) चन्द्रावली—सखी ठीक है। जो दोष है वह इन्हीं नेत्रों का है। यही रीझते, यही अपने को छिपा नहीं सकते और यही दुष्ट अंत में अपने किए पर रोते हैं।
(प्र० अङ्क)

(२) होत सखी ये उलझौंहैं नैन।
उरझि परत, सुरझ्यौ नहिं जानत, सोचत समुझत है न। (प्र० अङ्क)

(३) सखी ये नैना बहुत बुरे।
तब सों भए पराए, हरि सों जब सों जाइ जुरे॥
मोहन के रस बस ह्वै डोलत तलफत तनिक दुरे।
मेरी सीख प्रीति सब छाड़ी ऐसे ये निगुरे॥
जग खीझ्यौ बरज्यौ पै ये नहिं हठ सों तनिक मुरे।
अमृत भरे देखत कमलन से विष के बुते छुरे। (प्र० अङ्क)

मनासक्ति

पर बस भए फिरत हैं नैना इक छन टरत न टारे।
हरि ससि मुख ऐसी छबि निरखत तनमन धन सब हारे॥ (प्र० अङ्क)

अभिलाषा

बलि साँवरी सूरति मोहनी मूरति, आँखिन को कबौं आइ दिखाइए।
चातक-सी मरैं प्यासी परी, इन्हैं पानिप रूप सुधा कबौं प्याइए॥
पीत पटै बिजुरी से कबौं, हरिचन्द जू धाइ इतै चमकाइए।
इतहू कबौ आइ कै आनन्द के घन, नेह को मेह पिया बरसाइए॥ (द्वि० अङ्क)

स्मृति

(i) नैना वह छबि नाहिंन भूले।
दया भरी चहुँ दिसि की चितवनि नैन कमल दल फूले।
वह आवनि वह हँसनि छबीली वह मुसकनि चित चोरे।

(ii) देखि घन स्याम घनस्याम की सुरति करि,
जिय मैं बिरह घटा घहरि घहरि उठै,
त्यौं ही इन्द्रधनु बगमाल देखि बन माल,
मोती लर पी की जिय लहरि लहरि उठै,
हरिचंद मोर पिक धुनि सुनि बंसीनाद,
बांकी छबि बार बार छहरि छहरि उठै,
देखि देखि दामिनि की दुगुन दमक पीत,
पट छोर मेरे हिय फहरि फहरि उठै, (तृ० अङ्क)

उपालम्भ

चन्द्रावली में उपालम्भ दशा का बहुत विस्तार है। बड़ी सुन्दर पंक्तियां इस चित्रण के अन्तर्गत हैं। स्वभावतः क्षुब्ध हृदय उपालम्भ अधिक देता है।

(i) कितको ढरिगो वह प्यार सबै, क्यों रुखाई नई यह साजत हौ।
हरिचन्द भए हौ कहा के कहा, अनबोलिबे में नहिं लाजत हौ

नित को मिलनो तो किनारे रह्यो, मुख देखत ही दुरि भाजत हौ ॥
पहिले अपनाइ बढ़ाइ कै नेह, न रूसिबे मैं अब लाजत हौ। (दू० अङ्क)

(ii) आओ मेरे झूठन के सिरताज
छल के रूप कपट की मूरत मिथ्यावाद जहाज (दू० अं०)

(iii) पहिले मुसुकाइ लजाइ कछू, क्यों चितै मुरि मोतन छाम कियो।
पुनि नैन लगाइ बढ़ाइ कै प्रीति, निबाहन को क्यों कलाम कियो ॥
हरिचंद भए निरमोहि इतै निज, नेह को यों परिनाम कियो।
मन माहीं जो तोरन ही की हुती, अपनाइ कै क्यों बदनाम कियो ॥
(दू० अं०)

प्यारे, मेरे पीछे कोई ऐसा चाहने वाला न मिलेगा। प्यारे, फिर दिया लेकर मुझको खोजोगे। हा, तुमने विश्वासघात किया। प्यारे, तुम्हारे निर्दयीपन की भी कहानी चलेगी। हमारा तो कपोत व्रत है। हाय! नेह लगा कर दगा देने पर भी सुजान कहलाते हो। बकरा जान से गया पर खाने वाले को स्वाद न मिला। (दू० अं०)

अभिलाषा

(i) लोक लाज कुलकी मरजादा दीनी है सब खोय।
हरीचंद ऐसे हि निबहैगी होनी होय सो होय ॥ (दू० अं०)

(ii) धारन दीजिए धीर हिए कुलकानि को आजु बिगारन दीजिए।
मारन दीजिए लाज सबै हरिचंद कलंक पसारन दीजिए ॥
चार चवाइन कों चहूं ओर सों सोर मचाइ पुकारन दीजिए।
छाड़ि संकोचन चंद मुखै भरि लोचन आजु निहारन दीजिए ॥ (दू०अं०)

मृति

इन दुखियान कों न सुख सपने हू मिल्यौ,
योंही सदा व्याकुल बिकल अकुलायेंगी।
प्यारे हरिचंद जू की बीती जानि औध जोपै,
जैहैं प्रान तऊ ये तो साथ न समायंगी।
देख्यौ एक बार हू न नैन भरि तोहि यातें,
जौन जौन लोक जैहैं तहीं पछितायंगी।
बिना प्रान प्यारे भए दरस तुम्हारे हाय,
देखि लीजो आँखें ये खुली ही रहि जायंगी।

उदाहरण स्वरूप कुछ दशाओं की सुन्दर पंक्तियाँ यहाँ दी गई हैं। चन्द्रावली में अन्य दशाओं का चित्रण भी थोड़ा अधिक मिलता है।

संकल्प

परन्तु प्यारे, अब इनको दूसरा कौन अच्छा लगेगा जिसे देखकर यह धीरज धरेंगी, क्योंकि अमृत पीकर फिर छाछ कैसे पियेगी।

बिछुरे पियके जग सूनो भयो, अब का करिए कहि पेखिए का
सुख छांड़िके संगम को तुम्हरे, इन तुच्छन कों अब लेखिए का
हरिचन्द जू हीरन को ब्योहार, कै काञ्चन को लै परेखिए का
जिन आँखिन में तुम रूप बस्यो, उन आँखिन सों अब देखिए का (दू० अं०)

निद्रा नाश

दुख के दिन कों कोउ भाँति बितै बिरहागम रैन सँजोवती हैं।
हमहीं अपुनी दशा जानैं सखी निसि सोवती हैं किधौं रोवती हैं॥ (प्र० अं०)

(तनुता) (१) 'क्यों चितै सुरि सो तन छाम कियो' (दूसरा अंक)
(२) जोगिन-मुँह सूख कर छोटा सा हो गया (चौथा अंक)

(प्रलाप) (१) वनदेवी—अरी! यह तो सदा हाई बैठी बकयो करै (दू० अंक)
(२) यह वर्षा है तो हा! मेरा वह आनन्द का घन कहाँ है? हा मेरे प्यारे! कहाँ बरस रहे हो? प्यारे गरजना इधर और बरसना और कहीं?
(दू० अंक)

(मूर्च्छा) तौ लौं सुख पावै जौ लौं मुरछि परी रहै (चौथा अंक)

(निवृत्ति या उदासीनता) बिछुरे पिय के जग सूनो भयो अब का करिए कहि पेखिए का
(दू० अंक)

हौं अपने गृह कारज भूली भूलि रही बिलमाई (चौं० अंक)

(स्वप्नमिलन व्यथा) जब सपने में देखा तभी घबड़ाकर चौंक उठी

(अश्रुपात) ये दुखियाँ सदा रोयो करैं विधना इनको कबहूँ न दिए सुख (दू० अंक)

हरीचन्द औरो घबरात समुझाए हाय,
हिचकि-हिचकि रोवै जीवति मरी रहै
(चौं०अंक)

(उन्माद)—(जल्दी से उठ वनदेवी का हाथ पकड़ कर) कहो प्राणनाथ! अब कहाँ भागोगे (दू० अंक)

दूसरे अंक में उन्माद के बहुत से उदाहरण हैं।

(जड़ता) यह कौन आँखिन मूंद कै अकेली या निरजन वन मैं बैठि रही है (दू० अंक)
(चन्द्रावली के कान के पास) अरी मेरी वन की रानी चन्द्रावली (कुछ ठहरकर) राम! सुनैहू नहीं है।

(और ऊँचे स्वर से) अरी मेरी प्यारी सखी चन्द्रावली ! (कुछ ठहर कर) हाय ! यह तो अपने सों बाहर होय रही है । अब काहे को सुनैगी (दू० अंक)

(गुणकथन) वाह ! प्यारे वाह !! तुम और तुम्हारा प्रेम दोनों विलक्षण हैं, और निश्चय बिना तुम्हारी कृपा के इसका भेद कोई नहीं जानता ; जाने कैसे ?

(दू० अंक)

चन्द्रावली नाटिका भारतेन्दु के व्यथित हृदय का 'मेघदूत' है । प्रजापति के शाप से शापित यक्ष और सुहृद जनों से उपेक्षित भारतेन्दु जी की परिस्थितियों में क्या कोई विशेष अंतर है ? अंतर है तो मात्र इतना कि एक गंधर्व लोक का बासी था दूसरा भूलोक का । यदि एक ने भारतीय वैभव के गीत गाये हैं तो दूसरे ने क्रन्दन किया है विवशता का, असमर्थता का । पर इस क्रन्दन में भी एक लय है, गति है, विश्वास है तथा एक संदेश है । उनके साहित्य की मूल भावनाएँ—लोक रंजन और लोक मण्डन-इस नाटिका के दो कूल हैं । रचना, विधान, भाषा, भाव एवं विचारों पर जब हम विचार करते हैं तो इस नाटक को उत्तम पाते हैं । तब हृदय नाटककार की भावनाओं में डूबता हुआ कह उठता है ।

कहैंगे सबै ही नैन भरि-भरि पाछे,
प्यारे हरिचंद की कहानी रह जायगी ।

प्रसाद का नाट्यविधान पश्चिमी शैली का है

प्रसाद जी की पृष्ठभूमि में स्थित हैं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एवं उनका काल। भारतेन्दुजी ने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध में पूर्वी नाट्य शास्त्र के साथ-साथ पश्चिमी नाट्य शैली का भी विवेचन किया है। उनके नाटकों में भी दोनों शैलियों के नाटक प्राप्त हैं। एक ओर संस्कृत नाट्य शास्त्र की कसौटी पर खरी उतरने वाली चन्द्रावली नाटिका है तो दूसरी ओर पश्चिमी नाट्यशैली के अनुसार लिखा 'नीलदेवी' एक दुखान्त नाटक है। इतने पर भी यह कहना पड़ेगा कि भारतेन्दुजी की दृष्टि प्रधानतः भारतीय नाट्यशैली की ओर थी। इसके विपरीत प्रसाद जी ने अपने नाटकों में पश्चिमी नाट्यशैली को अपनाया है। यह युग का तकाजा था और प्रसाद जी का अपना दृष्टिकोण था।

कथानक—प्रसाद जी ने ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं। केवल जनमेजय के नागयज्ञ में थोड़ी सी पौराणिकता आगई है। ऐतिहासिक एवं पौराणिक नाटक के अन्तर को बताने वाला शब्द है 'अलौकिकता'। ऐतिहासिक नाटक में मानवी जीवन मिलता है जब कि पौराणिक नाटक में 'अतिमानवी' या 'अलौकिक' जीवन। असाधारणता एवं अलौकिकता में बड़ा अन्तर है। नैपोलियन असाधारण वीर था किन्तु अलौकिक पुरुष नहीं। हमारे राम एवं कृष्ण अलौकिक देवता हैं। काश्मीर अभियान में कुछ भारतीय वीरों ने असाधारण साहस दिखाया था परन्तु यदि कोई नाटककार आगे चलकर यह दिखादे कि सेना नायक ने हथेली बजाई और पहाड़ छूमन्तर हो गया, और इस कृत्य की कोई तार्किक व्याख्या वह प्रस्तुत न करे तो नाटक पौराणिक बन जायेगा। हमारे पुराण इतिहास ही हैं किन्तु हम उन्हें पुराण कहते हैं क्योंकि उनमें अलौकिकता भरी है। एक घटना के विश्लेषण से यह अन्तर अधिक स्पष्ट हो जायेगा। रामचरितमानस में लिखा है कि इन्द्र के पुत्र जयन्त ने काक का रूप बनाकर सीता जी के चरणों में चोंच मारी। यह अलौकिकता है। पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी ने अपने नाटक 'सीता हरण नाटक' में इसे दूसरे रूप में प्रस्तुत किया है। जयन्त एक पक्षी विशेषज्ञ था। उसने सैकड़ों पक्षी पाल रक्खे थे। उन्हें वह भिन्न-भिन्न कार्यों की शिक्षा देता था जैसे कि आज कबूतरों और कुत्तों को सेना एवं पुलिस में शिक्षित किया जाता है। जयन्त ने सीता को देख राम की

परीक्षा करने की एक विधि निकाली। उसने अपने एक शिक्षित काक द्वारा सीता के पैर का मांस नुचवा डाला। यहाँ घटना अलौकिक नहीं है वरन मानवी जीवन के अनुरूप है, जो तर्क सम्मत है। डा० रांगेयराघव एवं श्री के० एम० मुंशी ने अपनी 'प्रतिदान' एवं 'भगवान परशुराम' नामक पुस्तक में द्रोणाचार्य एवं परशुराम जैसे पौराणिक पुरुषों को शुद्ध मानवी रूप दे दिया है। ये दोनों ग्रन्थ ऐतिहासिक हो गये हैं, पौराणिक नहीं रहे हैं। प्रसाद जी ने अपने नाटकों में ऐतिहासिक रूप की रक्षा की है। नागयज्ञ नाटक ही अकेला अपवादरूप है। उनमें मनसा मन्त्र-बल से एक जादू भरा दृश्य सरमा को दिखाती है। (१–१)। इस दृश्य में कृष्ण एवं अर्जुन वार्तालाप करते हैं और खांडव वन को जला डालते हैं। मनसा इसकी व्याख्या करती हुई कहती है कि यह इंद्रजाल था। यह उसी प्रकार का दृश्य है जैसा कृष्ण ने गीता में अर्जुन को दिखाया था। वहाँ उसे योगबल कहा गया है, यहाँ मंत्र बल। इस थोड़ी सी पौराणिकता को छोड़कर 'नागयज्ञ' नाटक ऐतिहासिक है। इसमें जनमेजय महाभारत के अनुरूप यज्ञ में सर्पों को नहीं जलाता है। नाग एक अनार्य जाति थी। जनमेजय उनको पराजित करता है, क्रुद्ध होकर कुछ मुख्य नागपुरुषों को आग में डालने का दंड देता है। इस प्रकार नाटककार ने नागयज्ञ नाटक को ऐतिहासिक बना लिया है। यह ऐतिहासिक दृष्टि आधुनिक युग की देन थी जो पश्चिम से आई थी। अपने नाटकों की भूमिकाओं में उन्होंने ऐतिहासिक तथ्य भी दिये हैं जिनके आधार पर नाटकों का निर्माण हुआ है।

इस ऐतिहासिक कंकाल में प्रसाद जी ने कल्पना का रक्त भरा है और राष्ट्रीयता की प्राण प्रतिष्ठा की है। अपने सभी नाटकों में प्रसाद जी की राष्ट्रीयता मुखर है। यह राष्ट्र-भावना अनेक रूपों में प्रतिबिंबित है। अलका चन्द्रगुप्त नाटक में भीड़ के साथ समवेत स्वर में राष्ट्रीय गीत गाती है, 'हिमाद्रि तुङ्ग शृंग' (४–६)। कार्नेलिया और धातुसेन विदेशी होते हुए भी भारत को प्यार करते हैं (चंद्रगुप्त एवं स्कंदगुप्त)। लगभग सभी नाटकों में राष्ट्रीयभावना से भरे शब्द कहीं न कहीं पात्रों के मुख से निकल पड़ते हैं। अतीत भारत का गौरव गान भी इसी के अंतर्गत है।

पश्चिमी नाटकों में संघर्षपूर्ण एवं चमत्कारसम्पन्न गत्यात्मक कथानक को प्रधानता दी गई है। प्रसाद जी में ये दोनों गुण भरपूर मात्रा में हैं। प्रसाद जी के सभी ऐतिहासिक नाटकों का कथानक संघर्ष के धरातल पर टिका है। यह संघर्ष दो प्रकार का है, बाह्य संघर्ष एवं हार्दिक संघर्ष। बाह्य संघर्ष रूप में कहीं भारतीयों का विदेशियों से संघर्ष है जैसे चंद्रगुप्त नाटक में यूनानियों से लोहा लिया जाता है, एवं स्कंदगुप्त में शकों एवं हूणों से युद्ध होता है। आर्य अनार्य संघर्ष भी मिलता है (नागयज्ञ)। पारिवारिक संघर्ष तो जगह-जगह खड़ा है (स्कंदगुप्त, अजात शत्रु

ध्रुवस्वामिनी)। कहीं यह प्रवृत्तियों का प्रतीक बन जाता है (कामना)। हृदय संघर्ष तो सर्वत्र ही मिलता है। मागंधी, देवसेना, विजया, विरुद्धक, स्कंदगुप्त के जीवन इस हार्दिक संघर्ष के उदाहरण हैं। पश्चिमी आलोचकों का मत है कि संघर्ष प्रधान नाटक ही उत्तम होता है। दुखांत नाटकों के मूल में संघर्ष ही भरा होता है।

प्रसाद जी ने अपने नाटकों में चमत्कार पूर्ण घटनाओं को भी प्रचुरता से प्रश्रय दिया है। उनके नाटकों में पात्रों का सहसा प्रवेश इसका ज्वलन्त उदाहरण है। चन्द्रगुप्त एवं स्कंदगुप्त में एक दर्जन से अधिक बार सहसा प्रवेश होता है। कल्याणी या देवसेना आत्मघात करना चाहती है, सहसा नायक का प्रवेश होता है। देवसेना की बलि दी जाने वाली है, सहसा स्कंदगुप्त वहाँ आ जाता है। राज्यश्री चिता में कूदना ही चाहती है कि सहसा हर्ष का प्रवेश होता है। घटना प्रवाह को बदलने का यह चमत्कारपूर्ण ढंग प्रसाद जी में अधिकता से है। कुभा में बहती स्कंद की सेना अथवा सुरमा ... की बलि होते समय आँधी का प्रकोप भी चमत्कार से भरे दृश्य हैं। चंद्रगुप्त एवं नागयज्ञ में दांड्यायन एवं व्यास की भविष्यवाणियाँ भी इसी चमत्कार भावना पर प्रकाश डालती हैं।

भारतीय नाट्यविधान में अङ्कों को दृश्यों में विभाजित नहीं किया जाता किंतु प्रसादजी ने ऐसा किया है। दृश्यों का आरम्भ एवं अंत भी पश्चिमी शैली का है। दृश्यों के आरम्भ में रंग सज्जा दी है, पात्रसूची या पात्र की मुद्रा भी। उदाहरणस्वरूप—

(क) स्थान—(काश्मीर का एक कुञ्ज, पास ही हरा भरा खेत, शिलाखंड पर बैठा हुआ स्नातक विशाख) विशाख १—१

(ख) स्थान—पत्नीशाला की पिछली खिड़की: आस्तिक टहल रहा है, योद्धा के वेश में मणिमाला का प्रवेश (नागयज्ञ ३—५)

(ग) स्थान—प्रकोष्ठ—राजकुमार अजातशत्रु, पद्मावती, समुद्रदत्त और शिकारी लुब्धक (अजातशत्रु १—१)

(घ) स्थान तक्षशिला के गुरुकुल का मठ, चाणक्य और सिंहरण, (चंद्रगुप्त १—१)

दृश्यांत में भी पश्चिमी शैली दिखाई पड़ती है। चमत्कार के साथ-साथ प्रकाश व्यवस्था का भी संकेत किया गया है।

(क) सब स्तब्ध होकर चंद्रगुप्त को देखते हैं और चंद्रगुप्त आश्चर्य से कार्नेलिया को देखने लगता है। एक दिव्य आलोक। (चंद्रगुप्त १—११)

(ख) दोनों ही सिल्यूकस के पास जाते हैं; सिल्यूकस उनको हाथ मिलाता है। फूलों की वर्षा और जयध्वनि (चंद्रगुप्त ४-१४)

(ग) सब उतरना चाहते हैं, कुभा में अकस्मात् जल बढ़ जाता है। सब बहते हुए दिखाई देते है। (स्कन्दगुप्त ३ का अन्तिम दृश्य)।

(घ) पीछे से मातृगुप्त आकर प्रपंच का हाथ पकड़ कर नेपथ्य में ले जाता है, देवसेना चकित होकर स्कन्द का आलिंगन करती है। (स्कन्दगुप्त अंक ३)

(ङ) सैनिक प्रहार करते हैं। 'आग, आग' का हल्ला। नरदेव घबरा कर भीतर भागता है। चन्द्रलेखा और विशाख को लेकर नागलोग भागते हैं। आग फैल जाती है। प्रेमानन्द, राजा को अग्नि में से घुसकर उठा लाता है, और पीठ पर लाद कर चला जाता है। (विशाख ३-४)

भारतीय नाट्यशास्त्र द्वारा वर्जित दृश्य, जो चमत्कार एवं वास्तविकता की दृष्टि से उचित माने जाते हैं, प्रसाद जी के नाटकों में बहुलायत से हैं। ऊपर के उद्धरणों में आलिंगन एवं आग का लगाना चित्रित है। स्कन्दगुप्त एवं नागयज्ञ में युद्ध के दृश्य हैं। आत्मघात एवं मृत्यु की तो नाटकों में हाट लगी है। प्रेमचन्द जी एवं प्रसाद जी पात्रों को मारने में बड़े दक्ष हैं। निश्चय ही ये आत्मघात पश्चिमी शैली अपनाने के कारण नाटकों में प्रदर्शित हुए हैं।

भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटकों में संधियों की अनिवार्यता स्वीकृत है (नाट्यशास्त्र, निर्णयसागर प्रेस १०—१०२, १०३)। क्या प्रसाद जी ने अपने नाटकों में सन्धि समन्वित कथानक रक्खा है? कुछ विद्वान आलोचकों एवं खोजकों ने प्रसाद जी में संधियाँ खोजी भी हैं। नाट्यशास्त्र में संधियों की अनिवार्यता इसीलिए रक्खी गई थी कि कथानक शृङ्खलित बन जाय। अतः जहाँ भी शृङ्खलित एवं व्यवस्थित कथानक प्राप्त हो जाय वहाँ संधियाँ ढूँढ़ी जा सकती हैं। इसी दृष्टि से प्रसाद जी के नाटकों में संधियों का अध्ययन किया गया है। भारतेन्दु जी ने स्वयं अपने 'नाटक' नामक निबन्ध में मत दिया था। 'अब नाटक में कहीं आशीः प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं प्रकरी, कहीं विलोभन, कहीं पंचसंधि, वा ऐसे ही विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही,' (भारतेन्दु ग्रन्थावली, पहला भाग, सं० ब्रजरत्नदास, पृ० ७२२)।

यह युग की मांग थी। प्रसाद जी के निकट आते-आते युग और आगे बढ़ गया था। वे कैसे संधियों के पचड़े में सिर खपाते? उनके नाटक भी यही बताते हैं कि उन्होंने संधियों का ध्यान नहीं रक्खा है। संधि का अर्थ है, अर्थ प्रकृति एवं कार्य अवस्था का मेल। अर्थ प्रकृतियाँ कथा के महत्त्वपूर्ण अंश हैं। अतः अर्थ प्रकृतियाँ सर्वत्र प्राप्त हो सकती हैं। किन्तु कार्य अवस्थाओं की प्राप्ति दुखान्त नाटकों में संभव नहीं

है। प्राप्त्याशा तीसरी अवस्था है। इसमें फल प्राप्ति की संभावना होनी चाहिए। यह भी संघर्ष की कथा में मिल सकती है। किन्तु नियताप्ति एवं फलागम दुःखान्त नाटकों में नहीं हो सकते हैं। यही हाल संधियों का है। गर्भसन्धि में संघर्ष की तीव्रता एवं उसका ह्रास प्रदर्शित हो जाना चाहिये। विमर्श सन्धि में शाप इत्यादि से गति में थोड़ा व्यवधान पड़ सकता है परन्तु फल सुनिश्चित सा हो जाता है। निर्वहण में तो फल की सिद्धि ही दिखाई जाती है। प्रसाद जी ने सन्धियों को ध्यान में नहीं रक्खा है, यह बात उनके नाटकों से स्पष्ट हो जाती है। स्कन्दगुप्त में संघर्ष अन्त तक चलता है। केवल अंतिम से पूर्व दृश्य में हूण पराजित होते हैं एवं विमाता अपना पक्ष हार बैठती है। इससे स्पष्ट है कि नियताप्ति की अवस्था तो है ही नहीं फलागम की भी संपूर्णता नहीं है। फलतः विमर्श एवं निर्वहण सन्धियों का विकास नहीं हुआ है। विशाख एवं नागयज्ञ का भी लगभग यही हाल है। एकाध वाक्यों के बल पर नियताप्ति एवं विमर्श की संघटना नहीं मानी जा सकती। इसके लिए पूरी विकसित अवस्था अपेक्षित है। अजातशत्रु एवं चन्द्रगुप्त में भी चरम-सीमा के बाद अन्त होता है, वहाँ संधियों का स्फुरण नहीं है। वास्तव में प्रसाद जी ने पश्चिमी पांच कथांश (प्रारम्भ, प्रगति, चरमसीमा, निर्गति एवं उतार) का अधिक ध्यान रक्खा है। यदि प्रसाद जी सन्धियों का ध्यान रखते तो जो अनावश्यक दृश्य नाटकों में गुँथ गये हैं, वे न गुँथ पाते। स्कन्दगुप्त के चौथे अंक के दो दृश्य (नगर प्रान्त में पथ एवं विहार के समीप चतुष्पथ) कथा की अनिवार्यता के अंक नहीं बन सके हैं। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त एवं जनमेजय का नागयज्ञ के दाण्ड्यायन आश्रम (चन्द्रगुप्त १--११) एवं व्यासाश्रम (नागयज्ञ ३---१) वाले दृश्य कथा प्रवाह के अनिवार्य अंग नहीं हैं। अजातशत्रु में कारायण एवं शक्तिमती का स्त्रियों पर वाद-विवाद भी सरलतया हटाया जा सकता है (अजातशत्रु ३---४)। पश्चिमी शैली से इन दृश्यों की योजना सदोष नहीं है किन्तु सन्धि स्थापना के विचार से ये दृश्य ठीक नहीं उतरते हैं।

पात्र---पात्र अथवा चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी विचार करें तो पश्चिमी शैली ही प्राप्त होती है। अनेक आलोचकों ने नायकों को दृष्टि में रखकर निष्कर्ष निकाला है कि प्रसाद जी ने यहाँ भारतीय नाट्य विधान अपनाया है और उनके नायक धीरोदात्त या धीरललित हैं। प्रसाद जी आदर्शवादी कलाकार हैं अतः उनमें आदर्शोन्मुख नायक प्राप्त होते हैं। कुछ धीरोदात्त भी हैं जैसे चन्द्रगुप्त एवं स्कन्दगुप्त। किन्तु अजातशत्रु एवं जनमेजय धीरोदात्त नहीं हैं और न वे कोई आदर्श सामने रखते हैं। ध्रुवस्वामिनी एवं इसी नाटक का चन्द्रगुप्त तो किसी प्रकार से भी भारतीय प्रणाली पर खरे न उतरेंगे (ध्रुवस्वामिनी नाटक)। विशाख ब्राह्मण है अतः भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार वह धीर प्रशान्त हो सकता था किन्तु प्रसाद जी ने उसे प्रेमी नायक बनाया है जो धीर ललित कहला सकता है। वह धीर ललित भी नहीं है क्योंकि एक ब्राह्मण की हत्या कर देता है। स्त्रियों को प्रधानता देना एवं उनको आधुनिक रूप में रखना

भी भारतीय नाट्य विधान के अनुरूप नहीं है। वरन् यह भी पाश्चिमी प्रभाव है। भिन्न-भिन्न नाटकों में स्त्रियों की भिन्न-भिन्न समस्याओं को उठाया गया है।

रस—भारतीय नाट्यशास्त्र में रस को अत्यधिक प्रधानता प्राप्त हुई है। आचार्य धनंजय रूपक भेद का आधार रस बताते हैं, (दश रूपक १-७)। नाटक में वीर या शृङ्गार को प्रधानता देनी पड़ती है। प्रसाद जी का अध्ययन हम भले ही रस की दृष्टि से कर लें किन्तु उनके नाटकों में रस की प्रधानता नहीं मिली है। स्कन्दगुप्त में कौनसा रस प्रधान माना जाय? अन्त तो करुण ही है। नाटक की समाप्ति के बाद दर्शक के कानों में स्वर गूंजते रह जाते हैं, 'आह! वेदना मिली विदाई' और उसका हृदय स्कन्द के इन वाक्यों के साथ बैठकर रोता है। 'देवसेना। तुम जाओ, हतभाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्द, ओह!!' अन्त को ध्यान में रक्खा जाय तो 'करुण' रस को प्रधान माना जा सकता है। किन्तु करुण रस प्रधान है नहीं क्योंकि उसके सब अंग विकसित नहीं हुए हैं। पूरे कथानक को देखने से वीर प्रधान माना जा सकता है। किन्तु वीर रस का पर्यवसान करुण में दिखाना रस की दृष्टि से उचित नहीं है। भारतीय नाट्य विधान में रस को दृष्टि में रखकर नियम बनाया गया था कि नाटकों का अन्त सुखान्त होगा। प्रसाद जी के दो तीन नाटकों का अन्त ऐसा ही है, जैसे नागयज्ञ, विशाख। किन्तु अधिकांश नाटक सुखांत नहीं कहे जा सकते। प्रसाद जी जानबूझकर सुखांत अवस्था में दुख की धारा बहा देते हैं। अजातशत्रु में सुखांत अवस्था आई थी कि बिम्बसार की मृत्यु करादी गई है। चन्द्रगुप्त में चाणक्य एवं मौर्य गृह त्यागकर चले जाते हैं और कामना में नाव डूबती है। आलोचकों ने प्रसादजी के नाम पर इस सुख दुख की मिश्रित अवस्था वाले अन्त को प्रसादांत नाम दिया है। यह 'अन्त' भारतीय नाट्य विधान के अनुरूप नहीं माना जा सकता।

भाषा प्रयोग के संबंध में भी उनका मत न भारतीय नाट्यविधान के मेल में है और न भारतेन्दु जी के अनुरूप। संस्कृत नाटकों में भाषा भेद है। वहाँ नियमतः स्त्रियाँ एवं निम्न वर्गीय पुरुष अनेक प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग करते हैं। प्रसाद जी ने एक ही भाषा का प्रयोग कराया है। अँग्रेजी नाटकों में भी भाषा भेद नहीं के बराबर है। यह कहा जा सकता है कि प्रसादजी में जो कविता की प्रवृत्ति है वह संस्कृत नाटकों की परम्परा में है जो भारतेन्दु जी से होती हुई आई है। संस्कृत नाटकों में कविता की अधिकता है, वे काव्यमय हैं। किंतु शेक्सपियर के नाटकों में भी आकर्षक एवं मनोहर कविता की कमी नहीं है। प्रसाद जी ने 'गीतों' को प्रश्रय दिया है जो कवितामय हैं। यह गीत प्रवृत्ति भारतेन्दु काल में चल पड़ी थी जो पारसी नाटकों की देन है।

फलतः हम कह सकते हैं कि प्रसाद जी के नाटकों में पश्चिमी शैली की प्रधानता है।

प्रसाद की नाट्यकला की पृष्ठभूमि

समर्थ कवि या लेखक अपने व्यक्तित्व की तूलिका द्वारा तत्कालीन एवं प्राचीन शैली और विचार सामग्री को सजाकर संसार के सम्मुख लाता है। तुलसी का प्रत्येक पाठक इस तथ्य की साक्षी देता है कि इस अविस्मरणीय महाकवि ने केवल अपने काल में प्रचलित शैलियों को ही नहीं अपनाया वरन् अपने से पूर्व की काव्य शैलियों को भी अपनी लेखनी की छाया में बैठाया था। यही हाल विचार सामग्री का है। उनके रामचरितमानस में अध्यात्म रामायण, बालमीकि रामायण, गीता और भागवत के अतिरिक्त अनेक नाटक, पुराण, स्मृति, शास्त्र, उपनिषद् एवं काव्य ग्रंथों का ऋण देखा जा सकता है। कवितावली का उत्तरकाण्ड एवं रामचरितमानस तत्कालीन विचारों को समेटे हैं। गोसाईं जी ने इन सब को अपने व्यक्तित्व से स्वरस करके सरस एवं नवीन बना दिया है। आधुनिक हिन्दी नाटक के जनक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी ने संस्कृत और ब्रजभाषा की नाटकीय काव्य शैली को अपनाया। आज नाटक गद्य क्षेत्र में गिना जाता है। संस्कृत में यह काव्य के अन्तर्गत था। संस्कृत और ब्रजभाषा के नाटककार कवि ही थे। इसी परम्परा में भारतेन्दु जी और प्रसाद जी आते हैं जो प्रधानतः कवि ही थे। परिणामतः प्रसादजी के नाटकों में भी भारतेन्दु जी की नाईं काव्य का निखरा एवं समृद्ध स्वरूप दिखलाई पड़ता है।

प्रसाद जी ने अपने नाटकों में कविता की परम्परागत शैली भी ग्रहण की है और तत्कालीन कविता शैली भी। भारतेन्दु जी से पूर्व ब्रजभाषा नाटकों में[1] पद्य की अतिशय प्रधानता थी। इनमें हिन्दी के मात्रिक, वर्णिक एवं मुक्तक छन्दों का प्रयोग है आनन्द रघुनन्दन में छन्दों के अतिरिक्त पद और भजन मिलते हैं, जिन्हें गीत कह सकते हैं। भारतेन्दु कालीन नाटकों में भी छन्द और गीतों की अनिवार्यता दिखलाई पड़ती है। हां, इतना परिवर्तन अवश्य हुआ कि ब्रजभाषा नाटककाल की अपेक्षा गीतों को विशेष मान मिलने लगा था। भारतेन्दु के नाटक—भारत दुर्दशा, चन्द्रावली, अन्धेर नगरी, नील देवी और विद्यासुन्दर इस दशा में मार्ग दर्शक बने। प्रेमघनजी ने

---

१. [illegible]

कुछ नाटकों की कटु आलोचना की थी क्योंकि उनमें गीत एवं कविता का प्रयोग न हुआ था।[१]

हिन्दी नाटक की इसी परम्परा की रक्षा प्रसाद जी के नाटकों में हुई। उनके प्रारम्भिक नाटकों में छंदबद्ध कविता के भी दर्शन होते हैं। १९१०-११ में लिखे सज्जन में ही नहीं दस ग्यारह वर्ष बाद लिखे विशाख एवं अजातशत्रु में भी कविता का प्रयोग हुआ है। कविता के भी कई रूप दिखलाई पड़ते हैं। प्राचीन काल के कुछ छन्दों को तो अपनाया ही गया है[२], नवीन अतुकान्त कविता भी दिखाई देती है[३]। इन्द्रसभा और थियेट्रीकल नाटकों[४] की शेर शैली ने भी स्थान पाया है। कहीं-कहीं तुकबन्दी का विशेष आग्रह भी दिखलाई पड़ता है।[५] भारतेन्दु काल से आई और उस काल में व्याप्त शैली थी कि गद्य के साथ पद्य भी कथोपकथनों में आते थे। प्रसादजी ने इस शैली को भी ग्रहण किया है। प्रसाद जी ने भारतेन्दुकाल से चली आती गीत शैली में भी प्रौढ़ता भर दी है। प्रसाद का काव्यत्व, नाटकों के गीतों के अवगुंठन से ही तो प्रधानतया झाँकता है। यदि नाटकों में से गीतों को देश निकाला दे दिया जाय तो प्रसाद के भव्य प्रासाद की चमक दमक जाती रहेगी।

भारतेन्दु युग में पहिली बार नाटकों में गद्य ने प्रधानता पाई, नहीं तो ब्रजभाषा नाटकों में पद्य का एक छत्र साम्राज्य स्थापित था। प्रसाद जी ने अपने नाटकों में गद्य को अत्यधिक ऊँचा स्थान दिया। उन्होंने अपने गद्य में भी काव्य भरा है और वह गद्य काव्य बन गया है। परम्परागत काव्य प्रधान शैली के साथ बंगला की भावुकता और अंग्रेजी नाट्य कला भी प्रसाद के नाटकों की पृष्ठभूमि में प्राप्त होती हैं। इन दोनों शैलियों ने भी प्रसाद की नाट्यकला को चमकाया है।

भारतेन्दु जी बंगला भली प्रकार जानते थे। उन्होंने विद्यासुन्दर नाटक का बंगला से ही छायानुवाद किया। भारत जननी नाटक भी बंगला से अनूदित है। भारतेन्दु जी के बंगला पात्र बंगाली भाषा भी बोलते हैं।[६] किन्तु भारतेन्दु जी कृत चन्द्रावली को छोड़कर अन्य नाटकों में भावुकता नहीं मिलती। प्रसादजी में बंगला

---

१. आनन्द कादम्बिनी, भाद्रपद सं० १९३१ (१-२)

२. विशाख।

३. विशाख।

४. सलोने अंग पर पट हो मलिन भी रंग लाता है। कुसुम, रज से ढका भी हो कमल फिर भी सुहाता है (विशाख)

५. अकेले ही [illegible] जाने न दूंगी। प्रणय को तोड़कर जाने न दूंगी॥
तुम्हें इस गेह से जाने न दूंगी। हृदय को देह से जाने न दूंगी॥

६. पाखंड विडंबन नाटक।

की भावुकता भरपूर मात्रा में मिलती है। उनके पात्र बड़े भावुक हैं। पुरुष और स्त्री सभी भावुकता के साथ कथन करते हैं। भावुकता के स्थल प्रधानतया दो हैं प्रणय एवं देश प्रेम। विरुद्धक (अजातशत्रु), मातृगुप्त (स्कन्दगुप्त), श्यामा (अजातशत्रु), कार्नेलिया (चन्द्रगुप्त) के अनेक कथन इस भावुकता के सुन्दर उदाहरण हैं। इस भावुकता ने प्रसाद के नाटकों में काव्यत्व का वातावरण भरा है। पश्चिमी या अंग्रेजी नाट्यकला का प्रभाव भी स्पष्ट है। नाटकों में आकस्मिकता का जोर है। पात्र सहसा आ टपकते हैं। यह चमत्कार विधान की शैली पश्चिमी प्रभाववश ही आई है। रंग-मंच पर मरण, हत्या और आत्मघात के दृश्य भी पश्चिमी प्रभाव प्रकट करते हैं। नाटकों का सुखान्त न होना, कथानक में संधि एवं कार्य-अवस्थाओं की उपेक्षा, अजात जैसे उद्धत पात्र को नायकत्व देना, संघर्ष प्रधानता, ऐसे सब प्रयास पश्चिमी प्रभाव को ही सिद्ध करते हैं।

संस्कृत, बंगला और पश्चिमी नाट्य शैलियों के साथ ही प्रसाद ने अपने दृष्टिकोण एवं प्रवृत्ति द्वारा भी भरपूर योगदान किया है। प्रसाद जी की प्रवृत्ति दार्शनिक थी। उन्होंने दर्शनशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया था फलतः जब अवसर मिलता है प्रसादजी दार्शनिक रंग उंडेल देते हैं। अजातशत्रु में बिम्बसार के अनेक कथन इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। स्कन्दगुप्त का नायक स्कंदगुप्त पहिले अंक के आरम्भ में ही अधिकार के प्रति विराग भाव लिए प्रवेश करता है। दांड्यायन, गौतम, व्यास के लिए क्या कहा जाय? प्रसाद का जीवक भी भाग्य और कर्म की मीमांसा करता हुआ मिल जायगा।[१] इसी दार्शनिक प्रवृत्ति का परिणाम है कि प्रसादजी अपने नाटकों के अन्त में शांति का वातावरण फैलाते हैं।

प्रसादजी यौवन और सौन्दर्य के कवि हैं। उनका वह दृष्टिकोण उनके नाटकों में भी बहुतायत से प्रतिबिंबित है। कविता की भाँति उनके नाटकों में भी यौवन की आंधी बारंबार आती है एवं सौंदर्य की मधुर फ़ुहारें पड़ती हैं।

प्रसादजी इसलिए नाटक नहीं लिखते थे कि उन्हें नाटक लिखने ही थे। प्रसादजी ने गोद्देश्य इस मार्ग में पग बढ़ाया था। वे नाटकों के द्वारा अपने पारिवारिक, सामाजिक और राजनैतिक दृष्टिकोण को प्रकट करना चाहते थे। इसके लिए उन्हें ऐतिहासिक ढांचा उपयुक्त जंचा। अतः उन्होंने ऐतिहासिक कथाओं द्वारा इन विचारों को व्यक्त किया। ऐतिहासिक नाटक या उपन्यास लिखने की दो शैलियाँ हैं, (१) नाटककार किसी ऐतिहासिक घटना या पात्र से प्रभावित होता है। फलतः वह उसका चित्रण नाटक के माध्यम से कर देता है। (२) दूसरी ओर नाटककार कुछ विशेष दृष्टिकोण सामने रखना चाहता है। वह उस दृष्टिकोण के अनुरूप इतिहास से कथा और पात्र चुनता

१. अजातशत्रु नाटक

है। प्रसादजी ने दूसरी शैली अपनाई है। अतः ऐतिहासिक कथाओं के पीछे प्रसाद जी के पारिवारिक, सामाजिक और राजनैतिक विचार विशेष स्थान देने की वस्तु है। वे कथा की वस्तु को आगे बढ़ाते जाते हैं और अपने विचार रखते जाते हैं। स्थान-स्थान पर वे 'ब्राह्मण' के सम्बन्ध में कुछ कहते हैं। इसी प्रकार क्षत्रिय के सम्बन्ध में भी अपने विचार दे देते हैं। नारी सम्बन्धी विचार तो अधिकता से प्रकट हुए हैं। उनके राष्ट्रीय विचारों के कुछ उदाहरण देखिए:—

(क) यवनों से उधार ली हुई सभ्यता नाम की विलासिता के पीछे आर्य जाति उसी तरह पड़ी है जैसे कुल वधू को छोड़ कर कोई नागरिक वेश्या के चरणों में।

(ख) हम देश की प्रत्येक गली को झाड़ू देकर इतना स्वच्छ कर ि कि उस पर चलने वाले राज मार्ग का सुख पावें।

(ग) भारत समग्र विश्व का है और सम्पूर्ण वसुंधरा इसके प्रेम-पाश में आबद्ध है।

(घ) समस्त देश के कल्याण के लिए एक कुटुम्ब की भी नहीं, उसके क्षुद्र स्वार्थों की बलि होने दो।

(ङ) मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा।

(च) अब केवल पाणिनी से काम न चलेगा; अर्थशास्त्र और दण्ड नीति की आवश्यकता है।

(छ) राजसत्ता सुव्यवस्था से तो बढ़ सकती है, केवल विजयों से नहीं।

प्राचीन भारत के प्रति प्रसाद जी का प्रगाढ़ प्रेम है। अतः वे भारत का गुणगान करना नहीं भूलते।

संक्षेप में प्रसादजी की नाट्य कला की पृष्ठभूमि के उपादान हैं—(१) परम्परागत काव्य शैली (२) बंगला की भावुकता (३) अंग्रेजी नाट्य शैली (४) प्रौढ़ गद्य (५) दार्शनिकता (६) इतिहास और (७) पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय विचार।

चन्द्रगुप्त नाटक की परम्परा

भारतीय इतिहासाकाश में चाणक्य और चन्द्रगुप्त सूर्य और शशि के समान सर्वदा प्रकाशित रहेंगे। वह प्रथम व्यक्ति चाणक्य ही है जिसने छोटे-छोटे राज्यों में विशृङ्खलित भारत को एक सुदृढ़ सूत्र में पिरोया और एक समृद्ध केन्द्र शासित राज्या-धार पर खड़ा किया। आज तक आचार्य्य चाणक्य का अर्थशास्त्र एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक और राजनीतिक ग्रंथ स्वीकार किया जाता है। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को विशाल वट-वृक्ष बनाया और उसकी सबल छाया में भारत को सुखपूर्वक बिठा दिया। चन्द्रगुप्त स्वयं अदम्य साहसी, महान वीर और बुद्धिमान् युवक था। साहित्य में सब से पहिले महाकवि विशाख ने अपने नाटक में चाणक्य और चन्द्रगुप्त को गौरवपूर्ण ऊँचा आसन दिया। संस्कृत साहित्य में इस नाटक को बहुत मान मिला है। इस नाटक का निर्माण कब हुआ, इस पर बड़ा मत भेद चलता रहा है क्योंकि महाकवि विशाख का समय ८ वीं शदी से १२ वीं शती तक आँका जाता है। शास्त्रीय दृष्टि से यद्यपि मुद्रा-राक्षस का नायक चन्द्रगुप्त ही माना जायेगा क्योंकि आधिकारिक कथा का फल उसे ही मिलता है, तदपि कथा की गति को अग्रसर करने वाला चाणक्य ही है जिसके बिना मुद्राराक्षस का ऊँचा प्रासाद तुरन्त धराशायी हो जाता है। नाटककार का ध्यान भी चाणक्य के चरित्रचित्रण पर विशेष टिका है और राक्षस को सामने खड़ा करके वह पूछता है—दर्शकों! बताओ बड़ा कौन है? मुद्राराक्षस का चाणक्य बुद्धि के ताने-बाने से बुना गया है और वह बुद्धि की सजीव प्रतिमा है। उसके पास हृदय नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। वह अपने मार्ग के बाधकों को काँटों की नाईं समूल उखाड़ फेंकता है और ब्राह्मण होते हुए भी रक्तपात या हत्या करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करता है। उसके सामने चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्व दबा हुआ है। चन्द्रगुप्त का अपना व्यक्तित्व कुछ है ही नहीं। और तो और, कृत्रिम विरोध प्रदर्शन के तुरन्त बाद घबड़ा कर वह कह उठता है—

गुरु आयसु छल सों कलह करि हू जीय डराय।
किमि नर गुरु जन सों लरहिं, यहै सोच जिय हाय[1] ॥ अंक ३ ॥

मुद्राराक्षस में चाणक्य ही सब कुछ है। चन्द्रगुप्त तो अपनी रक्षा तक करने में असमर्थ है। चाणक्य महान् त्यागी भी है। वह राक्षस से डटकर लोहा लेता है और

१. भारतेन्दु जी द्वारा अनूदित मुद्राराक्षस।

उसे परास्त कर देता है। चाणक्य, राक्षस को मंत्रित्व दे देता है। चंद्रगुप्त, गुरु चाणक्य की आज्ञा मान कर राक्षस को मंत्री बना लेता है। मुद्राराक्षसकार यह स्पष्ट नहीं करता है कि चाणक्य से भी आदर पाने वाला व्यक्ति 'राक्षस' क्यों कहलाता है? यह उसका नाम था या उसकी उपाधि थी या जनता ने यह नाम रख दिया था। महाकवि विशाख ने राक्षस का चरित्र, चाणक्य से भी ऊँचा दिखाया है। तब भी वह राक्षस कहा गया है। चाणक्य आरंभ से अन्त तक कुसुमपुर निवासी है। संकेतों से नाटककार यह बताता है कि राजा नंद ने शिखा पकड़ कर चाणक्य को बाहर निकलवा दिया था। फलतः चाणक्य ने प्रतिज्ञानुसार नवों नंदों का समूल उन्मूलन किया और चन्द्रगुप्त को मगध के सिंहासन पर बिठाया[1]। मुद्राराक्षस की कथा अत्यन्त सुश्रृङ्खलित और प्रवाह-पूर्ण है।

मुद्राराक्षस की प्रेरणा एवं इतिहास-पुराणों के आधार पर बँगला के प्रसिद्ध नाटककार श्री द्विजेन्द्रलाल राय ने अपना नितांत मौलिक नाटक चन्द्रगुप्त लिखा। मुद्राराक्षस से चाणक्य-अपमान के संकेतों को लेकर पहिले अङ्क का सम्पूर्ण तृतीय दृश्य निर्मित कर डाला। इस दृश्य में नंद और नंद का साला, वाचाल, राजसभा में आए चाणक्य को शिखा पकड़ कर निकाल देते हैं। रायसाहब ने मुद्राराक्षस में प्रयुक्त वृषल शब्द को शूद्र अर्थ में ग्रहण किया है। पौराणिक मान्यताओं के आधार पर चंद्रगुप्त को मुरा-पुत्र स्वीकार किया गया है। राजा महापद्म की शूद्रा दासी, मुरा से चंद्रगुप्त उत्पन्न हुआ था अतः चंद्रगुप्त मौर्य कहलाया। मुद्राराक्षस के समान रायसाहब के नाटक में चाणक्य गुप्तचर विभाग का अध्यक्ष है। मुद्राराक्षस के अनुरूप ही यहाँ भी चाणक्य विजयोत्सव को रोक देता है। महाराज चंद्रगुप्त इसका कारण पूछते हैं और रुष्ट होते हैं। इस दृश्य (४—१) का संवाद भी मुद्राराक्षस जैसा ही है। चाणक्य, चंद्रगुप्त को शूद्र बताता है और अप्रसन्न होकर चला जाता है। मुद्राराक्षस से अंतर इतना ही है कि चंद्रगुप्त, चाणक्य के परामर्श से क्रोध का प्रदर्शन मात्र नहीं करता है वरन् वह वास्तव में रुष्ट हो जाता है। यहाँ चंद्रगुप्त का व्यक्तित्व

---

१. जिन जनन ने अति सोच सों नृप भय प्रगट धिक नहिं कह्यो।
पै मम अनादर को अतिहि वह सोच जिय जिनके रह्यो।
ते लखहिं आसन सों गिरायो नंद सहित समाज को (मुद्राराक्षस अंक १)
नव नंदन कौ मूल सहित खोद्यो छन भर में (अंक १)
जिमि इन नृप अपमानसों महाक्रोध उरधारि। करी प्रतिज्ञा नंदनृप नासन कों निरधारि।
सो नृप नंदहिं पुत्र सहित मारी रन पूर्ण। चन्द्रगुप्त राजा कियो करि राक्षस मदचूर्ण (अंक ३)
अतिहि क्रोध करि खोलिकै सिखा प्रतिज्ञा कीन। सो सब देखत भुवकरी नव-नृप नंद विहीन
(अंक ३)

उभर जाता है। मुद्राराक्षस के समान अंत में चाणक्य, कात्यायन को मंत्रित्व दे देता है। चंद्रगुप्त नाटक में राक्षस ने कात्यायन नाम ग्रहण किया है। मुद्राराक्षस में चाणक्य अपने मुख से कहता है कि मैंने ही नंद वंश का समूल नाश किया है किंतु रायसाहब ने इसका वर्णन एक पूरे दृश्य में किया है (३-६)।

ऐसी समानताओं के होते हुए भी रायसाहब का चंद्रगुप्त नाटक मुद्राराक्षस से बहुत भिन्न है। स्वयं कथानक ही भिन्न है। 'चन्द्रगुप्त' सिकन्दर विजय से प्रारम्भ होता है, मगध के सिंहासन पर चन्द्रगुप्त बैठता है और सिल्यूकस की पराजय के पश्चात् चन्द्रगुप्त एवं हेलेन के विवाह के साथ समाप्त हो जाता है। मुद्राराक्षस की कथा नितान्त दूसरी दिशा में प्रवाहित है। रायसाहब ने कथा के बहाव में देश और काल की सीमा का ध्यान ही नहीं रक्खा है। नाटक हिरात से लेकर मगध तक दौड़ता है और आरम्भ से अन्त तक २०-२५ वर्ष का समय लगता है। चन्द्रगुप्त नाटक में कुछ पात्रों के नाम तो मुद्राराक्षस के ही हैं और कुछ नवीन हैं। पुराने पात्रों का चरित्र भी बदला हुआ है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त हैं तो मुद्रा राक्षस के परन्तु उनके जीवन और कार्य परिवर्तित हैं। मुद्राराक्षस का राक्षस यहाँ कात्यायन बन गया है। सिकन्दर, सिल्यूकस, ऐण्टीगोनस, हेलेन, छाया, चन्द्रकेतु, मुरा, वाचाल—नवीन पात्र हैं।

सबसे बड़ी भिन्नता है चाणक्य और चन्द्रगुप्त के चरित्रों की। मुद्राराक्षस में चन्द्रगुप्त, चाणक्य के हाथ का खिलौना है। रायसाहब इस विचार को लेकर नाटक लिखने बैठे हैं कि मैं चन्द्रगुप्त को चाणक्य के हाथ की कठपुतली नहीं बनने दूँगा। वरन् चन्द्रगुप्त को एक स्वतन्त्र सत्ता देकर ऊपर उठाऊँगा। फलतः रायसाहब का चन्द्रगुप्त अपने बल पर आगे बढ़ता है, चाणक्य के सहारे नहीं। चन्द्रगुप्त में चाणक्य चन्द्रगुप्त को नहीं ढूँढ़ता है, चन्द्रगुप्त ही चाणक्य को अपनी सहायतार्थ बुलवाता है क्योंकि उसने सुना है कि चाणक्य बड़ा मेधावी, नीतिकुशल और दृढ़ व्रती ब्राह्मण है और वह नंद का घोर शत्रु भी है। चंद्रगुप्त नाटक का नायक वास्तव में चंद्रगुप्त ही है क्योंकि नाटक उसी के सहारे अग्रसर होता है। आरम्भ में हमारे सामने चंद्रगुप्त एक वीर, साहसी और कुशल युवक के रूप में आता है। चंद्रगुप्त, नंद का सौतेला भाई है। नंद ने उसे निर्वासित कर दिया है। चंद्रगुप्त बड़े कौशल और साहस से सिकंदर की सेना में रहकर यूनानी रणकौशल और व्यूह रचना सीखता है। सिकंदर के सामने निर्भीकता से उत्तर देता है और समय पर वीरत्व का परिचय देकर ऐण्टीगोनस के आक्रमण से सिल्यूकस को बचाता है। उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। चाणक्य जब नन्द-वध करने को उद्यत है तो चन्द्रगुप्त नन्द को क्षमा कर देता है और एक क्षमा पत्र चाणक्य के पास भेज देता है।

चाणक्य नन्द का वध कभी भी न कर पाता यदि दैवात् मुरा के हृदय में नन्द वध की बात न बैठ गई होती। मुरा ही नन्द वध करवा पाती है, चाणक्य नहीं (३–४)। चाणक्य चन्द्रगुप्त को उपदेश देता है, समझाता है, परामर्श देता है, अनेक भय-प्रलोभन दिखाता है किन्तु नन्द से युद्ध करने के लिए चन्द्रगुप्त प्रस्तुत नहीं होता है। चाणक्य हताश है। मुरा ही चन्द्रगुप्त को युद्ध क्षेत्र में भेज पाती है (२-५)। वास्तव में यदि मुरा नाटक में न होती तो चाणक्य असफलता के गर्त में गिर कर कराहता दिखाई देता। विजयोत्सव बन्द करने वाले चाणक्य को चन्द्रगुप्त बन्दी बनाने का आदेश दे देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रायसाहब के चन्द्रगुप्त नाटक के चाणक्य और चन्द्रगुप्त मुद्राराक्षस से नितान्त भिन्न हैं। एक और बड़ा भारी अन्तर किया है राय बाबू ने चाणक्य के चित्रण में। मुद्रा राक्षस का चाणक्य पाषाण प्रतिमा है जिसमें हृदय नहीं है, केवल बुद्धि है। वह बुद्धि के रक्त-मांस से बना है, बुद्धि के मैदान में खेलता है, बुद्धि के सहारे बढ़ता है और केवल बुद्धि को साथ ले कर सोता जागता है। इसी का विरोध कराते हुए रायसाहब अपने नाटक में चाणक्य से कहलाते हैं—बुद्धि, बुद्धि, बुद्धि सुनते सुनते बहरा हो गया हूँ। राह, घाट-बाट संसार भर में एक यही बात सुन पड़ती है कि चाणक्य की कैसी बुद्धि है (५-२) चन्द्रगुप्त नाटक में चाणक्य बड़ा बुद्धिमान है किन्तु साथ ही उसकी छाती में मानवी हृदय भी छिपा है। उसकी स्त्री थी जिसे वह प्यार करता था, वह एक लड़की को छोड़ कर मर गई। अब उसने अपने हृदय का सारा स्नेह-जल अपनी पुत्री पर बरसा दिया। किन्तु हाय रे दैव! उसे डाकू उठा ले गए। इस बालिका के स्नेह में उसका हृदय रोता था, आहें भरता था और व्यग्र होता था। एक लड़की का कण्ठ स्वर अपनी लड़की जैसा सुनकर वह तड़प उठता है। जब वह जान पाता है कि यह लड़की उसी की है तो उसके हृदय और नेत्र का बांध टूट पड़ता है एवं उसके साथ रहने के लिए वह मंत्रित्व पर भी लात मार देता है। मुद्राराक्षस के चाणक्य के समान वह रक्त पात कराता अवश्य है किन्तु वह बड़ा दुःखी है और पश्चाताप करता है। वह बारम्बार अपने को दुत्कारता है, धिक्कारता है और गाली देता है। नाटककार ने वर्ण भेद के आधार पर नाटक की रचना की है। आरम्भ से अन्त तक भावुकता सजी सजाई बैठी है जो दर्शक या पाठक को झकझोर देती है। रायबाबू ने राष्ट्र प्रेम से विश्वबन्धुत्व को अधिक श्रेष्ठता दी है। इस विश्वबन्धुत्व का प्रतिनिधित्व करती है हेलेन।

हरिनारायण आप्टे कृत मराठी उपन्यास चाणक्य और चन्द्रगुप्त का स्वर देश-प्रेम से झंकृत है। आपटे जी का चाणक्य देशोद्धार और देश सुधार के लिए ही अपना प्रदेश गांधार छोड़ कर मगध जाता है जहाँ वह नन्द के द्वारा अपमान प्राप्त करता है। आप्टे जी का चाणक्य देश प्रेमी है। श्री कन्हैया लाल माणिक लाल मुंशी ने अपने गुजराती उपन्यास "भगवान्" कौटिल्य में चाणक्य को बहुत उदात्तता दी है

वह महान् व्यक्ति है। उसके पास एक प्रेमी हृदय भी है जिसे वह शकटार की कन्या गौरी को दिए है। ये दोनों उपन्यास हैं। नाटक के क्षेत्र में प्रसाद जी ने चाणक्य-चन्द्रगुप्त को लेकर अपना नाटक "चन्द्रगुप्त" लिखा जो अत्यंत सरस, सुन्दर और प्रौढ़ है। प्रसाद जी ने इस नाटक में अपने से पूर्व के साहित्य का भरपूर उपयोग किया है, नवीन शोधों का लाभ भी उठाया है और अपनी कल्पना की कूची से नए तेज रंग भी जी भर कर भरे हैं। इस नाटक के आरंभ की भूमिका स्पष्टतया बताती है कि प्रसाद जी ने नवीन शोधों का गंभीर अध्ययन किया है और अपने से पूर्व निर्मित मुद्रा राक्षस एवं राय कृत चंद्रगुप्त नाटकों से पूरी सहायता ली है।

मुद्रा राक्षस का प्रभाव आरम्भ से अंत तक देखा जा सकता है। उनके प्रधान पात्र चंद्रगुप्त, चाणक्य, नंद, राक्षस वे ही नाम हैं जो मुद्राराक्षस में मिलते हैं। इन पात्रों के साथ मुद्राराक्षस के अनेक प्रसंग भी इस नाटक में आगए हैं। राक्षस को लीजिए। इस नाटक में भी चाणक्य, राक्षस की मुद्रा पाता है (३–२) और इस मुद्रा की सहायता से एक पत्र लिखवाकर नंद के पास भेजता है। जब नंद राक्षस को वह पत्र और मुद्रा दिखाता है तो मुद्राराक्षस नाटक के राक्षस की नाईं वह सिर नीचा कर मौन हो जाता है (३–७ एवं ३–८)। राक्षस, चाणक्य और चंद्रगुप्त में विरोध उपजाने का जाल रचता है (४–२)। मुद्रा राक्षस के राक्षस की भाँति यहाँ भी चाणक्य से परास्त हो जाने पर राक्षस चाणक्य की प्रशंसा करता है (३–१)। चाणक्य अपना मंत्री पद राक्षस को दे देता है (४–१३)। मुद्रा राक्षस में गुप्तचरों का जाल फैला है जो वेश बदल कर अपना काम साधते हैं। यह जासूसी वातावरण प्रसाद जी के नाटक में भी कम मात्रा में नहीं है। यहाँ तो चाणक्य और चंद्रगुप्त तक छद्म वेश में स्थान-स्थान पर कार्यरत दिखाई पड़ते हैं। प्रसाद जी के चंद्रगुप्त में मुद्राराक्षस का क्षपणकी वेश भी विद्यमान है (२–५)। प्रसाद जी ने मुद्राराक्षस के आधार पर ही चाणक्य द्वारा विजयोत्सव रुकवाया है (४–२) परिणाम स्वरूप चाणक्य और चंद्रगुप्त में विरोध खड़ा हो जाता है और चाणक्य क्रुद्ध होकर चला जाता है। चाणक्य के चले जाने पर चंद्रगुप्त कुछ दुर्बलता का अनुभव करता है (४–२)। यह सब मुद्राराक्षस की छाया है।

प्रसाद जी के नाटक चंद्रगुप्त पर रायबाबू के चंद्रगुप्त नाटक का प्रभाव, मुद्राराक्षस से भी अधिक है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद जी का नाटक रायबाबू के चंद्रगुप्त नाटक की प्रेरणा से ही निर्मित हुआ है। प्रसाद जी के नाटक में वही कथानक है जो रायबाबू के चंद्रगुप्त में है। प्रसाद जी पर दोषारोपण किया जाता है कि प्रसाद जी ने चंद्रगुप्त में देश और काल की सीमा का अत्यंत उल्लंघन किया है। उनका नाटक समस्त उत्तरी भारत में दौड़ा फिरता है और २०–२५ वर्ष का समय

साथ में बांधे घूमता है किन्तु यह दोष रायसाहब के चंद्रगुप्त का अनुकरण करने के कारण आया है। प्रसाद जी ने रायबाबू के चंद्रगुप्त की दीर्घ कथा को अविकल अपनी शैली में समेटने का प्रयास किया है। साथ ही अपनी ओर से भी बहुत कुछ बीच-बीच में कहा है। फलतः कथानक ने अत्यंत विस्तार पा लिया है। प्रसाद जी ने कथा ही नहीं, रायबाबू के अधिकांश पात्रों को भी अपनाया है, कुछ में थोड़ा परिवर्तन भी किया है। रायबाबू और प्रसाद जी दोनों के चाणक्य में स्नेही हृदय वर्तमान है। अंतर इतना है कि रायबाबू का चाणक्य अपनी पुत्री के प्रति ममतामय है तो प्रसाद जी का चाणक्य शकटार की पुत्री सुवासिनी के प्रति प्रेम के उद्‌गार इधर-उधर प्रकट कर देता है। रायसाहब का कात्यायन प्रसाद जी में वररुचि बन जाता है और दोनों नाटकों में यह पात्र पाणिनी को मुख में रक्खे फिरता है। रायबाबू की हेलेन ने प्रसाद जी के चंद्रगुप्त में कार्नेलिया नाम रख लिया है। दोनों में कई समानताएँ हैं। दोनों युद्ध की मारकाट का विरोध करती हैं, दोनों भारत के वातावरण से बहुत प्रभावित हैं, दोनों संस्कृत पढ़ती हैं, दोनों अपने पिता सिल्यूकस को बहुत प्यार करती हैं और लड़कर उससे क्षमा मांगती हैं। दोनों एक यूनानी प्रणयी को दुत्कारती हैं और चन्द्रगुप्त की ओर स्नेह भरी दृष्टि से देखती हैं। अन्तर यह है कि रायसाहब की हेलेन विश्व-बंधुत्व का सिद्धान्त मानती है जिसके लिए वह अपनी आहुति देने में भी नहीं हिचकती। उधर प्रसाद जी की कार्नेलिया में भारत-प्रेम भरा है और भारतीय वीर युवक चन्द्रगुप्त की प्रेमिका एवं प्रणयिनी बन कर वह अन्तर्जातीय विवाह सहर्ष स्वीकार करती है। रायबाबू का ऐण्टीगोनस प्रसाद जी के नाटक में फिलिप्स नाम धर लेता है। राय साहब के नाटक के अनुसार प्रसाद जी ने भी चन्द्रगुप्त को यूनानी शिविर में युद्ध कौशल सीखने भेजा है। ऐसा यूनानी इतिहासकारों की साक्षी के कारण हुआ है। रायबाबू के नाटक की नाईं प्रसाद जी के चाणक्य और चन्द्रगुप्त वेश बदल कर सिकन्दर की सेना को हतोत्साह बनाते हैं (२-८)। रायसाहब के समान प्रसादजी का चाणक्य भी अपने राजनीतिक कार्यों की निंदा करता है और इन कुटिल कार्यों को ब्राह्मण वृत्ति से दूर का बताता है (४-५-एवं ४-१३)। प्रसादजी ने अपने चाणक्य में हरिनारायण आप्टे के चाणक्य का राष्ट्र स्नेह भरा है और साथ ही श्री के० एम० मुन्शी के चाणक्य की उदात्तता और महानता भी अपने चाणक्य को दी है। मुंशीजी के उपन्यास में चाणक्य शकटार कन्या का प्रणयी है, प्रसादजी का चाणक्य भी।

प्रसादजी का चंद्रगुप्त अत्यन्त प्रौढ़ नाटक है। प्रसादजी के नाटकों में इस नाटक का अत्यन्त ऊँचा स्थान है और हिन्दी साहित्य का यह एक उज्ज्वल नक्षत्र है। प्रसादजी प्रथम कवि हैं बाद में नाटककार। परिणामतः उनका चन्द्रगुप्त काव्य गुणों से ओत-प्रोत है। इसका आदर्श बहुत ऊँचा है। यह काव्य, गद्य और पद्य के दोनों क्षेत्रों में

बिखरा पड़ा है। हिन्दी संसार में इसका मान अपने काव्यगुणों के कारण अधिक है, अपनी नाट्य कला के कारण नहीं। इसके पढ़ने और सुनने में आनंद मिलता है, भावोद्रेक होता है। प्रसादजी ने अपने नाटकों का निर्माण विशेषतया पढ़ने के लिए ही किया था। तभी तो वे नाटकों के दो विभाजन करते हैं—अभिनेय और पठनीय। अभिनेय की दृष्टि से देखा जाय तो ध्रुवस्वामिनी को छोड़ कर उनके अन्य नाटक सहजतया अभिनेय नहीं हैं। चंद्रगुप्त के सम्बंध में भी यही कहा जायगा कि इसका अभिनेय अत्यंत कठिन है। अभिनय का विचार करते समय चंद्रगुप्त नाटक की अनेक वस्तुएँ बाधक बन कर सामने आ खड़ी होती हैं। इसका कथानक सुरसा के मुख की नाईं फैला हुआ है। इसमें ४४ दृश्य (११+१०+९+१४) हैं। यदि प्रत्येक दृश्य औसतन १० मिनट ले तो अभिनय में ७½ घंटे का समय लगेगा। दृश्य परिवर्तन की तैयारी भी कुछ और समय लेगी। कुछ दृश्यों की वस्तु योजना ऐसी है कि रंगमंच पर उनका लाना सामान्यतया संभव नहीं है, चित्रपटों की सहायता से भले ही उनको संगाव्य बनाया जाय। प्रसादजी ने अपने नाटकों को चित्रपट से जोड़ने का कोई संकेत नहीं दिया है, न प्रसादजी ने ऐसी कल्पना ही की थी क्योंकि चित्रपटों का प्रचार उनके युग में न था। अंक दो के दसवें दृश्य में मालव दुर्ग के भीतरी भाग में अलका धनुष संधाने बैठी है। दुर्ग प्राचीर से यवन सैनिक एक-एक करके ऊपर चढ़ते हैं। अलका एक-एक करके उन्हें धराशायी बनाती जाती है। सिकंदर कूद कर आता है और वह अलका को पकड़ने का प्रयास करता है। तभी सिंहरण आ जाता है। सिकंदर और सिंहरण में युद्ध होता है। उसी समय मालव सैनिक और यवन सैनिक वहाँ पहुँच कर आपस में गुथ जाते हैं। यह रंगसज्जा सरल नहीं है। पात्रों की बड़ी भारी भीड़ एकत्र हो जाती है। युद्ध भी होता है। इसी प्रकार का दृश्य है तीसरे अंक का तीसरा दृश्य। रावी में बेड़े तैयार हैं। उन पर सिकंदर और उसके अनुचर सैनिक चढ़ते हैं। कम से कम ये १०-१२ पात्र तो होंगे ही क्योंकि नाटककार चार का नाम देकर इत्यादि लिख देता है। रावी तट पर भी १०-१२ व्यक्ति खड़े हैं जो सिकन्दर को अंतिम विदाई देने आए हैं। नाटककार पाँच व्यक्तियों (चंद्रगुप्त, सिंहरण, अलका, मालविका, आंभीक) का नाम देकर आगे "इत्यादि" लिख देता है। भारतीय [illegible] बजाने वाले अपना कौशल दिखा रहे हैं। ये बाजे वाले भी पाँच छः होंगे ही। क्या यह सब अभिनेय है? रावी के युद्ध पोत कैसे रंग मंच पर आयेंगे। फिर बीस पचीस पात्रों की भीड़। यह दृश्य कथावस्तु की दृष्टि से भी अनावश्यक है। नाटककार बड़ी सरलता से इसे सूच्य बना सकता था। एक तीसरा उदाहरण लीजिए। अंक तीन के नवें दृश्य में नाटक के प्रायः सभी पात्रों की भारी भीड़ लग जाती है। राक्षस, सुवासिनी, [illegible], [illegible], [illegible], मौर्य, मौर्य पत्नी, कल्याणी, चाणक्य, पर्वतेश्वर तो [illegible] ही हैं, बहुत से प्रतिहार भी शस्त्र संभाले हैं। अनेक प्रजा जन आते हैं और प्रतिहारों से उनका युद्ध होता है। प्रजा जन भी २०-२५

तो दिखाने ही पड़ेंगे। प्रतिहारों की संख्या इससे अधिक होनी चाहिए। प्रतिहारों और प्रजाजनों में युद्ध हो ही रहा था कि चन्द्रगुप्त के सैनिक आते हैं और वे प्रतिहारों को लड़ कर परास्त करते हैं। यह राज-सभा का दृश्य है। मंच पर ५०-६० व्यक्तियों की भीड़ एकत्र करना अभिनय की दृष्टि से कभी भी उचित न माना जायगा। नाटककार ने दृश्य परिवर्तन करते समय इस बात की सुविधा मंच-प्रबन्धकों को नहीं दी है कि वे दो दृश्यों की सज्जा के मध्य कुछ समय पालें। प्रथम अंक का प्रथम दृश्य एक मठ में अभिनीत है तो उसके बाद वाला एक राजकीय उद्यान में खेला जाता है। तीसरे दृश्य में एक टूटी झोंपड़ी है। प्रथम अंक के तीसरे दृश्य में युद्ध क्षेत्र बनाना है तो चौथे में उद्यान और पाँचवें में बन्दी गृह। इसी अंक के आठवें दृश्य में नदी का तट दिखाया जाता है तो नवें में युद्ध शिविर और दसवें में दुर्ग का भीतरी भाग। इससे स्पष्ट है कि प्रसाद जी चन्द्रगुप्त की रचना शिक्षित व्यक्तियों के पठनार्थ ही कर रहे थे।

अभिनेय न होने से क्या चन्द्रगुप्त को नाटक कहना अनुचित है? नाटक तो यह है ही। ब्रजभाषा के पद्यात्मक नाटक भी नाटक ही कहलाते हैं। फिर यह तो नाटक कहा ही जायगा। किन्तु वास्तविक अर्थों में नाटक वही है जो अभिनेय हो। आज जो हिन्दी में अभिनेय नाटकों का समूह खड़ा है और हिन्दी के पास अपना रंगमंच नहीं है, इसका कारण प्रसादजी का यही दृष्टिकोण है कि अभिनय से रहित नाटक भी नाटक है। भारतेन्दु जी ने अभिनेय नाटक देने का प्रयास किया था। वे रंगमंच के बीज भी डाल रहे थे। उनकी असामयिक मृत्यु ने हिन्दी नाटक क्षेत्र को बड़ा आघात पहुँचाया। प्रसादजी ने आकर रंगमंच से दूर रहने वाले नाटकों को भी नाटक मान कर भारतेन्दु जी के प्रयास को रोक दिया। प्रसाद जी के हाथों में नाटक केवल साहित्य की शोभा बढ़ाने वाला हो गया और उसका रंगमंच से सम्बन्ध छूट गया। दूसरी ओर पारसी शैली के नाटक अपना जादू जनता पर डालते रहे और दर्शक उन पर टूट रहे थे। वैसे भारतेन्दुजी ने भी एक भूलकर दी थी जिससे हिन्दी का रंगमंच न बन सका। भारतेन्दु जी ने पारसी नाटकों एवं इन्द्र सभा नाटकों को भ्रष्ट नाटक कहा और साहित्यिक नाटकों को उन नाटकों से दूर हटाना चाहा। उन्होंने काव्य मिश्रित नाटकों को उत्तम बताया। यहीं से दो धाराएँ बन जाती हैं। एक जन नाटकों की और दूसरी साहित्यिक नाटकों की। एक ही समय में दो महापुरुष जन्मे, जिनके नाम हैं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और किर्लोस्कर। दोनों को पारसी शैली का शकुन्तला नाटक देखकर अत्यन्त दुःख हुआ। दोनों ने व्रत किया कि इस दशा में सुधार करेंगे। भारतेन्दु जी ने उसका विरोध किया और साहित्यिक नाटकों को अलग से सिंहासन पर बिठाया। दूसरी ओर किर्लोस्कर ने पारसी शैली और साहित्यिकता का समन्वय कर अपने नाटक लिखे जिनमें पारसी शैली को ग्रहण किया और साहित्यिकता भी [illegible]। फल यह हुआ कि मराठी रंगमंच उन्नत होता गया। भारतेन्दु जी का प्रयास उनके साथ विदा हो गया। उसको

धक्का दिया प्रसादजी ने और नाटक को एकांत तपस्वी बना कर भव्य प्रासाद में बन्द कर दिया। यदि प्रसादजी ने रंगमंच को बिल्कुल हेय मान कर दिशा को बदला न होता तो हिन्दी नाटक बड़ा समृद्ध बन जाता।

अभिनय का ध्यान तो प्रसाद जी ने नहीं रक्खा किन्तु नाटक को साहित्यिक बनाने में कोई कसर नहीं रक्खी। नाटक पढ़ने में वैसा ही आनंद आता है, रस मिलता है और साहित्यिक सौन्दर्य की गुत्थियाँ सुलझाने में वैसा ही प्रयास करना पड़ता है जैसा कि काव्य के अनुशीलन में। प्रसादजी के नाटक दृश्य काव्य के अमर प्रहरी बन कर हमारी काव्यात्मक वृत्ति को संतुष्ट करते हैं। हम उनके भाषा सौन्दर्य से मुग्ध होते हैं, उनके अलंकरण से अभिभूत होते हैं, उनकी काव्य कल्पनाओं को सराहते हैं और गद्य काव्य के सागर में डूब कर मुक्ता प्राप्त करने में सफल होते हैं। इन नाटकों पर हमें गर्व है। इन नाटकों में भी चन्द्रगुप्त का स्थान बहुत ऊँचा है। इसकी अपनी विशेषताएँ हैं। (१) चन्द्रगुप्त की भाषा संस्कृत गर्भित होते हुए भी अत्यन्त सरस और ललित है। प्रसाद के नाटकों का गौरव उनकी काव्यात्मक भाषा ही तो है। चंद्रगुप्त की भाषा आदर्श है। यदि कहीं प्रसादजी ने मुहावरों को अछूत न माना होता तो प्रसादजी सोने में सुगंध भर गये होते। सरसता के साथ चंद्रगुप्त की भाषा में अत्यंत सुघढ़ता और प्रौढ़ता है। न इसमें अजातशत्रु की क्लिष्टता है और न स्कन्दगुप्त की दुरूह दार्शनिकता। (२) चंद्रगुप्त नाटक का सबसे प्रधान गुण है इसकी राष्ट्रीयता। आरम्भ से अंत तक यह स्वर मुखरित है और पढ़ने वाले पर अमिट प्रभाव डालता है। राष्ट्रीय गीतों और संवादों के पीछे प्रसाद जी का हृदय बोलता है। भारतीय पात्र ही नहीं, विदेशी कार्नेलिया तक, भारतीयता से ओत-प्रोत है। राष्ट्रीयता के कारण ही चंद्रगुप्त को अत्यन्त अधिक मान प्राप्त हुआ है। (३) चंद्रगुप्त नाटक के गीत भी अत्यंत रमणीय और काव्यात्मक हैं। कई गीत तो स्थायी स्थान पा गए हैं। गीतात्मकता की लहरी गद्य में भी व्याप्त है और गद्यात्मक कथन भी गद्य-काव्य बन गए हैं। (४) पश्चिमी नाट्य सिद्धान्तानुसार वही नाटक उत्तम स्वीकार किया जाता है जो संघर्ष सम्पन्न हो। प्रसाद जी के सभी नाटकों में संघर्ष भरा है। चंद्रगुप्त के अतिरिक्त अन्य नाटकों में भारतीय जातियों या प्रदेशों में संघर्ष चित्रित है किन्तु चंद्रगुप्त में भारतीयों और विदेशियों का युद्ध होता है और उसमें भारतीय विजयी बनते हैं। (५) प्रसाद जी के नाटकों में नारियाँ दो वर्ग की हैं। एक वर्ग में वे स्त्रियाँ हैं जो उदात्त और महान हैं और दूसरे वर्ग में आती हैं, स्वार्थमय तथा शक्ति सम्पन्न नारियां। प्रथम वर्ग के उदाहरण हैं—राज्य श्री, पद्मावती, वासवी, मल्लिका, देवसेना, देवकी, कमला। दूसरे वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं—सुरमा, शक्तिमती, छलना, श्यामा, अनंतदेवी, विजया। चंद्रगुप्त में आकर प्रसाद जी की नारीभावना में मोड़ लिया है और अब वे नारियों में उदात्तता ही देखने लगे हैं।

फलतः चंद्रगुप्त की सभी नारियाँ उदात्त हैं, यहाँ तक कि सुवासिनी भी। आगे ध्रुवस्वामिनी में भी प्रसाद जी ने नारी के प्रति यही दृष्टिकोण अपनाया है। (६) चंद्रगुप्त के अनेक विचार और भाव अत्यन्त मार्मिक हैं और गहरे अनुभव से भरे हैं। कुछ उदाहरण—

'आत्म सम्मान के लिए मर मिटना ही दिव्य जीवन है।'

'अतीत सुखों के लिए सोच क्यों, अनागत भविष्य के लिए भय क्यों और वर्त्तमान को मैं अपने अनुकूल बना ही लूँगा।'

'बौद्ध धर्म की शिक्षा मानव व्यवहार के लिये पूर्ण नहीं हो सकती, भले ही वह संघ विहार में रहने वालों के लिए उपयुक्त हो।'

'राजनीति महलों में नहीं रहती।'

'ब्राह्मण के कोमल हृदय में कर्त्तव्य के लिये प्रलय की आँधी चला देने की भी कठोरता है।'

'ब्राह्मणत्व एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि वैभव है। वह अपनी रक्षा के लिए, पुष्टि के लिए, और सेवा के लिए वर्णों का संघटन कर लेगा।'

'राज सत्ता सुव्यवस्था से बढ़े तो बढ़ सकती है केवल विजयों से नहीं।'

'अवसर पर एक क्षण का विलम्ब असफलता का प्रवर्तक हो जाता है।'

'समझदारी आने पर यौवन चला जाता है, जब तक माला गूँथी जाती है, तब तक फूल कुम्हला जाते हैं।'

'सफलता का एक ही क्षण होता है।'

'व्यक्तिगत स्वतंत्रता वहीं तक दी जा सकती है, जहाँ दूसरों की स्वतंत्रता में बाधा न पड़े।'

'विजयों की सीमा है परन्तु अभिलाषाओं की नहीं।'

'जीवन एक प्रश्न है और मरण है उसका अटल उत्तर।'

'राज्य किसी का नहीं, सुशासन का है।'

'मनुष्य साधारण धर्मा पशु है, विचारशील होने से मनुष्य होता है और निस्वार्थ कर्म करने से वही देवता भी हो सकता है।

'चाणक्य यह नहीं मानता कि कुछ असंभव है।'

'मेघ के समान मुक्त वर्षा सा जीवनदान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना—नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना, यही तो ब्राह्मण का आदर्श है।'

'महत्त्वाकांक्षा के दाँव पर मनुष्यता सदैव हारी है'

ये उक्तियाँ जीवन के गहराअनुभव, प्रौढ़ चिन्तन विचार एवं काव्य सौन्दर्य से भरी हैं।

प्रसाद जी के चंद्रगुप्त के बाद हिन्दी में चन्द्रगुप्त चाणक्य को लेकर अनेक कृतियाँ उपजीं। चार उपन्यास और तीन नाटक बने। श्री रणवीर जी वीर के 'महामंत्री चाणक्य' में चाणक्य को प्रधानता दी गई है। यहाँ चाणक्य मुद्राराक्षस के समान कूटनीति कुशल है, रायसाहब के चाणक्य का हृदय रखता है और प्रसाद जी के चाणक्य का राष्ट्र प्रेम लिए है। डा० सत्यकेतु विद्यालंकार के ऐतिहासिक उपन्यास 'आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य' का चाणक्य भी राष्ट्रभक्त है। इस उपन्यास में चाणक्य का व्यक्तिगत अपमान नहीं होता वरन् राष्ट्र नायक की अप्रतिष्ठा होती है। इस चाणक्य के पास मुद्राराक्षस से अधिक बड़ा गुप्तचरों का जाल है। श्री रघुवीरशरण मित्र के ऐतिहासिक उपन्यास 'आग और पानी' में भी चाणक्य ही नायक है। यह उपन्यास चाणक्य संबंधी सभी उपन्यासों में अशक्त उपन्यास है। प्रसाद जी की सुवासिनी के साथ मुंशी जी की गौरी—दोनों का समावेश इसमें किया गया है। इन उपन्यासों में चंद्रगुप्त को महत्व नहीं मिला है, न चंद्रगुप्त इनमें नायक है। मिश्रद्वय के चंद्रगुप्त नामक ऐतिहासिक उपन्यास में चंद्रगुप्त नायक है। किन्तु यह, उपन्यास न होकर इतिहास बन गया है।

नाटक के क्षेत्र में तीन नाटक प्राप्त होते हैं, सेठ गोविन्ददास का 'शशिगुप्त' जनार्दन राय नागर का 'आचार्य चाणक्य' और रामवृक्ष बेनीपुरी का 'विजेता'। सेठ गोविन्ददास का नाटक 'शशिगुप्त' बिल्कुल प्रसादजी के नाटक चन्द्रगुप्त के अनुकरण पर ही निर्मित हुआ है। प्रधान पात्र एवं उनके कार्य वे ही हैं जो प्रसादजी के चन्द्रगुप्त के हैं। कथासूत्र भी वही है। सेठ जी ने चन्द्रगुप्त का नाम शशिगुप्त कर दिया है। पर्वतेश्वर का नाम शशिगुप्त में पर्वतक है। हाँ, सेठजी ने प्रसादजी की कार्नेलिया के कार्य एवं विचार तो अपनाए पर नाम अपनाया है रायसाहब की हेलेन का। शेष पात्र, आंभीक, नंद, राक्षस, सिकन्दर, सिल्यूकस प्रसादजी के ही हैं। पात्रों का चरित्र वही है जो प्रसादजी के चन्द्रगुप्त में चित्रित है। अन्तर यह है कि भाषा सरल और सुबोध है परन्तु प्रसाद का भाषा-प्रसाद नहीं है। शशिगुप्त मगध सम्राट बनने तक शशिगुप्त है बाद में चन्द्रगुप्त। ऐसा क्यों किया गया है, इसका कारण भूमिका में बताया गया है। मौर्य कहलाने का कारण सेठजी ने दिया है कि चन्द्रगुप्त मोर नामक पर्वत का निवासी था। इस तर्क का आधार भूमिका में दिया गया है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त दोनों पंजाब वासी थे, चाणक्य तक्षशिला का निवासी था और चन्द्रगुप्त सिंधु और कुमार नदियों के मध्य, मोर नामक पर्वत का।

श्री जनार्दन राय नागर का नाटक आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य भी प्रसादजी

का अनुकरण मात्र है, उसमें कोई नवीनता नहीं। पात्र भी प्रायः वे ही सब हैं और घटनाएं भी। सिल्यूकस की पुत्री कार्नेलिया 'आचार्य विष्णु गुप्त चाणक्य' में कार्नेलिया ही है किन्तु बीच-बीच में उसका नाम हेलेन भी दे दिया गया है यह रायसाहब के चन्द्रगुप्त का प्रभाव है। आरंभ से अन्त तक कथा सूत्र और उसका प्रवाह वही है जो प्रसादजी का है। भिन्नता बहुत ही अल्प है। प्रसादजी में गांधार राज का पुत्र आंभीक है। यहाँ गांधार का राजा आंभीक है। प्रसादजी के चन्द्रगुप्त में गांधार राज कन्या अलका है जिसका पाणिग्रहण पर्वतेश्वर अस्वीकृत कर देता है। यहाँ पर्वतेश्वर की पुत्री रजनीगंधा के विवाह का प्रस्ताव गांधार राज आंभीक करता है और पर्वतेश्वर इस प्रस्ताव को ठुकरा देते हैं। पात्र और कथा प्रसंगों के ऐसे छोटे-मोटे और महत्त्वहीन अन्तरों को छोड़कर आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य, प्रसाद के चन्द्रगुप्त का नवीन संस्करण ही है जो अपनी महत्ता को खो बैठता है। नागर साहब ने प्रसादजी के पात्र और प्रसंग ही नहीं लिए वाक्य भी उठाए हैं जो अपने परिवर्तित रूप में गौरव और तेज हीन हो बैठे हैं। कुछ उदाहरण—

चन्द्रगुप्त—'अतीत सुखों के लिए सोच क्यों, अनागत भविष्य के लिए भय क्यों और वर्तमान को मैं अपने अनुकूल बना ही लूँगा।'

आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य—अतीत पर अपना वश नहीं, भविष्य पर है।

चन्द्रगुप्त—गुरुकुल में केवल आचार्य की आज्ञा शिरोधार्य होती है।

आ० वि० चा०—विद्यापीठों के कर्त्तव्य और उनकी मर्यादा उनके कुलपति निश्चित करते हैं।

चन्द्रगुप्त—बौद्ध धर्म की शिक्षा मानव व्यवहार के लिए पूर्ण नहीं हो सकती, भले ही वह संघविहार में रहने वालों के लिए उपयुक्त हो।

आ० वि० चाणक्य—चन्द्रगुप्त, तेरा स्थान संघाराम नहीं, रणभूमि है।

कहीं-कहीं तो अन्तर लाने का प्रयास हास्यास्पद हो गया है। अंक एक के दूसरे दृश्य में तक्षशिला के ब्रह्मचारीगण, सिंहरण के प्रणय को लेकर उसी प्रकार के विचार और भाव व्यक्त करते हैं जैसे कि आजकल के दिलफेंक युवक। ये ब्रह्मचारी यहाँ तक कह बैठे हैं कि "घायल हम हो गए।" यह देशकाल दोष ही नहीं तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालय के गौरव पर आघात है।

श्री रामवृक्षबेनीपुरी जी ने अपने लघुरूपक 'विजेता' में अवश्य एक नवीन दृष्टिकोण अपनाया है। इस नाटक का नायक चन्द्रगुप्त है। नाटककार ने अपने से पूर्व के सभी नाटकों और उपन्यासों के प्रति विद्रोह करके ही इस नाटक का निर्माण किया है। बेनी पुरी जी ने इस नाटक में चन्द्रगुप्त को चाणक्य की लौह शृंखला से सर्वथा मुक्त किया है और चन्द्रगुप्त को चाणक्य से श्रेष्ठ और ऊँचा बनाया है। हाँ,

ऐसा करने में महामहिमा चाणक्य बुरी तरह से गिर गया है। पहिले तीन दृश्यों में चाणक्य ऊपर उठा हुआ दिखाई पड़ता है किन्तु चौथे दृश्य में वह सहसा नीचे गिर जाता है। चन्द्रगुप्त आमरण अनशन की भूख हड़ताल अपना कर बैठ जाता है। वह ६० दिन निराहार रह कर प्राण त्याग करेगा। चाणक्य उसे विरत करना चाहता है किन्तु असफल होता है। तब वह चन्द्रगुप्त के पुत्र को सिंहासन पर बिठाता है। नाटक के चार दृश्यों में चन्द्रगुप्त की चारों अवस्थाओं—कुमार, युवा, प्रौढ़ और बूढ़ा अवस्था के चार चित्र प्राप्त होते हैं। प्रसाद और राय साहब की कथा संक्षेप में यहाँ उपस्थित है। चाणक्य ही बालक चन्द्रगुप्त को शिक्षा दीक्षा देकर मगध सम्राट् बनाता है। यह अकेला नाटक है जहाँ चाणक्य पराजित दिखाया गया है। यह अभिनेय एकांकी है।

फलतः प्रसाद जी के चन्द्रगुप्त का प्रभाव बाद के सभी हिन्दी उपन्यासकारों एवं नाटककारों ने ग्रहण किया है किन्तु कोई भी प्रसाद जी तक नहीं पहुँच पाया है।

हिन्दी का एकांकी साहित्य

एकांकी का शाब्दिक अर्थ है, एक अंक वाला नाटक। संस्कृत में ५ रूपक (भाण, व्यायोग, वीथी, अंक, प्रहसन) एवं १० उपरूपक (गोष्ठी, रासक, काव्य, उल्लास नाट्यरासक, प्रेंखण, श्रीगदित, भाणिका, हल्लीश, विलासिका) एक अंक वाले नाटक हैं। किन्तु हिन्दी एकांकी की परम्परा का आरम्भ इन एक अंक वाले संस्कृत रूपक उपरूपकों से नहीं जुड़ती। हिन्दी एकांकी, कहानी और उपन्यास की भाँति पश्चिम की देन है।

एकांकी का आरम्भ १८८४—भारतेन्दु काल अपने नाटक और निबन्ध साहित्य के लिए अमर है। हिन्दी एकांकी का आरम्भ भी भारतेन्दु काल से ही हुआ था। एकांकी के आरम्भ के विषय में मतभेद है। कुछ आलोचक एकांकी का आरम्भ भारतेन्दु जी से मानते हैं,[1] तो कुछ प्रसादजी से;[2] और कुछ आगे बढ़कर इसके आरम्भ का श्रेय डा० रामकुमार वर्मा को देते हैं।[3] भारतेन्दुकाल में बहुत बड़ी संख्या में छोटे नाटक या लघु रूपक लिखे गये थे। आलोचकों ने इन सबकी गणना एकांकी के अन्तर्गत करली है। भारतेन्दु जी का "विषस्य विषमौषधम्" नामक नाटक संस्कृत नाट्य शास्त्र के अनुसार लिखा हुआ भाण है। इसे भी एकांकी बनाया गया है।[4] भारतेन्दु जी के भी छोटे नाटकों—नील देवी, भारत-दुर्दशा, अंधेर नगरी, प्रेमयोगिनी (अपूर्ण नाटक)—को एकांकी मान लिया गया है। १५ दृश्य वाले नाटक अमरसिंह राठौर,[5] अव्यवस्थित कथानक वाले कलि कौतुक रूपक[6] प्राचीन संस्कृत शैली को अपना कर लिखा गया भारी भरकम नाटक दमयन्ती स्वयंवर,[7] संस्कृत के अनुवाद धनंजय विजय

---

१ डा० सत्येन्द्र: हिन्दी एकांकी, पृ० ११ पर। डा० रामचरण महेन्द्र: हिन्दी एकांकी और एकांकीकार, पृ० ५० पर। प्रो० रामयतनसिंह एकांकी कला, पृ० १८२ पर। डा० दशरथ ओझा: हिन्दी नाटक:उद्भव और विकास, पृ० ४८५ पर।

२ डा० नगेन्द्र—आधुनिक हिन्दी नाटक पृ० १२३ पर।

३ श्री रामनाथ सुमन—चारुमित्रा की भूमिका पृ० ८ पर। श्री योगेन्द्र शर्मा—आठ एकांकी की भूमिका, पृ० २० पर।

४ डा० सत्येन्द्र : हिन्दी एकांकी।

५ डा० महेन्द्र कृत : एकांकी और एकांकीकार, पृ० ४६।

६ डा० सत्येन्द्र कृत. हिन्दी एकांकी, पृ० २०।

७ डा० महेन्द्र कृत : एकांकी और एकांकीकार, पृ० ४८।

को एकांकी बना दिया गया है। और भी जो छोटे-बड़े नाटक इस युग में लिखे गए जैसे, महाराणा प्रताप, महारानी पद्मिनी, प्रह्लाद चरित्र, उषाहरण, रुक्मणी परिणय— उन सभी को एकांकी की संज्ञा दे दी गई। चार पाँच घन्टे में अभिनीत होने वाले रणधीर प्रेम मोहिनी को भी एकांकी बताया गया। परिणाम है कि इस बात पर सन्देह खड़ा हो जाता है कि भारतेन्दु काल में एकांकी लिखे भी गये या नहीं।

भारतेन्दु काल में लिखे सभी छोटे नाटक एकांकी नहीं हैं। एकांकी के प्रधान लक्षण हैं—

१. संक्षेप का ध्यान—कथा संक्षेप, पात्र संक्षेप, शब्द संक्षेप हो।

२. जीवन के एक रूप, एक घटना, एक परिस्थिति या एक समस्या का चित्र हो।

३. कथा के तीन अंश होते हैं—आरम्भ, विकास और सीमा। सीमा पर एकांकी का अन्त हो जाना चाहिए।

४. तीन ऐक्यों—कार्य ऐक्य, स्थल ऐक्य, समय ऐक्य—में से कार्य ऐक्य तो अवश्य मिलना चाहिए। यदि दो या तीन ऐक्य मिलें तो वह एकांकी और अधिक उत्तम माना जायगा।

५. एकांकी के प्राण हैं संवाद। संवादों में मार्मिकता एवं वास्तविकता भरी जानी चाहिए।

६. एकांकी में रंग संकेत विस्तार से दिये जाते हैं।

७. एकांकी, कहानी की भांति अपने में पूर्ण होता है।

८. उत्तम एकांकी में संघर्ष और व्यंग्य भी होते हैं।

यदि इन लक्षणों की कसौटी पर कस कर देखें तो काशीनाथ खत्री के १८८४ में लिखे दो एकांकी—'गुन्नौर की रानी' और 'सिन्धु देश की राजकुमारियाँ' बड़े उत्तम एकांकी सिद्ध होते हैं। इन दोनों में भी गुन्नौर की रानी को प्रथम स्थान मिलेगा। गुन्नौर की रानी में केवल एक मुख्य कथा है। कथानक संघर्षपूर्ण है। दो-तीन स्थानों पर अन्तःसंघर्ष भी है। नाटक का अन्त चरम सीमा पर हो जाता है। यह एकांकी दुखान्त है। तीन-चार पात्र हैं। रंग संकेत आधुनिक ढंग के हैं। तीनों ऐक्य प्राप्त होते हैं। दो छोटे-छोटे दृश्य (जिन्हें अंक कहा गया है) प्राप्त होते हैं। खत्रीजी का दूसरा एकांकी सिन्धु देश की राजकुमारियों में स्थल और समय ऐक्य का अभाव है। हाँ, कार्य ऐक्य उपस्थित है। शेष सभी लक्षण प्राप्त होते हैं।

भारतेन्दु काल के एकांकी और भी हैं परन्तु वे इन दोनों की श्रेष्ठता को नहीं पहुँचते। अन्य हैं देवकीनन्दन त्रिपाठी का 'एक एक के तीन तीन', काशीनाथ

खत्री कृत ग्राम पाठशाला, निकृष्ट नौकरी और लवजी का स्वप्न। इस प्रकार हिन्दी के प्रथम एकांकीकार सिद्ध होते हैं, काशीनाथ खत्री।

दूसरा मोड़ १९२९ में—हिन्दी एकांकी को दूसरा मोड़ प्रसाद जी के एकांकी 'एक घूँट' द्वारा मिला। प्रायः सभी आलोचक इसे आधुनिक एकांकी मानते हैं। डा० नगेन्द्र इसमें 'एकांकी की पूरी टेकनीक' का निर्वाह देखते हैं। डा० सत्येन्द्र ने इसमें एकांकी की सभी विशेषताएं देखी हैं। यह एकांकी भारतेन्दुकाल की शृङ्खला से जुड़ा है। एक ओर इसमें सुखान्त प्रवृत्ति और संस्कृत नाटकों की एक स्थलीय प्रेम-क्रीड़ा स्पष्ट है तो दूसरी ओर विवाह एवं प्रेम समस्या, तीनों ऐक्य, विचारों की आधुनिकता, विचार संघर्ष एवं आधुनिक संकेत भरे पड़े हैं। भाषा, काव्यात्मक शैली और दार्शनिक प्रवृत्ति के रूपों में प्रसाद का व्यक्तित्व भरा है। इस एकांकी ने हिन्दी एकांकी शृङ्खला को अग्रसर किया है। १९३५ ई० में भुवनेश्वर का 'कारवां' एक अत्यन्त पुष्ट एकांकी निकला। डा० रामकुमार वर्मा का एकांकी संग्रह 'पृथ्वीराज की आँखें', जो १९३५ व ३७ के बीच का है, हिन्दी एकांकी का एक महत्वपूर्ण आगे बढ़ा हुआ कदम है।

१९३८ में हिन्दी एकांकी ने एक और बल पाया। हंस में चंद्रगुप्त विद्यालंकार का एक लेख प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने एकांकी को कहानी का एक छोटा-सा संस्करण माना। उपेन्द्रनाथ अश्क और श्रीपतराय ने इसका मुँहतोड़ उत्तर दिया और एकांकी की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की। एकांकी अब चौकड़ियाँ भरने लगा और आज हिन्दी का एकांकी साहित्य बड़ा समृद्ध हो गया है। सामाजिक, राजनीतिक, पारिवारिक, समस्या मूलक, ऐतिहासिक, व्यंग्यात्मक, रोमांटिक, मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक एकांकी प्रचुर मात्रा में बन चुके हैं। भिन्न-भिन्न शैली के एकांकी भी देखने में आए हैं। एक पात्र एकांकी, रेडियो रूपक, काव्य रूपक, भाव नाट्य, गीत रूपक, उपक्रम और उपसंहार वाले एकांकी, गद्य-पद्य-मिश्रित एकांकी इत्यादि अनेक रूपों में एकांकी ने अपने को संवारा है। वैसे तो एकांकीकारों की संख्या बहुत बड़ी है किन्तु कुछ ने इस दिशा में विशेष ख्याति प्राप्त की है।

आधुनिक एकांकीकार—डा० रामकुमार वर्मा के लगभग साठ एकांकी प्रकाशित हो चुके हैं। डा० वर्मा के अधिकांश एकांकी ऐतिहासिक हैं। आपने इसी दिशा को प्रौढ़ता दी है। आपके एकांकियों की प्रधान विशेषता है, कौतूहलपूर्ण कथानक। एकांकी में कौतूहल का निर्वाह जरा टेढ़ी खीर है परन्तु आपने उसका निर्वाह बड़ी सफलता से किया है। सेठ गोविन्ददास के भी लगभग ४५ एकांकी देखने में आये हैं। इनमें सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, राजनैतिक, प्रहसनात्मक सभी प्रकार के हैं। परन्तु एकांकी के क्षेत्र

में आपकी विशेष देन है—एक पात्र एकांकी (उदाहरण—प्रलय और सृष्टि, अलबेला, शाप और वर) एवं उपक्रम व उपसंहार सम्पन्न एकांकी। पं० उदयशंकर भट्ट के लिखे एकांकियों की संख्या भी बहुत बड़ी है। आपने ३० से अधिक एकांकी, ८ रूपक, और ३ भाव नाट्य लिखे हैं। एकांकियों में सामाजिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, पारिवारिक—सभी प्रकार के हैं। किन्तु आपकी विशेष देन है, भाव नाट्य (उदा० विश्वामित्र, मत्स्य गंधा, राधा)। आपके रेडियो-रूपक बहुत ही जनप्रिय हुए हैं। एकांकी के क्षेत्र में विष्णुप्रभाकर का नाम प्रसिद्ध है। आपके लगभग १०० एकांकी हैं। सामाजिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक, व्यंग्यात्मक, ऐतिहासिक, पौराणिक, प्रचारात्मक, रेडियो रूपक, बाल एकांकी, समस्या एकांकी—सभी दिशाओं में आपने अपनी गति दिखाई है। आपके एकांकियों की विशेषता है कि वे मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि पर खड़े हैं और मानवतावादी दृष्टिकोण दिखाते हैं। भुवनेश्वरप्रसाद ने पश्चिमी शिल्प विधान एवं पश्चिमी प्रभाव को भरपूर ग्रहण किया है। आप पर इब्सन एवं शॉ का प्रभाव रंग संकेतों के रूप में भी देखा जा सकता है। आपने सामाजिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक एवं व्यंग्यात्मक एकांकी लिखे हैं। मनोवैज्ञानिक एकांकियों में यौन-सिद्धान्त भी देखा जा सकता है। उपेन्द्रनाथ अश्क ने अपने एकांकियों में विविध शैलियाँ अपनाई हैं। आपने अपने एकांकियों में मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि भरपूर भरी है। ३५ से अधिक आपके एकांकी देखने में आये हैं। राजनीतिक, सामाजिक, व्यंग्यात्मक, सांकेतिक, प्रहसनात्मक, मनोवैज्ञानिक, रेडियो रूपक—सभी प्रकार के एकांकियों को आपने सजाया है। जगदीशचन्द्र माथुर के एकांकियों की विशेषता है, उनकी अभिनेयता। एकांकियों में गहरा व्यंग्य भरा है। आपके 'भोर के तारे' ने अधिक प्रसिद्धि पाई है। सामाजिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक, समस्या मूलक, व्यंग्यात्मक एकांकियों में से आपके सामाजिक एकांकियों ने अधिक आदर पाया है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने समस्या-मूलक एकांकियों के क्षेत्र को प्रधानतया अपनाया है जिनमें बुद्धिवाद की अधिकता दिखलाई पड़ती है। पं० सद्गुरुशरण अवस्थी ने लगभग १५ पौराणिक एवं सांस्कृतिक एकांकियों द्वारा हिन्दी एकांकी साहित्य को भरा है। आपने अपने एकांकियों में प्राचीनता की नवीन व्याख्या दी है। गणेशप्रसाद द्विवेदी के लगभग दो दर्जन एकांकी देखने में आये हैं। आपके एकांकियों में मनोविश्लेषण की प्रधानता है। पश्चिमी शिल्पविधान में सामाजिक व्यंग्य को उभारा गया है। केवल पुरुष ही नहीं स्त्रियों ने भी इस क्षेत्र में तेज कदम बढ़ाया है। श्रीमती विमला लूथरा, श्रीमती रत्नकुमारी, श्रीमती हीरादेवी चतुर्वेदी, श्रीमती शचीरानी गुर्टू, श्रीमती दमयन्तीबाई ने भी बहुत से एकांकी दिये हैं।

रेडियो रूपक एक विशेष दिशा है जिसमें हिन्दी एकांकी ने बड़ी तीव्रता से छलांगें भरी हैं। उपरोक्त एकांकीकारों के अतिरिक्त प्रभाकर माचवे, जगन्नाथ नलिन, हरिश्चन्द्र खन्ना, विन्ध्याचलप्रसाद गुप्त, अमृतलाल नागर, प्रफुल्लचन्द्र ओझा, चिरंजीत, रामवृक्ष बेनीपुरी, विश्वम्भर मानव, रामचन्द्र तिवारी, गिरिजाकुमार माथुर, देवीदयाल चतुर्वेदी मस्त, हंसकुमार तिवारी इत्यादि ने अनेक रेडियो रूपक दिये हैं। इन रूपककारों ने एकांकी भी लिखे हैं। प्रहसनात्मक एकांकी का भी एक अलग क्षेत्र बनता जा रहा है।

इस प्रकार हिन्दी एकांकी का भविष्य उज्ज्वल है।

कथा घाट

हिन्दी का उपन्यास साहित्य

संस्कृत साहित्य में 'कादम्बरी' एक प्रसिद्ध उपाख्यान पुस्तक है। इसे जी चाहे तो आत्मतुष्टि के लिए उपन्यास कहलें किन्तु वास्तव में यह उपन्यास है नहीं। 'दशकुमार चरित' तो एक विस्तृत साधारण कथा मात्र है। उसकी अपेक्षा 'कादम्बरी' उपन्यास नाम के अधिक निकट है। 'कादम्बरी' को छोड़ स्वयं संस्कृत में 'कादम्बरी' जैसी दूसरी पुस्तक नहीं है। अनेक प्रतिभाशाली साहित्य-निर्माताओं ने नाटक-निर्माण पर हस्तकौशल दिखाया। किन्तु, दुःख है, गद्य की अद्भुत प्रगति होने पर भी किसी ने उपन्यास या उपन्यास जैसी वस्तु, संस्कृत संसार को न दी। अतः हिन्दी में 'उपन्यास' का अवतार पूर्व प्रचलित संस्कृत परम्परा से नहीं हुआ। संस्कृत नाटकों से प्रेरणा पाकर हिन्दी में उनके आधार अथवा संकेत पर नाटक लिखे गये। किन्तु उपन्यास के विषय में वैसा नहीं कहा जा सकता। 'कहा निचोरे नग्न जल स्नान सरोवर कीन'। जब स्वयं संस्कृत मां का आंचल 'उपन्यास' से रिक्त था, तो वह हिन्दी सुपुत्री को कहाँ से दान करती? अतः जो संस्कृत साहित्य से हिन्दी उपन्यासों की परम्परा जोड़ते हैं, संस्कृत उपन्यास 'कादम्बरी' के प्रांगण में हिन्दी उपन्यास के विरवे को लगाते हैं, उनके इस साहस को महासाहस ही कहना पड़ेगा।

वास्तव में हिन्दी उपन्यास का जन्म पश्चिमी गोद में हुआ। अंग्रेजी के उपन्यासों तथा बंगला के उपन्यास सहोदरों को देख हिन्दी में भी ऐसी वस्तु लाने की इच्छा हिन्दी प्रेमियों को हुई। पं० रामचंद्र शुक्ल ने किशोरी लाल गोस्वामी जी को हिन्दी का प्रथम उपन्यासकार स्वीकार किया है। उधर पदुमलाल पन्ना लाल बख्शी 'कुछ' नामक पुस्तक में इस पद पर 'खत्री' जी को आसीन करना चाहते हैं। दोनों के उपन्यास निकट समय में ही प्रकाशित हुए। किन्तु किशोरी लाल गोस्वामी का उपन्यास दो वर्ष पूर्व (१८८६) में जनता के सामने आगया था। यहाँ एक प्रश्न स्वभावतः उठता है कि भारतेन्दु जी ने, जिन्होंने हिन्दी की सर्वतोमुखी उन्नति में सहयोग दिया, हिन्दी मां के चरणों में धन के साथ-साथ कविता, आलोचना, नाटक, निबन्ध एवं पत्र पत्रिकाएँ अर्पित कीं, उपन्यास से क्यों मां को वञ्चित रक्खा?

भारतेन्दु जी का ध्यान उपन्यास की ओर भी गया था। भारतेन्दु जी ने अमृतसर निवासी संतोष सिंह को लिखा था 'ऐसे भाषा में अब कुछ नाटक बन गये हैं अब तक

उपन्यास नहीं बने हैं। आप या हमारे पत्र के योग्य सम्पादक जैसे बा० काशीनाथ व गो० राधाचरण जी कोई भी उपन्यास लिखें तो उत्तम हो। — भारतेन्दु-युग, पृष्ठ १३२

हिन्दी के उन्नायक भारतेंदु बा० हरिश्चंद्रजी ने स्वयं भी उपन्यास लिखने का प्रयत्न किया। किन्तु 'विधि गति बाम सदा सब काहू'। हिंदी के भाग्य में यह सुख न था। उनका उपन्यास अपूर्ण रह गया। या तो उन्होंने स्वयं प्रयत्न त्याग दिया अथवा काल ने छुड़ा दिया। भारतेन्दु युग में कुछ उपन्यास, परीक्षा गुरु (ले० श्री निवासदास), श्यामा स्वप्न (ले० ठा० जगमोहनसिंह), आश्चर्य वृत्तान्त (ले० अम्बिकादत्त व्यास), सौ अजान एक सुजान (ले० बालकृष्ण भट्ट), निःसहाय हिन्दू (ले० राधाकृष्ण) निर्मित हुए। किन्तु निस्सन्देह ये सब उपन्यास की साहित्यिक संज्ञा योग्य नहीं। इनमें परीक्षा गुरु अवश्य दूसरों से बढ़कर है। नहीं तो ये सभी उपदेश वृत्ति अथवा चमत्कार प्रदर्शन के लिए लिखे गए साधारण ग्रन्थ हैं।

पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने छोटे-बड़े ६५ उपन्यास लिखे। पं० रामचन्द्र शुक्ल गोस्वामी जी के विषय में लिखते हैं 'साहित्य की दृष्टि से हिन्दी का पहला उपन्यासकार कहना चाहिए''। और लोगों ने भी उपन्यास लिखे पर वे वास्तव में उपन्यासकार न थे। और चीजें लिखते-लिखते वे उपन्यास की ओर भी जा पड़ते थे। पर गोस्वामी जी वहीं घर करके बैठ गए।'' गोस्वामी जी के उपन्यास शृङ्गार-भावना से तरंगित हैं। पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों की नाईं वे भी जनता को 'इश्कबाजी' का गरमागरम मसाला देना चाहते थे। उनके उपन्यासों के शीर्षक ही प्रकट करते हैं कि बिहारी की भाँति कृष्ण को छोड़ राधिका उनके उद्देश्य-क्षेत्र में है। कुछ नाम ये हैं:—

चपला या नव्य समाज चित्र, तारा, रज़िया बेगम, मल्लिका देवी या बंग सरोजिनी, **लीलावती** वा आदर्श सती, राजकुमारी, स्वर्गीय कुसुम वा **कुसुमकुमारी**, तरुण तपस्विनी वा कुटीर वासिनी, **हृदयहारिणी** वा आदर्शरमणी, **लवंगलता** या आदर्श बाला, कनक-कुसुम या कुसुम या मस्ताना, प्रेममयी, गुलबहार, इन्दुमती या बनविहंगिनी, लावण्यमयी, प्रणयिनी-परिणय, चन्द्रावली वा कुलटा, कुतूहल, हीराबाई या बेहयाई का बुरका।

नामों को सार्थक करने वाली घटनाएँ ही नहीं हैं वरन् गोस्वामी जी ने अपने उपन्यासों के परिच्छेदों का नामकरण भी शृङ्गार-भावना के अनुकूल किया है। 'मदन-मोहिनी' में परिच्छेदों के नाम इस प्रकार हैं— अंकुर, पल्लव, शाखा, पुष्प, सुरभि, पराग, फल, मधु, आस्वादन, परितृप्ति। काम-शास्त्र या कोकशास्त्र के ज्ञाता इन नामों के अर्थ भी समझ जाएँगे। महाराणा अमरसिंह की पुत्री, प्रातः स्मरणीय वीराग्रणी प्रसिद्ध देशभक्त प्रताप की पोती 'इश्कबाज़ी' के खेल खेलती फिरती है। वह हुस्न के बाज़ार में लुटती और लूटती दिखाई पड़ती है। वह एक स्थान पर कहती है—

"जनाब शाहज़ादा साहब ! अगर नाज़नियाँ नाजो नखरे या हरजाई जाहिर न करें तो फिर आशिकों के सच्चे इश्क का जौहर क्योंकर मालूम हो।"

उपन्यासों में नाजों नखरों से इश्क की परीक्षा की गई है। गोस्वामीजी के उपन्यासों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाँति पात्रों के अनुसार भाषा बदलती है। मुसलमान ही उर्दू नहीं बोलते; मुसलमानों से वार्त्तालाप करने वाले हिन्दू पात्र भी उर्दू का रंग चढ़ाकर हिन्दी बोलते हैं। आगे प्रेमचन्द जी ने भी इस परम्परा को ग्रहण किया। इन उपन्यासों में चरित्र-चित्रण का प्रयास नहीं है। कविवर भारतेन्दु जी के समान इस उपन्यासकार ने भी भक्ति एवं रीतिकाल का सम्मिश्रण किया है। शृङ्गार के साथ-साथ आदर्श के उपदेश का बहुत ध्यान रक्खा है। प्रत्येक उपन्यास में पर्वताकार उच्चादर्श आ खड़ा होगा एवं उपदेश अवश्य दिया जाएगा। आगे प्रेमचन्द जी ने भी आदर्श का ध्यान बराबर रखा है, किन्तु प्रेमचन्द जी ने गुप्त रूप से यथार्थ की नींव पर आदर्श-अट्टालिका खड़ी की है जो चारों ओर प्रकाश की तीव्र किरणें फेंकती है। जहाँ आदर्श गुप्त रूप से अपने आप चुपके से आ खड़ा हो, वहाँ कला की उत्तमता है, किन्तु जहाँ उपदेश देने की प्रवृत्ति मुँह बाए आ खड़ी हो, वहाँ कला का वास्तविक रूप न रहेगा। गोस्वामी जी ने आदर्श के सामने कोई पर्दा नहीं रखा है।

इसी समय उपन्यास-संसार में श्री देवकीनन्दन खत्री ने चंद्रकांता ४ भाग एवं चंद्रकांता संतति २४ भाग द्वारा विशेष आकर्षण उपजाया। यह समय ही ऐसा था कि हिन्दी में उपन्यास के पाठक बनाये जाते थे और खत्री जी ने समयोचित चीजें दीं। न सही उनमें चरित्र-विकास, न सही फड़कते वाक्य और सजीव वार्त्तालाप, न सही द्वन्द्वात्मक भावों का संघर्ष; पर उनमें एक नई बात है, एक बड़ी विशेषता है, वह है कथानक की मनोरञ्जकता। बस हाथ में लेने की देर है कि आप खाना-पीना, सोना-पढ़ना सब भूल जाएँगे। ऐसा शृङ्खलाबद्ध, मनोरञ्जक तथा साथ ही इतना विशाल कथाक्षेत्र अन्य कोई भी उपन्यासकार नहीं दे सका है, हिन्दी ही में नहीं, अन्य अनेक आधुनिक भाषाओं में भी। अनन्य अहिन्दी उपन्यास प्रेमियों ने खत्रीजी की 'चंद्रकांता एवं संतति' के आकर्षक एवं अध्ययन के लिये हिन्दी सीखी। यदि प्रसिद्धि के विचार से किसी लेखक का स्थान निर्धारित किया जाये तो तुलसीदास के बाद सबसे अधिक पाठक खत्री जी के ही पाये जाएँगे। डा० श्रीकृष्णलाल के शब्दों में 'चंद्रकांता' हिन्दी का प्रथम साहित्यिक उपन्यास है। खत्री जी के भूल भुलय्या जैसे मस्तिष्क की प्रशंसा अवश्य ही करनी पड़ेगी। कहते हैं उनका मस्तिष्क था भी ऐसा ही। रास्ता चलते एक स्थान पर बैठकर आगे की कथा लिखकर सिर पर खड़े छापेखाने के नौकर को दे दिया करते थे। चंद्रकांता एवं संतति तिलस्म और ऐय्यारों के उपन्यास हैं

जो हमारे जीवन से दूर पृथ्वी के गर्भ में अथवा कल्पना की सीढ़ियों पर उतरते चढ़ते चलते हैं।

इस तिलस्मी वातावरण का मानवीकरण कर गोपालराम जी गहमरी हमारे सामने आये। खत्री जी के ऐयार यहाँ गुप्तचर बन गए, जिनको 'जासूस' कहा गया है। तिलस्मों का स्थान चक्करदार मकान या दूकानें ले लेती हैं। अन्यथा कौतूहल-वर्द्धक घटनाएँ यहाँ भी हैं, और भूल-भुलय्या का वातावरण भी है। यह बात अवश्य है, गहमरी जी, खत्री जी की अपेक्षा वास्तविक जीवन के अधिक निकट आ गए हैं। 'लखलखा' सुंघाने वाला भूतनाथ हमारे संसार में नहीं, पर रहस्यमयी मृत्यु का पता लगाने वाला हाड़ मांस का पुतला जासूस हमारे मध्य का है। इंगलैण्ड में फिलिप, शरलाक, होम्स, एडगर वैलेस इत्यादि कई प्रसिद्ध जासूसी उपन्यासकार हो गये हैं। वहाँ ब्लेक सिरीज, सिक्सपेंस सिरीज, फोर पेंस सिरीज जैसी कम मूल्य की जासूसी पुस्तकें धड़ाधड़ निकलीं। उसी प्रकार गहमरी जी हमारे हिन्दी के जासूसी उपन्यासकारों में श्रेष्ठतम हैं जिनका पत्र 'जासूस' एवं जिनकी रोमांचकारी पुस्तकें खूब बिकीं। ये उपन्यास भी घटना प्रधान थे। चरित्र विकास की ओर इनमें भी ध्यान न था। जैसे गाँव में रात्रि के समय एक बूढ़ा ८ बजे से ११ बजे तक घुमावदार कहानी 'अनार रानी' या 'विक्रम का तख्त' सुनाता है, उससे अधिक परिष्कृत रूप में खत्री जी तथा गहमरी जी के उपन्यास बने। किन्तु थे वे विस्तार प्राप्त आख्यान ही, गाँव की लम्बी कहानियों ही जैसे।

हिंदू समाज पर तरस खाकर लज्जाराम मेहता ने कुछ उपन्यास लिखे। श्री मेहताजी सफल सम्पादक थे पर आपने उपन्यास क्षेत्र में भी टांग अड़ाई, कुछ बटेर बटार के ऊँघे-सूखे बीज बोए। फल लगे धूर्तरसिक लाल, हिन्दू गृहस्थ, आदर्श दम्पति, बिगड़े का सुधार, आदर्श हिंदू। पता नहीं इनके द्वारा मेहताजी कितना सुधार कर सके, या किसे आदर्श हिंदू बना सके किंतु उपन्यास साहित्य का न कुछ सुधार हुआ, न कोई उपन्यास का आदर्श ही खड़ा हुआ। वास्तव में मेहता जी में न उपन्यास लिखने की प्रतिभा थी, न शक्ति। बंगला उपन्यास तथा उस भाषा से अनूदित ग्रंथों की चकाचौंध में आकर बा० ब्रजनंदनसहाय ने कुछ भाव प्रधान उपन्यास रचे। सौन्दर्योपासक, राधाकांत, राजेन्द्रमालती आदि उनके कुछ उपन्यास हैं। 'मुलम्मा' तो मुलम्मा ही है। उसी प्रकार अनुकरण कभी-कभी सफल हो पाता है वरन् थोड़ी सी असावधानी से अनुकरण दुगनी हानि पहुँचाता है। पश्चिम के अनुकरण के भ्रामक बवंडर में पड़ बहुत से भारतीय अपनापन भी भूल बैठे थे। ब्रजनंदनसहाय जी के ये उपन्यास भी नितांत असफल हैं। उपन्यास का प्रधान तत्व मनोरंजक कथानक इनमें दिखाई ही नहीं पड़ता। घटनाओं का बड़ा अभाव है। यहाँ तो एक सौन्दर्य प्रेमी

का मन घबड़ाता, चिहुँकता, रोता, कलपता, टीस मारता, तड़पता फिरता है। मन की भावुकता का ही प्रदर्शन है। स्वयं लेखक भी इस बात को जानता था कि मेरे उपन्यास जनता को अच्छे नहीं लगेंगे। सौन्दर्योपासक के उपसंहार में वह लिखता है कि 'जनता का रंजन इससे अधिक न होगा।' फिर लिखा क्यों? उसी भावना से जैसे कई तुक्काड़ आज भी समझते हैं कि हमारी कवितायें तुलसी से अधिक लोक-मंगलकारी और सूर से अधिक लोक रंजक होंगी।

इसके पश्चात् हमारे हिन्दी उपन्यास का स्वर्ण युग आता है। इस भव्य एवं गौरवशाली युग का निर्माता है एक महान् व्यक्ति जिसकी टक्कर का उपन्यासकार अभी तक तो हिंदी मां की कोख से जनमा नहीं, जिसकी यश-भित्ति पर हमारा मान-मन्दिर बन रहा है, जिसके नाम पर हमें गर्व है, जिसके बल पर हमारा मस्तक ऊँचा है। वह है हमारा औपन्यासिक सम्राट स्व० प्रेमचंद जिसके विषय में जैनेन्द्र जी कहते हैं 'प्रेमचन्द जी हिंदी के सबसे बड़े लेखक हैं' "मैं फिर भी प्रेमचन्द जी को हिंदी का नहीं संसार का लेखक मानता हूँ।"

प्रेमचंद जी ने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों से कुछ लिया और परवर्ती औपन्यासिकों को कुछ दिया। बा० देवकीनन्दन के सदृश उन्होंने अपने उपन्यासों को विस्तार दिया, खत्री जी तथा गहमरी जी की नाईं अपने उपन्यासों को घटना-प्रधान बनाकर मनोरंजकता से भरा। पारसी थियेटर नाटकों में दो कहानियाँ समानान्तर चलती थीं, एक गंभीर और एक हास्यरस की। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में भी दो कथाएँ चलती हैं तथा पारसी थियेटर नाटकों के समान इन दोनों कहानियों का सम्बन्ध बहुत क्षीण है। बँगला की सस्ती भावुकता से उन्होंने हिंदी का पीछा अवश्य छुड़ाया, किन्तु चित्रों को कहीं-कहीं भावुकता अवश्य दी और सुन्दर बनाया। किशोरीलाल गोस्वामी के खुले शृङ्गार को तो नहीं अपनाया किंतु प्रत्येक उपन्यास में प्रणय को अवश्य प्रमुखता दी। उनका प्रत्येक उपन्यास एक या अधिक प्रणय गाथाओं से भरा है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पात्रों में स्वाभाविकता लाने के लिए कई भाषाओं का प्रयोग किया था। किशोरी लाल गोस्वामी तथा पारसी थियेटर नाटकों में हिन्दू मुसलमानों की बोली में भिन्नता थी। इस भिन्नता को प्रेमचन्द जी ने स्थिर रखा। उनके मुसलमान पात्र यह भाषा बोलते हैं—"जब मैं हुजूर तशरीफ ले गए, मैंने भी नौकरी को सलाम किया। जिन्दगी शिकम परवरी में गुजरी जाती थी। इरादा हुआ कुछ दिन कौम की खिदमत करूँ। इसी गरज से 'अंजुमन इत्तहाद' खोल रखी है।" (प्रेमाश्रम)

उनका हिन्दू कहता है—"भाई मैं मजहबों का कायल नहीं। मैं चाहता हूँ, हमारा जीवन हमारे सिद्धान्तों के अनुकूल है। आप कुमर्गों के शुभेच्छु हैं।" (गोदान)

उन्होंने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों से जितना लिया उससे अधिक आगे दिया प्रेमचन्द जी का आदर्श सामने रख हिन्दी के सैकड़ों लेखक अच्छे उपन्यासकार बन गए। विश्वम्भरनाथजी शर्मा कौशिक तथा चतुरसेन शास्त्री ने उनकी शैली को अपनाया वृन्दावन लाल वर्मा ने उनकी वर्णन पद्धति को ग्रहण किया। भगवती चरण वर्मा ने उनके समान 'समस्याएँ' सामने रखीं, हाँ, उनके सुलझाने के मार्ग में वे दूसरी ओर गये सुदर्शन जी, अश्क जी, आदि लेखकों ने उनकी भाषा को आदर्श मान लिया। हिन्दी में आदर्श परक उपन्यास अधिक मात्रा में आये। इस क्षेत्र में प्रेमचन्द जी के प्रभाव ने बड़ा काम किया। अनेक नवयुवक उनके उपन्यासों एवं कहानियों को पढ़ कर कुछ लिखने बैठ गये।

प्रेमचन्द जी की अपनी देन हिन्दी को बहुत बड़ी है। उन्होंने अपूर्ण 'मङ्गल सूत्र' सहित १२ उपन्यास दिये। १२ की संख्या खत्री जी या गोस्वामी जी के सामने कुछ नहीं। मात्रा का मूल्य नहीं, मूल्य है उन उपन्यासों की गरिमा का। हिन्दी ही नहीं भारत के वे सबसे पहले उपन्यासकार थे जिन्होंने नागरिक जनता का ध्यान ग्राम्य जीवन की कठिनाइयों की ओर आकर्षित किया। हिन्दी में प्रेमचन्द जी के समय तक धार्मिक तथा सामाजिक उपन्यास बन चुके थे। प्रेमचन्द जी पहिले लेखक थे जिन्होंने राजनीतिक उपन्यास इतनी प्रचुरता से लिखे। उस समय तक कृषकों की दयनीय दशा का कोई चित्रकार न हुआ था। प्रेमचन्द जी ने अपनी सजीव तथा मनमोहक लेखनी से कृषकों की बाह्य तथा आन्तरिक दशा का पूर्ण चित्र उतारा; वे उनकी जीवन सम्बंधी प्रायः सभी समस्याओं को सामने लाए, उन्होंने जमींदार, महाजन एवं राजकर्म-चारी के असह्य अत्याचारों का ढिंढोरा पीटा; पण्डा, पुजारी, उच्चवर्गीय गांव के महा-पुरुष, सामाजिक भटमानी सेवकों का पर्दाफाश किया तथा ग्रामीणों की पारस्परिक, कौटुम्बिक, सामाजिक तथा धार्मिक त्रुटियों की ओर ध्यान खींचा। यही प्रेमचन्द जी की विशेषता है। इसके साथ ही उन्होंने हिंदू समाज की सभी बुराइयों को भी लिया। दहेज, विधवा-विवाह, मूर्ति-पूजा, ऊँच-नीच का भाव, अनमेल विवाह, अन्धविश्वास, परम्परा मोह, कौटुम्बिक कलह, अशिक्षा, आधुनिक शिक्षा, खान-पान में छूत, विप्र-भय, ज्योतिष इत्यादि असंख्य समस्याएँ वे सामने लाए हैं। आज की महाजनी सभ्यता को भी भूले नहीं हैं जिसकी नींव है 'यंत्रीकरण'। गांव के किसान, मजदूर बन किस प्रकार इस यंत्रीकरण से नष्ट भ्रष्ट कर दिए जाते हैं यह रंगभूमि में अच्छी प्रकार प्रदर्शित किया।

प्रेमचंद जी से पूर्व के उपन्यासों में 'नाटकत्व' की मात्रा बहुत कम थी। प्रेमचंद जी ने इस पर विशेष ध्यान दिया। उनके पात्र मनोवैज्ञानिक हैं और हमारे संसार के। प्रेमचन्द जब स्वयं लिखते हैं —"मैं उपन्यास को मानव जीवन का चित्र

मात्र समझता हूँ,” तब उनसे यही आशा थी कि वे हमारे वास्तविक जीवन की पूर्ण झांकियां दिखाएंगे। सौभाग्य से हुआ भी ऐसा ही। प्रेमचन्द जी ने अपने उपन्यासों का विस्तृत, गौरवान्वित एवं आकर्षक भवन यथार्थ की भित्ति पर खड़ा किया। किन्तु यह नग्न यथार्थ न था। कोरा यथार्थ हमारे जीवन के लिए हितकारी नहीं। “अमंगल यथार्थ अग्राह्य है, मंगलमय यथार्थ संग्रहणीय है। यदि वह अपवाद रूप भी हो,” यह प्रेमचन्द जी का दृढ़ सिद्धान्त था। अतः उन्होंने यथार्थवाद में आदर्शवाद का मिश्रण कर उसे मंगलमय बना दिया। उनका यथार्थवाद अंत में एक गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है जहां परम पावन, मंगलकारी सुख-शांति दाता ‘आदर्श’ देव बैठा है। यही है प्रेमचन्द जी का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद। गोदान जैसे यथार्थवादी उपन्यास में भी आदर्शवाद का ऋषि समाज की मंगल कामना से छिप बैठा है। अनेक समालोचकों ने प्रेमचन्द जी की आदर्शवादिता पर आक्षेप किए हैं। कोई उन्हें उपदेशक बताता है, तो कोई प्रचारक कह उनके ऊपर कीचड़ उछालता है। कोई आदर्श-भावना पर कठोर आघात करता है, तो कोई उन्हें ‘भूतकालवासी’ कह खिल्ली उड़ाता है। इन समालोचकों के मत में यदि प्रेमचन्द जी में आदर्श स्थापना की हठ न होती तो बहुत उत्तम होता। श्रीलक्ष्मी सहाय सिन्हा (सा० सन्देश, जुलाई ४८) में प्रेमचन्द के आदर्शवाद पर कुठाराघात करते हुए कहते हैं—“प्रेमचन्द की यथार्थवादिता उनके आदर्शवाद का पोषक बनकर उनकी कला को सजीवता देने में समर्थ रही, इसमें बहुत सन्देह है।” किन्तु यदि प्रेमचन्द में से आदर्शवादिता निकाल दीजिए, प्रेमचन्द न रहेंगे जिस प्रकार तुलसी में से भक्ति और सामाजिक धर्म निकाल देने से कुछ नहीं बचता। प्रेमचन्द की यथार्थवादिता के पीछे छिपी आदर्शवादिता ने ही उन्हें एक विशेष स्थान दिया, जिस प्रकार टाल्सटाय को मिला। प्रेमचन्द, रवीन्द्र तथा टाल्सटाय की श्रेणी के लेखक हैं, शरत् तथा डिकेन्स की कोटि में प्रवेश नहीं करते। यही भारतीयता है और यही है प्रेमचन्दवादिता। प्रेमचन्द ने हिन्दी का मस्तक उन्नत किया। संसार के श्रेष्ठ उपन्यासकारों में उनका स्थान है और हिन्दी के ज्ञान विस्तार के साथ वह पद ऊँचा ही होता जायगा।

प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में उपन्यास कहानियों की बाढ़ सी आ गई। आज सब से अधिक लेखनी की गति उपन्यास कलेवर पर दौड़ रही है। उपन्यासकार बरसाती कृमि के समान बढ़ गए हैं। यह बड़ा शुभ लक्षण है। आज का हिन्दी साहित्यिक, उपन्यास लेखक बनने का लोभ संवरण करने में कठिनता पाता है। प्रसाद ने उपन्यास लिखे। कवि तथा नाटककार उदयशंकर भट्ट ने भी उपन्यास लिखे हैं। कविवर मोहनलाल महतो वियोगी इस दिशा में कई पुस्तकें लिख चुके हैं। नाटककार गोविन्द वल्लभ पंत ने उपन्यासों द्वारा हिंदी मां की सेवा की है। इलाचंद्र जोशी,

सुमित्राकुमारी सिन्हा, निराला जी, भगवती चरण वर्मा, सियारामशरण गुप्त आदि अनेक कवि हैं जो उपन्यास क्षेत्र में भी पग बढ़ा चुके हैं। इससे उपन्यास प्रियता का अनुमान हो सकता।

पर प्रश्न है, आधुनिक युग में उपन्यास-साहित्य का मूल्य क्या है ? उपन्यास प्रगति पथ पर अग्रसर है या नहीं ? क्या प्रेमचन्द जी का स्थान रिक्त ही रहेगा ? हमारा उपन्यास-साहित्य प्रगति पथ पर है इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं। प्रेमचन्द जी के स्थान की पूर्ति करने वाला उपन्यासकार अभी तक तो नहीं दिखाई दिया किन्तु भविष्य उज्ज्वल है। आज अनेक उपन्यासकार आगे बढ़ रहे हैं। आज के उपन्यास युग का सार्थक नाम होगा 'वर्मा युग'। वर्मा बन्धु आज के उपन्यास संसार में सबसे अलग खड़े दीप्ति फैला रहे हैं। वे हैं 'वृंदावनलाल वर्मा', 'भगवती चरण वर्मा'। वृन्दावन लाल वर्मा में चित्रण शक्ति बड़ी प्रबल है। उन्होंने प्रौढ़ ऐतिहासिक रोमाञ्च लिखे हैं। उनके ये ऐतिहासिक रोमांच हिन्दी की एक बड़ी कमी को पूरा कर रहे हैं। साथ ही ये उपन्यास बड़े लोक प्रिय हुए हैं। प्रेमचंद की-सी उच्च वर्णन शक्ति, रोचक कथा एवं उत्तम चरित्र-चित्रण के साथ यदि भाषा की प्रवाहमय प्रबल शक्ति भी साथ होती तो सोने में सुगंध मिल जाती। भगवतीचरण वर्मा ने दूसरा क्षेत्र ग्रहण किया है। ये समस्यामूलक उपन्यास लिख रहे हैं। जीवन की सार्वभौम सामाजिक (पाप-पुण्य) तथा राजनीतिक (गांधीवाद, समाजवाद, साम्यवाद) समस्याओं की अपने ढंग से व्याख्या करके वे चुप हो जाते हैं। हमें आशा है कि शैली की अधिक प्रौढ़ता तथा विचारों की अधिक स्पष्टता के साथ लेखक की ३ वर्ष की भूमिका में की गई आशा ('संसार के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकारों में गणना') पूरी होगी।

शैली की दृष्टि से 'उग्र जी' ने हिंदी जगत में भूकम्प ला दिया था। यदि उग्र जी अंग्रेजी के 'रेनाल्ड' का अनुगमन कर समाज के अश्लील भाग पर दृष्टि न डाल कर 'महात्मा ईसा' तथा 'चिंगारियों' की क्यारियां सजा पाते तो आज सम्भवतः वे हिंदी के श्रेष्ठतम उपन्यासकारों में स्थान पा गए होते। इसी प्रकार श्री चतुरसेन जी शास्त्री ने सुन्दर भाषा में सरल प्रवाह वाले गतिवान मनोरंजक उपन्यास दिए। यदि अधिक संयत हो शास्त्री जी चारित्रिक विशेषताओं को पनपा देते तो बड़ा उपकार होता। जैनेन्द्र जी अपनी अलग-सत्ता रख कर उपन्यास-पाठकों को एक विशेष वस्तु दे रहे हैं। उनके उपन्यासों में कथानक की छटा नहीं है। वे तो 'विश्लेषणात्मक' उपन्यास हैं। मानवीय प्रवृत्ति के विश्लेषण पर उनका ध्यान रहता है। प्रेमचंद जी ने भी जैनेन्द्र जी की इस नूतनता का आदर किया था। हिंदी उपन्यास के एक अंग की पूर्ति जैनेन्द्र जी उद्योग के साथ कर रहे हैं। इसी प्रकार अन्य अनेक उपन्यासकार आज हिंदी मां का आंचल अपने-अपने दृष्टिकोण से भर रहे हैं। उनमें कई उच्च स्थान पर आ विराजे हैं।

प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास की प्रमुख धारायें इन शीर्षकों के अन्तर्गत देखी जा सकती हैं—

(१) सामाजिक यथार्थ का चित्रण करने वाले उपन्यास
(२) मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास
(३) आंचलिक उपन्यास
(४) ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक उपन्यास

सामाजिक यथार्थ की प्रतिष्ठा तो वस्तुतः प्रेमचन्द ने ही हिंदी उपन्यास में करदी थी। पर इधर इस यथार्थ के बृहत्तर आयास हिंदी उपन्यास में दिखाई दिये हैं। यशपाल के दादा कामरेड, देशद्रोही, तथा सद्य प्रकाशित उपन्यास 'झूठा सच' में, अश्क के 'गर्मराख' में, रेणु के 'नई पौध' 'बाबा बटेसरनाथ' 'वरुण के बेटे' में, भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास 'गंगामैया' और 'डैश्री' और 'नया आदमी' में, अमृतराय के 'बीज' में, अमृतलाल नागर के 'महाकाल' में, एवं भगवतीचरण वर्मा के 'भूले बिसरे चित्र' में सामाजिक यथार्थ के बहुविध पक्षों का चित्रण प्राप्त है। इस दिशा में 'भूले बिसरे चित्र' का महत्व सबसे अलग माना जायेगा कि इस एक ही बृहत् उपन्यास में चार-चार पीढ़ियों के यथार्थ का चित्र प्रत्यक्ष हो सका है। राजेन्द्र यादव के उपन्यास 'उखड़े हुए लोग' को भी इसी कोटि में रखा जायगा पर इसकी विशेषता एक अत्यन्त सीमित समय के पीड़ित यथार्थ के अनुभूति चित्रों की सृष्टि के कारण मानी जायेगी। इन सभी उपन्यासों में प्राचीन से विच्छिन्न, नये मनुष्य के अनिश्चित भविष्य एवं साम्प्रतिक संक्रांति के चक्र में पिसे हुए मूल्यों की कथा कही गई है। लक्ष्मीनारायणलाल का उपन्यास 'रूपाजीवा' इधर का सामाजिक प्रश्नों पर आधारित अत्यन्त श्रेष्ठ उपन्यास है।

मनोविश्लेषण की ही भूमि पर श्री जैनेन्द्र, अज्ञेय एवं जोशी के नाम आते हैं। जैनेन्द्र की विशेषता चरित्रों के आंतरिक व्यक्तित्व के रहस्योद्घाटन में है। जो लोग इसे नग्नता का उद्घाटन मानते हैं उन्हें जैनेन्द्र के उपन्यासों को पढ़ने से पहले गांधीवादी दर्शन के सूत्र समझ लेने चाहिए। सुनीता, त्यागपत्र, विवर्त, अनाम और सुखदा में चरित्रों की आंतरिक मनोग्रंथियों का गहन चित्रण है। अज्ञेय ने 'शेखर: एक जीवनी' लिखकर व्यक्तिवादी कथाकार के रूप में प्रवेश किया और 'नदी के द्वीप' लिखकर पहले की आशंकाओं को पुष्ट किया। अत्यन्त सीमित परिवृत्त में व्यक्ति चरित्रों की यौनकुण्ठाओं एवं अतृप्तियों का चित्रण अज्ञेय ने कौशल के साथ किया है। 'नदी के द्वीप' का गद्य अत्यन्त विकसित और अभिजात है। जोशी जी फ्रॉयड के सूत्रों की भूमिका में अपने चरित्र बुनते रहे हैं। संन्यासी, निर्वासित, प्रेत और छाया से सहज ही इसकी पुष्टि होती है। 'सुबह के भूले', 'मुक्तिपथ', एवं 'जहाज का पंछी' में

वे अपना पथ बदलते हुए दिखाई देते हैं और यह शुभ लक्षण है। आज का उपन्यासकार भी मनोविश्लेषण करता है पर फ्रॉयड के एवं अडलर युग के सूत्रों को अलग रख कर।

आंचलिक उपन्यासों की एक नई ही दिशा है--और कहना अप्रासंगिक न होगा, कि यह एक शुभ दिशा है। रेणु के उपन्यास 'मैला आँचल' व 'परतीपरिकथा', रुद्र का 'बहती गंगा', उदयशंकर भट्ट का 'सागर-लहरें और मनुष्य', अमृतलाल नागर का उपन्यास 'बूँद और समुद्र' अंचल विशेष का ही चित्र अपनी समृद्धि, व्यापकता एवं सीमा में चित्रित करते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास की दिशा में श्री वृन्दावनलाल वर्मा के अतिरिक्त राहुल, चतुरसेन शास्त्री एवं रांगेयराघव प्रयत्नशील हैं तथा वैज्ञानिक उपन्यास की दिशा में अकेले चतुरसेन शास्त्री। 'खग्रास' के अर्द्ध राजनीतिक परिवेश में विज्ञान का चमत्कार ही प्रत्यक्ष है।

टेकनीक की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास में कई स्तरों पर प्रयोग की प्रवृत्ति लक्षित होती है। लघु उपन्यास बड़ी संख्या में लिखे जा रहे हैं। भारती का 'सूरज का सातवां घोड़ा', देवराज का 'बाहर भीतर', मार्कण्डेय का 'सेमल के फूल', मानव का 'परंतु' एवं 'एकतारा', लक्ष्मीनारायणलाल का 'काले फूल का पौधा', गिरधर गोपाल का 'चाँदनी के खण्डहर' इस दृष्टि से महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। डायरी शैली एवं पत्रशैली, एवं फ्लैशबैक पद्धति में भी उपन्यास की रचना रुचिपूर्वक हो रही है। अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' में पहली बार इस प्रवृत्ति का निश्चित रूप देखा गया। साथ ही यह भी सत्य है कि कुरुचिपूर्ण, असमर्थ तथा बाजारू उपन्यासों का निर्माण भी भारी संख्या में हुआ है जो हिंदी के गरिमामय पद पर कीचड़ का काम कर रहे हैं।

इतनी आशा तो की ही जा सकती है कि आने वाले दिनों में हिंदी उपन्यास, जीवन एवं जगत के कतिपय अछूते तथा अपूर्व आयामों का स्पर्श करेगा और अधिक उन्नत शिल्प को ग्रहण करते हुए विश्व के श्रेष्ठ उपन्यासों की समकक्षता का दावा कर सकेगा।

सफल ऐतिहासिक उपन्यास

ऐतिहासिक उपन्यास, दो शब्दों के योग से बना है। ये दो शब्द हैं, इतिहास और उपन्यास। सफल ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास और उपन्यास की गरिमा मिलनी चाहिये। फलतः इतिहास और उपन्यास की दृष्टि से ऐतिहासिक उपन्यास में चार गुण प्राप्त होते हैं, दो इतिहास की दृष्टि से और दो उपन्यास की दृष्टि से। ये चार गुण हैं, (१) इतिहास तत्त्व और (२) वातावरण, (३) मनोरंजक कथा और (४) सजीव, स्वाभाविक एवं संपूर्ण चरित्र। पहिले दो इतिहास के क्षेत्र के हैं और दूसरे दो उपन्यास के क्षेत्र के।

(१) इतिहास तत्त्व—ऐतिहासिक उपन्यास, इतिहास तो नहीं है किन्तु उसमें इतिहास तत्त्व अवश्य रहना चाहिये। यदि इतिहास का उल्लंघन कर केवल काल्पनिक उपन्यास ही लिखना है, तो इसका अच्छा क्षेत्र है, सामाजिक, जासूसी या राजनीतिक उपन्यास। ऐसी इच्छा से ऐतिहासिक उपन्यास की ओर कदम न बढ़ाना ही अच्छा है। इतिहास का अतिक्रमण कर उपन्यास लिखे गए हैं और लिखे जा सकते हैं किन्तु उनको इतना मान नहीं मिलता है जितना इतिहास की रक्षा करने वाले उपन्यासों को। यह ठीक है कि हम इतिहास का अध्ययन करने के लिए ऐतिहासिक उपन्यास के पास नहीं जाते हैं परन्तु साथ ही यह भी ठीक है कि केवल उपन्यास का आनन्द उठाने भी हम वहाँ नहीं जाते हैं। हम जाते हैं इतिहास की पृष्ठ भूमि पर खड़े हुए उपन्यास पुरुष के दर्शन करने के लिए। फलतः वहाँ इतिहास तत्त्व रहना ही चाहिए। इतिहास नीरस है। उपन्यास के माध्यम से उसे सरस बना दिया जाता है ताकि साधारण जन उसे आनंद पूर्वक पढ़ सकें। ऐतिहासिक उपन्यासकार उपन्यास के माध्यम से इतिहास को देता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि इतिहास के जंगल को काट तराश कर उद्यान बनाने का अधिकार उसे नहीं है। झाँसी की रानी महारानी लक्ष्मीबाई के इतिहास की ओर सब आकृष्ट न होंगे, केवल इतिहास का अध्ययन करने वाले ही उस गढ़ में प्रवेश करेंगे। किन्तु उपन्यास लिख जाने पर साधारण पाठक भी रस लेता हुआ महारानी लक्ष्मीबाई के जीवन से अनुप्राणित हो जाता है।

इतिहास तत्त्व वही दे सकता है जो इतिहास का गंभीर अध्येता हो। जो इतिहास के घने भाण्डार में कुसुम एवं कंटकों के पीछे छिपे फल को नहीं देख सकता, वह इतिहास का उत्कृष्ट अध्येता नहीं माना जा सकता। ऐतिहासिक उपन्यासकार को

रूपों में इतिहास से मित्रता गाँठता है। (१) वह किसी विषय को सामने रखकर तत्सम्बन्धी ऐतिहासिक सामग्री की खोज में जुट जाता है और सभी संभव साधनों के बल पर उसे प्राप्त करता है। झाँसी की रानी के ऊपर ऐतिहासिक उपन्यास लिखूँ, बा० वृन्दावनलाल वर्मा में कुमारावस्था से ही यह इच्छा जग चुकी थी। वे इस सम्बन्ध में खोज-बीन करते रहे, पुस्तकें, परवाने, पट्टे पढ़ते रहे, इधर-उधर पूछते रहे एवं स्थानों की देख-भाल में लग्न रहे। इसी प्रयास के परिणामस्वरूप उन्होंने 'लक्ष्मीबाई' उपन्यास लिख डाला। (२) एक इतिहास का विद्वान या अध्येता हो। वह अपने अध्ययन एवं अनुसंधान के फलस्वरूप किसी पुरुष, किसी काल या किसी राज्य से बड़ा प्रभावित हो जाय और फलरूप उपन्यास लिख डाले। राखाल बाबू इतिहास के पंडित और शोधकर्त्ता थे। वे पुरातत्त्व विभाग से संम्बद्ध भी थे। उन पर गुप्त काल का बड़ा प्रभाव पड़ा। फलतः उन्होंने उस काल को जिह्वा दी। इतिहास तत्त्व उक्त दोनों ऐतिहासिक उपन्यासकारों में दिखाई पड़ता है। राखाल बाबू को तो भारतीय भाषाओं के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में सर्वोच्च आसन प्राप्त है। उन्होंने अपने उपन्यासों में इतिहास तत्त्व की रक्षा की है और उनके उपन्यास भारतीय गौरव के स्तम्भ हैं।

(२) **वातावरण**—ऐतिहासिक उपन्यास एवं अन्य उपन्यासों में एक बड़ा अन्तर यह भी है कि ऐतिहासिक उपन्यासों में वातावरण को बड़ा प्राधान्य मिलता है जब कि अन्य उपन्यासों में नहीं। वही ऐतिहासिक उपन्यास सफल है जिसमें वातावरण के निर्माण की ओर लेखक का ध्यान रहा हो। ऐतिहासिक उपन्यासकार यह सतत प्रयास करता है कि उसका उपन्यास भूतकाल की भावना दे सके और इसके लिए वह तत्कालीन वातावरण का निर्माण करता है। वातावरण दो रूपों में दिखलाई पड़ता है—(१) तत्कालीन वातावरण एवं (२) सार्वकालिक वातावरण। ऐतिहासिक विवरण ऐतिहासिक नगर, गढ़, गाँव और स्थानों का चित्रण, उस काल की वस्तुओं—पशु-पक्षी, खान-पान, रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार—का वर्णन—तत्कालीन वातावरण के निर्माण में सहायता करते हैं। इस ओर सावधानी न बरतने से देश-काल दोष उत्पन्न हो जाते हैं जो बहुत अखरते हैं। रघुवीरशरण मित्रकृत "आग और पानी" में कौटिल्य और सुवासिनी शतरंज खेलते हैं, अमात्य शकटार टेलीफून से समाचार भेजता है और पुलिस वाले चाणक ब्राह्मण को हथकड़ियाँ लगाते हैं। श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने अपने उपन्यास 'प्रियदर्शी अशोक' में सभासदों के सिरों पर 'तुर्रा' बाँधा है। श्री चतुरसेन जी शास्त्री के 'सोमनाथ' उपन्यास में फौजें 'परेड' करती हैं। ऐसी देशकाल सम्बन्धी भूलों से तत्कालीन वातावरण के निर्माण में बड़ी बाधा पड़ती है। यदि कोई उपन्यासकार चन्द्रगुप्त मौर्य पर उपन्यास लिख रहा हो और वह आज के पटने का चित्रण करदे तो भयंकर देशकाल सम्बन्धी भूल होगी और तत्कालीन वातावरण के निर्माण में बड़ा व्याघात पहुँचेगा।

सार्वकालिक वातावरण के अन्तर्गत हैं प्रातः, मध्याह्न, संध्या, रात्रि, दिन, ऋतुएँ, सरिता, पर्वत, वन, भूकंप इत्यादि का वर्णन। इन वस्तुओं का रूप सदा एकसा और ताजा रहता है। उषा की लाली जो वेदकाल में थी आज भी है। बादल की गरज जो यक्ष ने सुनी थी आज भी सुनी जा सकती है। वाल्मीकि के राम ने जिस वर्षा को देखा था, वह आज भी आती है और अपने साथ पानी, विद्युत्प्रकाश, कीड़े-मकोड़े, धुआँ लाती है। फलतः ऐतिहासिक उपन्यासकार बीच-बीच में ऐसे वर्णन करता चलता है। इनसे भी वातावरण के निर्माण में सहायता मिलती है। इसमें ध्यान रखने की बात यही है कि लेखक प्रकृति का वर्णन करे तो पशु या मानवी जगत को उतना ही सामने लाये जितना आवश्यक है, ऐसा न हो कि वह मानवी या पशु पक्षी जगत की कोई ऐसी बात ले आवे जो देशकाल दोष पैदा करदे। मान लीजिये वह वर्षा का वर्णन कर रहा है। वह काली घटाओं में बगुलों की पंक्तियों को भले ही ले आवे जबकि वह यक्ष को पर्वत पर खड़ा किये है, किन्तु किसी वायुयान द्वारा बम वर्षा न करवा दे। ऐसा न कहदे कि वर्षा के बादलों में पचास वायुयान बगलों की नाईं उड़ रहे थे जिन्हें देखकर यक्ष ने सोचा, मैं भी इसी प्रकार उड़ जाऊँ।

(३) **मनोरंजक कहानी**—ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास तत्त्व भी हो, और वातावरण को उत्पन्न करने वाले नगर, गढ़, सरोवर, प्रातः के वर्णन भी हों, तब भी श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास न होगा यदि उसमें मनोरंजक कहानी न होगी। ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास की पृष्ठ भूमि में जब तक कौतूहल भरी वक्र कथा कूदती उछलती न दौड़गी, तब तक वह उपन्यास सफल न कहलाएगा। जो व्यक्ति उत्तम कहानी नहीं दे सकता है वह इस क्षेत्र की ओर न बढ़े, यही अच्छा है। हम ऐतिहासिक उपन्यास को इतिहास मानकर कभी नहीं पढ़ते, उपन्यास की भावना से ही उसे उठाते हैं। फलतः यदि वहाँ मनोरंजक कहानी न मिली तो लेखक और हमारा दोनों का समय व्यर्थ हुआ। कौन कहानी मनोरंजक है? जो पाठक के कौतूहल को बढ़ाती चले, वही। कौतूहल बढ़ाने का साधन क्या है? यही, कि लेखक पात्रों को तुरन्त हमारे सामने प्रकट न कर दे। उसे चाहिये कि वह कुछ समय तक उन्हें छिपाये रहे। जितनी देर यह छिपा सकेगा, उतनी अधिक उत्सुकता जगेगी। ऐतिहासिक उपन्यासकारों के मध्य राखाल बाबू और के० एम० मुन्शी में यह कला बहुत है। ये दोनों उपन्यासकार अपने पात्रों को पर्याप्त दूर तक पर्दे के पीछे रखते हैं। वैशाली की नगर वधू में भी यह कला है। वृन्दावनलाल वर्मा अपने पात्रों को देर तक नहीं छिपा पाते हैं। इतिहास तो कुछ स्थूल घटनाएँ देता है। उनकी सहायता से एक वक्रता भरी कहानी का निर्माण कर लेना ही ऐतिहासिक उपन्यासकार की कल्पना-कुशलता है। जो उपन्यासकार अपनी कहानी को मरोड़ देकर इतिहास के साँचे में ढाल लेता है, वह ऊँचा उठ जाता है।

(४) **सजीव, स्वाभाविक एवं सम्पूर्ण पात्र**—जिस प्रकार इतिहास कुछ भोंड़ी सी घटनाएँ देता है उसी प्रकार वह कुछ नर-नारियों के नाम और उनके काम देता है। ये नाम हमारे सामने कोई स्पष्ट चित्र अंकित नहीं करते हैं। इतिहासकार तीन नाम देगा—जहाँगीर, शेर अफगन और नूरजहाँ। कुछ सामान्य घटनाएँ जो इन पात्रों के साथ जुड़ी हैं, वे भी वहां बैठी हैं। जहाँगीर ने शेर अफगन को मार डाला और मिहिरुन्निसा से विवाह कर लिया, जिसका नाम विवाह के बाद नूरजहाँ हो गया। इन पात्रों के नाम ही इतिहास में हैं, और कुछ नहीं। न इतिहास के पास उनका आकार और रूप है, न उनका हृदय वहाँ स्पंदित है और न उनकी बुद्धि का प्रकाश वहाँ फैला हुआ है। ये चित्र अस्पष्ट, धुंधले और अपूर्ण हैं। ऐतिहासिक उपन्यासकार इन धुंधले नामों को हृदय-बुद्धि देकर सजीव करता है और उनमें स्वाभाविकता भरकर पूर्ण चित्र खींचता है। मिहिर कैसी प्रसन्नता से शेर अफगन के साथ रहती थी वह उसका चित्र देगा। जहाँगीर के षड्यंत्र को स्पष्ट करेगा, शेर अफगन की वीरता दिखायेगा, मिहिर के दुःख भरे हृदय के पन्ने खोलेगा, जहाँगीर की सेवा और सहानुभूति के चित्र उतारेगा, तब कहीं विवाह करायेगा। वह पौराणिकता के पर्दे को हटाकर मानवी हृदय देखेगा। पौराणिकता का अर्थ है अलौकिकता। पुराणों में अलौकिकता भरी होती है। वहां सब कुछ सम्भव है। जादू भरा वातावरण वहाँ मिलता है। मनुष्य मृग बन सकता है, गिद्ध एक राक्षस से लड़ सकता है, मनुष्य का संकेत सूर्य को छिपा देता है, एक थाली में से दस सहस्र मनुष्य पेट भर सकते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास में इसे स्वाभाविक बनाया जाता है। डा० रांगेय राघव के 'प्रतिदान' का द्रोणाचार्य हमारे जगत का स्वाभाविक मानव है, महाभारत का अलौकिक पुरुष नहीं। ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास की नाईं कोई असाधारण वीर हो सकता है किन्तु अलौकिक नहीं। यहाँ मानवी जगत की स्वाभाविकता उसके पैर पकड़े रहती है। श्री के० एम० मुन्शी के परशुराम असाधारण अवश्य हैं किन्तु अलौकिक नहीं। इन सजीव एवं स्वाभाविक पात्रों के अंकन में ही उपन्यासकार की सफलता है।

इतिहास किसी भी व्यक्ति का पूरा चित्र नहीं देता है। वह इधर-उधर किसी व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध में कुछ कह देता है। इन अधूरी रेखाओं को ग्रहण करके उपन्यासकार व्यक्ति का सम्पूर्ण चित्र बना लेता है। इतिहास ने झांसी की रानी—लक्ष्मीबाई के विषय में कुछ थोड़ा सा कहा जो अत्यन्त अपूर्ण चित्र था। वृन्दावनलाल वर्मा ने अपनी कल्पना से उसमें रंग भरे और अपने ऐतिहासिक उपन्यास 'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' में एक सम्पूर्ण चित्र खींच डाला। अतः ऐतिहासिक उपन्यासकार सजीव, स्वाभाविक एवं सम्पूर्ण चित्र उतार कर यशभित्ति में ईंटे जोड़ता है।

प्रेमाश्रम की प्रधान समस्या

हिंदी का होनहार सपूत 'प्रेमचंद' नाम से प्रथम बार 'सेवा सदन' के साथ हिंदी संसार के सामने आया। 'सेवासदन' एक सामाजिक उपन्यास है। इसमें वेश्या समस्या को उठाया गया है और इस उपन्यास का संबंध नागरिक जीवन से है। किंतु प्रेमचंद की प्रसिद्धि का आधार स्तंभ है उनका ग्रामीण चित्रण। प्रेमचंद जी ने ग्राम्य-जीवन के ऐसे सुन्दर, सरस, वास्तविक और करुण चित्र खींचे कि हिंदी जगत आमोदित हो झूमने लगा। ग्राम्य जीवन की समस्या सबसे पहिले "प्रेमाश्रम" में साकार होकर अवतरित हुई। अब तक प्रेमचंद जी समाज को जिह्वा दान कर रहे थे, 'प्रेमाश्रम' के साथ ये ग्राम्य जीवन की ओर मुड़े और बराबर उधर आगे बढ़ते गए फलतः कहा गया कि 'प्रेमाश्रम' भारत का पहला राजनीतिक उपन्यास है।

गाँव और किसानों की ओर देश का ध्यान खींचने वाले दो व्यक्ति थे, एक महात्मा गांधी जिनका संबंध राजनीति से था, और दूसरे थे प्रेमचंद, जिनका संबंध साहित्य से था। पूज्य बापू ने यह कार्य किया अपने भाषणों, लेखों और राजनीतिक आन्दोलनों द्वारा, उधर यही कार्य बाबू प्रेमचंद ने उपन्यासों द्वारा किया और जनता को बताया कि भारत के प्राण तंतु हैं गाँवों में। महात्मागांधी का स्पष्ट प्रभाव है प्रेमाश्रम पर। प्रेमाश्रम में बाबू प्रेमचंद ने ग्रामीण समस्याओं को सुलझाने का प्रयास, गांधीजी की सुधारवादी एवं आदर्शात्मक प्रणाली पर किया। प्रेमाश्रम, ग्रामीण जीवन को अपने में लपेटे है और जीवन का केन्द्र है 'लखनपुर'। लखनपुर की समस्या ही प्रेमाश्रम की रीढ़ है। उपन्यास का उत्तरार्ध भी जहाँ स्थान का परिवर्तन होता है, ग्रामीण जीवन का आँचल थामे है और लखनपुर से रिश्ता जोड़े हुए है।

इस उपन्यास में ग्राम्य जीवन के अधिकतम रूप समेटे गए हैं जिनमें प्रमुखता मिली है जमींदार के रूप को। ग्राम्य जीवन से संबंध रखने वाले बाद में बने दो उपन्यास और हैं—रंगभूमि और गोदान, वैसे तो गांव से थोड़ा बहुत नाता सभी उपन्यासों में जुड़ा मिलता है। प्रेमाश्रम में कृषक-जमींदार की तत्कालीन वास्तविक स्थिति चित्रित है। जमींदार, किसानों पर ज्यादतियाँ करता है और इस जमींदार के हाथ हैं सरकारी कर्मचारी। रंगभूमि में आगे बढ़कर गाँवों में यंत्रीकरण की समस्या को सँभाला गया है। महात्मा गांधी ने 'हिन्द स्वराज्य', अन्य लेखों एवं भाषणों में यंत्रीकरण का विरोध किया था। प्रेमचन्द जी ने स्पष्ट इस समस्या को रंगभूमि में ला खड़ा किया।

प्रेमचंद जी ने 'सूरदास' के रूप में गांवों में कारखाने खोलने का खुला विरोध किया है। तब भी 'रंगभूमि' में ग्रामीण जीवन का वह विस्तृत और विशाल स्वरूप प्राप्त नहीं होता है जो 'प्रेमाश्रम' में मिलता है। न रंगभूमि में कृषक जीवन की इतनी विविधता है जितनी कि प्रेमाश्रम में है। हां, प्रेमाश्रम के समान गोदान में ग्रामीण जीवन मुखर हुआ है। 'गोदान' प्रेमचन्द जी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना गया है। इसका कारण है कि गोदान में प्रेमचन्द जी यथार्थवादी और प्रगतिशील हैं जबकि प्रेमाश्रम में वे आदर्श-वादी एवं सुधारक रूप में सामने आते हैं। गोदान में ग्रामीण जीवन के अत्यन्त आकर्षक और अनूठे चित्र अंकित हैं। प्रेमाश्रम में लेखक ने कृषक-जमींदार समस्या को उठाया है तो गोदान में किसान-महाजन की समस्या को प्रमुखता प्रदान की है। प्रेमाश्रम में कृषकों की दुर्दशा का बाह्य कारण सामने लाया गया है और वह कारण है, जमींदार और उसके सहायक सरकारी कर्मचारी। उधर गोदान में बाह्यपक्ष के साथ अन्तर पक्ष भी अपनाया गया है; वहां महाजन एवं जमींदार किसानों के रक्त को चूसते हैं तो उनकी सामाजिक अवस्था भी जिसमें उनकी रूढ़िवादिता और धर्मांधता सम्मिलित हैं, उनकी अस्थियों तक को निगल जाने में नहीं चूकती। प्रेमाश्रम का प्रारम्भ ही बाह्यपक्ष से होता है जबकि लखनपुर में राज्याधिकारी डेरा डाले हुए हैं; उधर गोदान की कथा आंतरिक पक्षों के सहारे उठती है। प्रेमाश्रम में न्यायतुला उपस्थित है और भले-बुरे को कर्मानुसार अच्छा-बुरा फल मिलता है, जबकि गोदान में यह तुला नीचे ऊपर होकर डगमगा जाती है और वास्तविक स्थिति में आ जाती है।

गोदान में कृषक समस्या का कोई समाधान नहीं है। होरी ठेकेदार के पास जाकर मजदूर बनता है। वह दुख-कष्टों के घातक हाथों में लोहू लुहान होता हुआ 'लू' की मार से सदा के लिये आंख मींच लेता है। उसका जीवन सुख की ओर से दुख की ओर गया है जबकि उसने जीवन में भलाई को साथिन बनाया था। इससे पाठक की आशा को धक्का लगता है और वह प्रेमचन्द जी से पूछता है—इसमें कहाँ है मंगल भावना जिसका आपने सदा उद्घोष किया था ? कहां है आपकी प्रेरणा भरी लेखनी जो जीवन में उत्साह और सूखी नसों में रक्त संचार करती थी ? यद्यपि होरी का पुत्र गोबर नगर में जाकर कुछ रुपये जोड़ लेता है किन्तु इससे नायक होरी के जीवन को देखकर पाठक की त्रस्त आस्था को बल नहीं मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि निराश और दुखी जीवन के वास्तविक थपेड़ों ने प्रेमचन्द जी की लेखनी को पकड़ लिया था। उधर प्रेमाश्रम में ग्राम्य जीवन की समस्या का सुलझाव प्रस्तुत है। हाँ, इस सुलझाव या समाधान के सामने एक प्रश्न चिह्न लगाया जाता है। प्रेमाश्रम के अन्त में मायाशंकर घोषणा करता है कि किसानों की जमीनें बेदखल न होंगी और उन पर किसी प्रकार का जोर-जुल्म न होगा क्योंकि मैं अपनी जमींदारी का

स्वामित्व समाप्त करता है। प्रान्तीय सभा में एक प्रस्ताव लाया जाता है कि जमींदार किसानों को बेदखल कर उनकी भूमि न छीन सकेगा। इसके साथ ही जमींदार अपने अधिकार बढ़ाने का प्रस्ताव लाते हैं। वास्तव में बेदखली न हो सके, यह प्रस्ताव जमींदारों के प्रस्ताव की प्रतिक्रिया में उपस्थित होता है। प्रान्तीय सभा कुछ निर्णय न कर सकी। इस प्रकार मायाशंकर द्वारा अपने अधिकारों का त्याग ही समस्या का समाधान प्रस्तुत होता है। मायाशंकर के जमींदारी स्वत्व छोड़ने के दो वर्ष बाद ही लखनपुर स्वर्ग बन गया। कादिर मियां, मायाशंकर से कहते हैं—"बेटा! और क्या हुआ है? रोंए रोंए से तो दुआ निकल रही है। मुंशी को देखो, पहले २० बीघे का काश्तकार था, १०० रुपये लगान देने पड़ते थे। दस बीस साल में नजराने के निकल जाते थे। अब कुमला २०) लगान है और नजराना नहीं लगता। पहले अनाज खलियहान से घर तक न आता था। आपके चपरासी कारिंदे वहीं गला दबाकर तुलवा लेते थे। अब अनाज घर में भरते हैं और सुभीते से बेचते हैं। दो साल में कुछ नहीं तो तीन चार सौ बचे होंगे। डेढ़ सौ की एक जोड़ी बैल लाए, घर की मरम्मत कराई, सायवान डाला। हांडियों की जगह तांबे और पीतल के बर्तन लिए और सबसे बड़ी बात यह है कि अब किसी की धौंस नहीं। मालगुजारी दाखिल करके चुपके से घर चले आते हैं, नहीं तो जान सूली पर चढ़ी रहती थी। अब अल्लाह की इबादत में जी भी लगता है; नहीं तो नमाज भी बोझ मालूम होती थी।" यह परिवर्तन हो गया है गाँव में, एक प्रकार का राम राज्य आगया है। यह हुआ मायाशंकर के हृदय परिवर्तन से। महात्मा गांधी मनुष्य के हृदय परिवर्तन में विश्वास करते थे। वे कहते थे:—बुरा कोई नहीं है। प्राकृतिक रूप में मनुष्य बुरा नहीं है। यदि उसमें से बुराई निकल जाय तो मनुष्य अच्छा है। अतः हमें युद्ध करना है मनुष्य की बुराई से, उस मनुष्य से नहीं। इसी कारण वे किसी भी अंग्रेज के विरोधी न थे, वरन् विरोध करते थे अंग्रेजों की शोषण प्रवृत्ति का, अंग्रेजियत का। प्रेमचन्द जी ने इसी उपदेश को ग्रहण करके प्रेमाश्रम की रचना की। जमींदारों के अत्याचार और कृषक जीवन की करुण अवस्था इसमें पूरी भावुकता से चित्रित है। जमींदारों का अत्याचार कृषकों को न पनपने देता था और न उभरने। गायत्री अपने पति और पिता की ज्यादतियों को बताते हुए कहती है—

"तुम्हारे जीजा कैसे सज्जन थे, द्वार पर से किसी भिक्षुक को निराश न लौटने देते। सत्कार्यों में हजारों रुपये खर्च कर डालते थे। कोई ऐसा दिन न जाता कि सौ पचास साधुओं को भोजन न कराते हों। हजारों रुपये तो चंदों में दे डालते थे। लेकिन उन्हें भी असामियों से सख्ती करनी पड़ती थी। मैंने स्वयं उन्हें असामियों को मुश्कें कसकर पिटवाते देखा है। जब कोई उपाय न सूझता तो उनके घरों में आग लगवा देते थे और अब मुझे भी यही करना पड़ता है।"

यह हाल था धर्मध्वजी जमींदार का। एक दूसरे विलासी जमींदार का रंग ढंग देखिए। गायत्री अपने पिता की चर्चा करती है—"उस साल जब अकाल पड़ा और प्लेग भी फैला तब हम लोग इलाके पर गये। उन दिनों बाबू जी की निर्दयता देखकर मेरे रोएँ खड़े हो जाते थे। असामियों से रुपये वसूल न होते थे और हमारे यहाँ नित्य नाच रंग होता रहता था। बाबू जी को उड़ाने के लिये रुपये न मिलते तो वह चिढ़कर असामियों पर गुस्सा उतारते। सौ-सौ मनुष्यों को एक पाँति में खड़ा करके हंटर से मारने लगते। बेचारे तड़प कर रह जाते। पर उन्हें तनिक भी दया न आती थी। इसी मार पीट ने उन्हें निर्दय बना दिया था।"

यह था व्यवहार गायत्री के पति और पिता का। स्वयं गायत्री इस दौड़ में कम न थी। वह कहती है—"कारिंदों को लिख दीजिये कि इन पापियों के घर में आग लगवादें और उन्हें कोड़ों से पिटवाएं। उनका यह दिल कि मेरी आज्ञा का अनादर करें।" ठाकुरद्वार के बनने में जब किसानों ने बेगार में आने से इनकार किया तो वह आज्ञा देती है—"लिख दीजिये कि बेगारों को जबरदस्ती पकड़वालें। अगर न आएँ तो उन्हें गाँव से निकाल दीजिये।"

जमींदारों के इन जालिमाना अत्याचारों से छूटने का उपाय, प्रेमचंद जी ने बताया कि मायाशंकर के समान जमींदारों का हृदय बदला जाए। एक प्रश्न तुरंत सामने आता है कि सरकारी कर्मचारियों के अत्याचार तो तब भी अविशिष्ट रहेंगे, जिनका वर्णन प्रेमाश्रम में है। डिप्टी ज्वालासिंह का दौरा हुआ तो गाँव पर राक्षसी छाया आ पड़ी और कपटसिंह के पेड़ की लकड़ियाँ कर्मचारी उठवाकर ले गये। जाड़े के दिन बिना आग के बिचारा कपटसिंह ठिठुरने लगा। एक दूसरा किसान था, क़ादिर मियां, उसने बकरीद के लिए बकरा पाल रक्खा था। वह बकरा भी हाकिम की बलि वेदि पर चढ़ा दिया गया। एक दीन बटोही गाड़ी में अपनी बुढ़िया माँ को अस्पताल लिये जा रहा था। चपरासियों ने जबरन उसकी गाड़ी खाली करली और उस पर लकड़ी लाद दीं। ये सरकारी चीजें किसी के भी घर से जबरदस्ती कुछ भी उठाकर ले जाते और पैसा मांगने पर चांटे देते थे। लेखक का मत है कि इन ज्यादतियों के मूल में जमींदारी प्रथा है। यदि जमींदार सुधर जायेंगे तो कर्मचारियों की निर्दयता भी बन्द या कम हो जायेगी। फलतः उन्होंने कर्मचारियों की समस्या को अलग से न सुलझाकर मायाशंकर को ही साधु-जमींदार के रूप में खड़ा किया है। हाँ, डिप्टी ज्वालासिंह को भी सुधारा है।

इस दो-पाटी चक्की में पड़कर किसान पिस रहे थे। फल यह था कि उनके घर में दीनता, हीनता, नग्नता और भुखमरी ने स्थायी डेरा डाल लिया था। "चारों तरफ तबाही छाई हुई थी। ऐसा बिरला ही कोई घर था, जिसमें धातु के बर्तन

दिखाई देते हों। कितने ही घरों में लोहे के तवे तक न थे। मिट्टी के बर्तनों को छोड़कर झोंपड़ों में और कुछ दिखाई न देता था। न ओढ़ना, न बिछौना, यहाँ तक कि बहुत से घरों में खाटें तक न थीं। और वह घर ही क्या थे? एक-एक, दो-दो छोटी, तंग कोठरियाँ थीं।" इन भूख और भय भरे झोंपड़ों तक इनके मालिकों की कमाई, इनकी खेती कठिनता से पहुँच पाती थी। उसमें से प्रायः सबकी सब खेत में ही लूट ली जाती थी, जमींदार, सरकारी कर्मचारी, महाजन और धर्म के ठेकेदारों द्वारा। साथ ही किसानों में आपसी वैमनस्य और अंधविश्वास की मार भी कम न थी। फलतः जमींदार के हृदय परिवर्तन के साथ ही साथ गाँवों में एक दूसरा सुधार भी आना, लेखक की दृष्टि से आवश्यक है। यह सुधार कैसे हो? लेखक ने बताया है कि इस क्षेत्र में भी महात्मा गांधी का नुस्खा प्रयोग में लाओ। महात्मा गांधी के 'सेवाश्रम' के समान 'प्रेमाश्रम' स्थापित करो। प्रेमशंकर ने अपना जीवन गाँवों की जनता-जनार्दन की सेवा में लगा दिया है। उसके हृदय से प्रसूत प्रेम धारा, गाँव वासियों को शांत, सुस्थिर और आनंदित कर देती है, उनमें प्रेम का सूत्र बांधती है। फलतः वे मिलकर एक दूसरे का हाथ बँटाते हैं, सहयोग के बल पर अपने गाँव में राम राज्य लाते हैं।

ये ही दो समाधान हैं प्रेमाश्रम में गाँव समस्या के।

निराश हृदय का उद्गार—गोदान

'समय ने प्रेमचन्द का उतना साथ नहीं दिया, जितना प्रेमचन्द ने समय का साथ दिया है। सामयिक वातावरण से प्रेमचन्द इतने प्रभावित हुए हैं कि उनकी सहृदयता देखकर हम मुग्ध ही नहीं आतङ्कित भी होते हैं' ये हैं शब्द जो श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' में दिये हैं। प्रेमचन्दजी के जीवन तथा उनके उपन्यास-साहित्य पर विचार करने से इस उद्धरण की सच्चाई का पता चलता है। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं कि प्रेमचन्दजी तत्कालीन विचारों, घटनाओं और परिस्थितियों से अत्यधिक प्रभावित थे और यह स्वाभाविक भी है। प्रत्येक कलाकार अपने समय से प्रभाव ग्रहण करता है। यह कैसे हो सकता है कि मेरे इर्द-गिर्द आग लगी हो और मुझ तक उसकी गर्मी न पहुँचे। परिस्थितियाँ ही विशेष व्यक्तित्व की उत्पत्ति का, उसके विचार समूहों का, कारण बनती हैं। हाँ यह अवश्य है कोई पं० रामचन्द्र शुक्ल के सदृश उस परिस्थिति-सरिता में डुबकी लगाए हुए भी जल स्पर्श से कम प्रभावित हो; कोई प्रेमचन्दजी की नाईं उसी पर अपना प्रकाश-केन्द्र फेंकता रहे। प्रेमचन्दजी के सामने भी उस समय की राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियाँ थीं जिनसे उन्होंने अपना दृष्टिकोण बनाया, उनकी व्याख्या की, अपना मत दिया और उस मत में आगे जा कर परिवर्तन भी किया। एक ओर सत्याग्रह एवं कृषक दशा की ओर ध्यान बार-बार जाता था तो दूसरी ओर अछूतोद्धार एवं विधवा-वेश्या-सुधार का बिगुल शब्द कानों में पड़ता ही था। एक ओर गान्धी की आँधी उड़ाती थी तो दूसरी ओर आर्यसमाज की दुन्दुभी हृदय-सागर को उद्वेलित करती थी। प्रेमचन्दजी इन दोनों—गान्धीजी तथा आर्यसमाज—की सुधारवादी क्रान्तियों से विशेष प्रभावित हुए और उसी प्रभाव का चित्रण उनके उपन्यासों में मिलता है। किन्तु समय के साथ उन्होंने आशा-निराशा का अनुभव किया और इनको भी उपन्यासों में स्थान मिला।

'सेवा-सदन' में उन्होंने वेश्या-सुधार की घोषणा की। 'सेवा-सदन' जैसी संस्था की स्थापना द्वारा समाज को उपदेश दिया—वेश्याओं से सहानुभूति करो, स्त्रियों के सुधार का मार्ग इस रूप में अपनाओ, 'सदनों' को जन्म दे समाज की उपेक्षिता नारियों का उद्धार करो। किन्तु, 'सेवासदन' का 'सदन' अकेला रहा और किसी भी माई के लाल ने इस करुण-क्रन्दन, या इस सौम्य-परामर्श पर ध्यान न दिया। कहीं इस प्रकार का बिरला प्रयत्न भी हुआ तो वेश्याओं ने अपना आय-गृह न छोड़ा क्योंकि अकेला

चना क्या भाड़ फोड़ता ! न वेश्याओं में ही सुधार हुआ, न समाज में। बहुत प्रतीक्षा की। सेवासदन का प्रभाव पड़ता न दिखाई दिया। १६२१ से १६३६ तक १५ वर्ष की दीर्घ प्रतीक्षा के पश्चात् भी वही विषम समस्या। निराश हो प्रेमचन्दजी को अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ा। मिर्जा खुर्शेद गोदान में पुनः 'सेवासदन' की वेश्या-समस्या का समाधान एक दूसरे रूप में ही लेकर उपस्थित होते हैं। खुर्शेद 'सदन' की स्थापना न कर वेश्याओं की नाटक मण्डली स्थापित करते हैं। मि० मेहता इसका विरोध करते हैं—'रोजी के लिए बहुत से जरिए हैं। पेट की भूख; रोटियों से नहीं जाती। उसके लिए दुनियाँ के अच्छे से अच्छे पदार्थ चाहिए। जब तक समाज की व्यवस्था ऊपर से नीचे तक बदल न डाली जाय, इस तरह की मण्डली से कोई फायदा न होगा।

प्रेमचन्द मिस्टर मेहता का भी समर्थन करते हैं और मिर्जा खुर्शेद का भी। लेखक अपना मत देता है—"उनमें और मिर्जा में कोई भेद नहीं"। इसका स्पष्ट भाव यही है कि लेखक चाहता है कि सामाजिक ढाँचे में भी परिवर्तन हो एवं साथ ही वेश्याओं की जीविका के साधन भी जुटने चाहिए जिसका एक रूप 'नाटक मण्डली' भी है। उनका 'सेवासदन' १६३६ तक बालू की भीति की नाईं टूट कर गिर पड़ा।

सबसे अधिक निराशा हुई उन्हें कृषक-समस्या के रूप में। प्रेमाश्रम और गोदान में विषय की दृष्टि से बहुत अधिक अन्तर नहीं है। दोनों उपन्यास कृषक-समस्या का उद्घाटन करते हैं। दोनों में ग्राम्य एवं नागरिक जीवन के वास्तविक, पर संघर्षमय चित्र उतारे गए हैं। एक प्रकार से गोदान प्रेमाश्रम का परिवर्तित एवं परिवर्द्धित रूप है। वही किसानों की दयनीय दशा गोदान में है जो प्रेमाश्रम में है। हाँ, 'प्रेमाश्रम' में इस दुर्दशा के कारण हैं जमींदार तथा उसके मित्र राज्यकर्मचारी। यहाँ महाजन तथा कृषकों का रहन-सहन—कृषकों की अन्ध श्रद्धा, उनकी अशिक्षा, उनका व्यक्तिगत स्वार्थ, उनका भोलापन, उनकी परम्परा-रक्षा का असफल प्रयत्न—किसानों के पतन का मूलाधार चित्रित हुआ है। वास्तव में 'प्रेमाश्रम' के लेखक को 'गोदान' लिखने की आवश्यकता आ पड़ी। उनका 'प्रेमाश्रम' बुरी तरह असफल हो गया था। १६२२ में जो उपाय प्रेमाश्रम में कृषकों की दशा सुधारने के लिए लेखक ने बताए थे वे मृगजल सिद्ध हुए। कितनी व्यथा हुई प्रेमचंदजी के कृषक-हितैषी हृदय को जब उन्होंने देखा कि न तो भारत में दो-चार मायाशंकर निकले, न आठ-दस प्रेमाश्रम ही बने। असहाय और अनाथ किसान पूर्ववत् तेली के बैल की भाँति जमींदार, महाजन और कर्मचारियों के कोल्हू में सिसकता एवं बिलखता प्राण त्यागता रहा। निराश हो उन्हें 'होरी' की करुण कथा कहनी पड़ी। उनके समस्त औपन्यासिक चरित्रों में दो ही अमर तथा विशिष्ट चरित्र हैं। वे हैं 'सूरदास' तथा 'होरी'। उनकी समझ में कृषक-दशा के सुधार का कोई संतोषजनक मार्ग न आया। अतः गोदान में कोई सुधारवादी दृष्टिकोण

नहीं रखा गया। धर्मभीरु एवं रूढ़िग्रस्त होरी के पास अन्तिम समय में दान करने के लिए गऊ के नाम पर केवल सवा रुपया शेष था।

प्रेमचंद के युवक-युवती प्रणय का अन्त विवाह है अथवा मरण। यदि दोनों प्रणयी सजातीय हुए तो विवाह, अन्यथा विजातीय वा निम्नोच्च वर्ग का होने पर एक का मरण—ये ही दो अनिवार्य परिणाम थे प्रणय लीला की कर्मभूमि तथा रंगभूमि, दोनों ही में। सकीना एवं अमर, सोफिया तथा विनयसिंह के दाम्पत्य अनुराग की यही दुर्दशा हुई। इनके इस दृष्टिकोण में भी परिवर्त्तन हुआ। जीवन में उन्होंने देखा, विवाह केवल प्रणय की सुखद परिणति नहीं। अतः गोदान में डा० मेहता तथा मालती का स्नेह विवाह-यज्ञ में समाप्त नहीं कराया जाता। वे मित्र रूप में रहने का प्रण कर जीवन मार्ग के यात्री बनते हैं। यदि प्रेमचंदजी जीवित रहते तो उनको यह विचार भी अवश्य बदलना पड़ता। प्रेमी और प्रेमिका इस विषैले संसार में आध्यात्मिक प्रेम मार्ग पर ऊँचे चढ़ते रहें, केवल मित्र बनकर इन्द्रिय निग्रह में लीन रहें, यह संभव नहीं कम से कम आधुनिक काल में।

अछूतोद्धार के वे प्रबल समर्थक थे। वे अछूतों को समाज में ऊँचा उठा ब्राह्मण-क्षत्रियों के समकक्ष आसन दिलाना चाहते थे। किन्तु इस दिशा में भी असफलता ही उनके हाथ लगी। मन्दिर प्रवेश के आन्दोलन चलने पर भी मन्दिर-द्वार इन अछूतों के अपुनीत स्पर्श से दूर ही रहे। निराश हो प्रेमचंदजी सोचने लगे—यदि चमार ब्राह्मण नहीं बन सकते तो क्यों न ब्राह्मण को नीचे उतार चमार-स्तर पर लाया जावे। वह भी तो अछूतोद्धार है। फलतः मातादीन के मुँह में हड्डी डालकर चमार बनाया जाता है। यही नहीं, वह जनेऊ, तोड़ कर ब्राह्मण समाज को तलाक देकर सलोनी सिलिया चमारी को आत्मसमर्पण कर अपना सुधार करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्दजी ने गोदान से पूर्व के उपन्यासों में जो दृष्टिकोण रक्खे, जो परामर्श तथा उपदेश दिए, जो समाधान उपस्थित किए, वे खेल के धोखे सिद्ध हुए। उन्होंने जनता से कहा, सेवासदन-प्रेमाश्रम बनाओ, अछूतों को ऊपर उठाओ, अपनी ओर से जमींदारों के स्वत्वों को त्याग दो, दयानन्द के सामाजिक सुधारों को अपनाओ, गांधी के रामराज्य को भूमि पर ले आओ। किन्तु १५-१६ वर्षों के उत्थान पतन ने आशा-लता को जला डाला। वे दुखी हुए, दो तप्त आँसू गिराए, क्षुब्ध हुए और निराश हो "गोदान," के रूप में अपने पीड़ित हृदय के उच्छ्वासों को अंकित किया।

वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों का वर्णन-सौन्दर्य

संस्कृत के शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार महाकाव्यों में वर्णन-सौन्दर्य एक आवश्यक तत्त्व है। फलतः महाकाव्यों में बड़े सरस एवं सुन्दर, दिन, रात, पर्वत, सरिता, आश्रम, ग्रीष्म, वर्षा के वर्णन प्राप्त होते हैं। नाटकों में काव्य सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की गई और प्रसाद काल तक यह काव्य सौन्दर्य की परम्परा, अनवरत रूप से चलती दिखाई देती है। हाँ, प्रसाद काल के बाद हिन्दी नाटक रूखे गद्य के क्षेत्र में आ गया है और हृदय को छोड़ कर बुद्धि को पकड़ कर बैठ गया है। हिन्दी उपन्यास के जन्मकाल से ही ऐतिहासिक उपन्यासकारों ने वर्णन-सौन्दर्य को प्रधानता दी है। यही कारण है कि परम्परागत रूप से हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में वर्णन देने की प्रथा प्रचलित है। हिन्दी के आदि ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं श्री किशोरीलाल गोस्वामी। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में वर्णनों को पर्याप्त स्थान मिला है। आदि काल के बाबू गङ्गाप्रसाद एवं जयरामदास गुप्त भी अपवाद नहीं है। फिर तो यह परम्परा चल पड़ी जिसका भव्यरूप बाबू वृन्दावनलाल वर्मा में निखरा और चमका है। ऐतिहासिक उपन्यासकार का काम भी बिना वर्णनों के नहीं चल सकता। इन वर्णनों में प्रकृति वर्णन को प्रमुख पद प्राप्त हुआ है। ऐतिहासिक उपन्यास में सफल वातावरण का निर्माण एक महत्त्वपूर्ण एवं कठिन कार्य है और ऐतिहासिक उपन्यासकार प्रकृति वर्णन की पृष्ठभूमि के द्वारा इस कार्य को सरल कर लेता है, वह रात्रि की भयानकता से युद्ध या अपराध की भयानकता को द्विगुणित करता है।

बाबू वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों में कई प्रकार के वर्णन दिखाई देते हैं। प्रकृति चित्रण इन वर्णनों में सबसे सुन्दर, मार्मिक और महत्त्वपूर्ण वर्णन है।

(१) **प्रकृति-चित्रण**—वर्माजी ने प्रकृति को स्वयं निहारा है, न पुस्तकों की ऐनक से देखा है और न दूसरों की जिह्वा-दुरबीन से पहिचाना है। दुनाली कन्धे पर रखकर वे स्वयं बीहड़ जङ्गलों में और विकट पहाड़ों पर घूमे हैं, दौड़े हैं और श्रम-विगलित होकर लेटे हैं। जब बाबू साहब ने प्रकृति का रूप स्वयं निहारा है, नगर के प्रासाद में बैठकर कल्पना नहीं की है; तो स्वभावतः प्रकृति का सूक्ष्म, सुन्दर एवं

वास्तविक वर्णन उपन्यास में आना ही चाहिये था। वर्णन करने में उन्होंने छोटी और बड़ी सभी वस्तुओं का संश्लिष्टात्मक वर्णन किया है, देखिए—

"बिरवाई से लगे हुए तीन-चार महुए के पेड़ थे। महुओं के पीछे एक चक्करदार नाला निकलता था। दूसरी ओर वह पहाड़ी थी जो भुसावली पाटा कहलाती है। एक ओर बीहड़ जङ्गल। अहीर की कुछ भैंसें नाले के पास चर रही थीं। एक लड़का कुछ धूप में, कुछ छाया में सोता हुआ जानवरों की देखभाल कर रहा था। घास आधी हरी, आधी सूखी थी। करधई के पत्ते पीले पड़कर गिरने लगे थे। नाले का पानी अभी सूखा नहीं था—कुछ भैंसें उसमें लोट-लोटकर शब्द करने लगीं थीं। चिड़ियाँ इधर से उधर उड़कर शोर करने लगी थीं। सूर्य की किरणों में कुछ तेजी और हवा में कुछ उष्णता आ गई थी।" (विराटा की पद्मिनी)

वर्माजी ने एक फोटू खींच दिया है। छोटी-छोटी वस्तुओं को भी निहारा है और उनका चित्र खींचा है। उनकी दृष्टि आधी सूखी और आधी हरी घास पर भी गई है। नाले को भी देखा है जो कुछ-कुछ बह रहा था। एक और नाले का वास्तविक एवं सूक्ष्म अङ्कन वर्माजी ने किया है—

"गुसाइयों की छावनी पेड़ों की सघन छाया में थी। पास में एक छोटा-सा नाला निकला था। गहरा न था। पतली धार बह रही थी, किनारों पर हींस, मकोय, खेंजों और करोंदी के सघन और गहरे झाड़ थे। नाले के ठीक बीचोंबीच यहाँ वहाँ हरसिंगार के पेड़ लगे हुए थे, फूलों से लदे हुए। सवेरा हो चुका था। पवन मन्द-मन्द बह रहा था। नाले की धार भी मन्द थी। हरसिंगार की फूलों से लदी डालियाँ हवा के हलके झोकों से नाले की पतली धार पर झूम-झूम जाती थीं। सफेद पखुरी और लाल डण्डी वाले छोटे-छोटे से फूल उस पतली धार पर एक दो करके चू रहे थे। उस धार पर खेलते कूदते वे निरन्तर चले जा रहे थे। नाले की तली उनकी मस्त सुगन्धि से भरी हुई थी। बुलबुलें कौमुदी महोत्सव-सा मना रही थीं।" (कचनार)

भिन्न-भिन्न ऋतुओं का गम्भीर और सांगोपांग निरीक्षण वर्माजी ने किया था। हेमन्त में एक ओर वृक्ष अपने पुराने पत्ते गिराते हैं तो दूसरी ओर नवीन पहनने लगते हैं (गढ़ कुण्डार)। बसंत वर्णन में फूलों की श्री को वर्माजी ने चारों ओर बखेर दिया है (विराटा की पद्मिनी और झाँसी की रानी)। प्रकृति चाँदनी रात में मुस्करा उठती है, तब कैसी सुन्दर लगती है, इसका चित्र देखिए:—

"नदी की लहरों के अवगुण्ठन छोटे पड़ गए और चाँदी की चादरें-सी तनने लगीं। खेत के पौधों की झूम हलकी पड़ गई जैसे सो गए हों। एक दिशा में उन रजत लहरों के उस पार छोटी-छोटी पहाड़ियों के ऊपर एक ऊँची पहाड़ी सिर उठाकर

धूमिल नेत्रों से चांदनी को भर-सा लेना चाहती थी; ऊँची पहाड़ी का शिखर धुँए का स्थिर पुञ्ज-सा जान पड़ता था। नदी के इस पार दूसरी दिशा में विशाल वृक्षों की सेज के पीछे एक ऊँचा पहाड़-सा चन्द्रमा को मानो नीचे उतर आने के लिए आवाहन-सा दे रहा था।" (मृगनयनी)

वर्माजी को प्रकृति के इस सुहावने स्वरूप से अधिक प्रिय है उसका भयावना रूप। वे पसन्द करते हैं संध्याकालीन अन्धकार, काली रात्रि और गड़गड़ाते श्यामल मेघ। प्रकृति की इन भयावनी मुद्राओं का अङ्कन उपन्यासकार ने पूरी सरसता और निपुणता से किया है और ये मुद्राएँ मार्मिक बनकर हठात् पाठक के मन को खींच लेती हैं। क्या सायंकाल की भयङ्कर सुनसानता में कोई सौन्दर्य है? वर्माजी कहेंगे, "है", आकर देख लीजिए—"बेतवा के पूर्वीय किनारे की जलराशि छूती हुई चली जा रही थी। अस्ताचलगामी सूर्य की कोमल स्वर्ण राशियाँ बेतवा की धार पर उछल-उछल कर हँस-सी रही थीं। उस पार के बट वृक्षों की चोटियों के सिरों ने दूरवर्ती पर्वत की उपत्यका तक श्यामलता की एक समरस्थली-सी बना दी थी। उस सुन्दर सुनसान में कुञ्जरसिंह के शब्द बज से गये थे।" (विराटा की पद्मिनी)

इस सन्ध्या की एकान्तता और सुन्दर भयानकता और भी प्रभावशाली बन जाती है, जब कि यह सन्ध्या हेमन्त या शिशिर काल की हो। ऐसी एक संध्या का मुग्धकारी यथार्थ चित्र यह है—

"सन्ध्या होते ही घोर अन्धकार छा गया। ठण्डी हवा के झोंकों ने तारों के धूमलेपन को पोंछ सा दिया और वे खरेपन के साथ चमचमा उठे। चने के खेतों से नोनी की सोंधी गन्ध आई और गेहूँ के खेतों से हरी बालों की चुरनांद की हल्की महक, अरहर पक रही थी, गदरा रही थी और फूल पर थी। पास के खेतों से उसकी हरवाइन्द बीच-बीच में गुसाइयों की छावनी के समीपवर्ती छोर को छू-छू जाती थी। दूर के खेतों में रखवालों की आग के धुएँ का पुञ्ज पहले सीधा स्तम्भ सा ऊपर को जाता फिर छितरा कर तन सा जाता जिससे क्षितिज वाले तारों पर पतली धूमरी चादर पड़ जाती। सागर की झील में नन्हीं लहरें तरङ्गित हो रही थीं। तारे उन पर तैर से रहे थे।" (कचनार)

कैसा वास्तविक चित्रण है? जिसने शहर से बाहर जाकर गाँवों के समीपवर्ती खेत रात्रि के समय नहीं देखे, वह ऐसा सुभित चित्र नहीं उतार सकता है। धुएँ का वर्णन कितना स्वाभाविक एवं वास्तविक है! रात्रि का अन्धकार, सन्ध्या के तम से अधिक भयावना, पर साथ ही अधिक आकर्षक भी होता है। अन्धकार दानव के चंगुल में फँसी बेचारी रात्रि-रमणी कराह उठती है।

"अतुल अन्धकार। निविड़ बन का कोई भी अंश नहीं दिखलाई पड़ रहा था। ऊपर तारे छिटके हुए थे। दूर की पहाड़ियाँ लम्बी तानें सोती सी जान पड़ती थीं। टेढ़ी तिरछी बहती हुई साँक नदी की पतली रेखा जरूर झाँई सी मार रही थी। दूरी पर घेरा डालने वालों के डेरे की आग सुलग-सुलग कर राई गढ़ी के सङ्कट को जगा-जगा दे रही थी।" (मृगनयनी)

अन्धकार रहस्य का जनक है। युद्ध और प्रेम से अधिक रहस्य मय वस्तु क्या है? युद्ध की तैयारी और युद्ध का चित्रण रात्रि के अन्धकार में चमक उठता है :—

"आकाश में चन्द्रमा न था। बड़े-बड़े और छोटे-छोटे तारे प्रभा में डूबते उतराते से मालूम पड़ते थे। छोटे तारे टिमटिमा रहे थे। तारिकाएँ अपनी रेखामयी आभा आकाश पर खींच रही थी। पक्षी पर झाड़ कर वृक्षों से उड़-उड़ जाते थे। आकाश के तारों की टिम-टिमाहट की तरह झींगुरों की झङ्कार अनवरत थी। लोचनसिंह ने अपने पास खड़े हुए सैनिक का पैर दबाया। लोचनसिंह के इस असाधारण ढङ्ग से इस सैनिक की तुरन्त यह धारणा हुई कि कोई बड़ा और विकट संकट सामने है।" (विराटा की पद्मिनी)

युद्ध का सन्नाटा रात्रि के अन्धकार में और गहन होता है। एक स्त्री उस भयदात्री कालिमा में क्या हार मान कर बैठ जायेगी?

"थोड़ी देर बैठी रह कर वह खड़ी हो गई। कँगूरों के झरोखों में होकर नीचे की ओर देखा। अतुल अन्धकार। निविड़ वन का कोई भी अंश नहीं दिखलाई पड़ रहा था। ऊपर तारे छिटके हुये थे। दूर की पहाड़ियाँ लम्बी तानें सोती सी जान पड़ती थीं। टेढ़ी तिरछी बहती हुई साँक नदी की पतली रेखा जरूर झाँई सी मार रही थी। दूरी पर घेरा डालने वालों के डेरे की आग सुलग-सुलग कर राई नदी के संकट को जगा-जगा दे रही थी। वैसे राई की डाँग में नाहर इत्यादि जंगली जानवर रात में प्रायः बोला करते थे परन्तु आक्रमणकारियों की रौंदारोंदी के मारे वे बहुत दूर खिसक गये थे। सिवाय झींगुरों की चीं-चीं के और कुछ नहीं सुनाई पड़ता था। सुनसान को छेदती हुई, कभी-कभी गढ़ी के भीतर 'जागते रहो' की पुकार भर सुनाई पड़ती थी। लाखी को उन शून्य भेदी पुकारों के ऊपर कँगूरों के नीचे सघन अन्धकार के पेट में कुछ खरखराहट सुनाई पड़ी।" (मृगनयनी)

युद्ध के दाँव पेचों एवं बचाव के मार्गों की जननी यही रात्रि है। एक टोली इसी रात्रि में जा रही है—

"आगे निर्मम मार्ग। अगाध अँधेरा। झींगुर झङ्कार रहे थे। उनके ऊपर घोड़ों की टापों की आवाज हो रही थी। सब ओर सन्नाटा छाया हुआ था। पीछे झाँसी

में आगें जल रही थीं और आवाजें आ रही थीं। आगे अन्धकार में जङ्गल और गढ़मऊ के पहाड़ लपेटे हुए, दबे हुए से दिखलाई पड़ रहे थे। चिड़ियाँ पेड़ों पर से भड़भड़ाकर उड़तीं और घोड़े को चौंका देतीं। घोड़े जल्दी चलाए जाने के कारण ठोकर ले ले पड़ते थे। आगे का मार्ग अन्धकारपूर्ण और भविष्य तिमिराच्छन्न। ज्यों-त्यों करके आरी नामक ग्राम के पास से यह टोली आगे बढ़ी।"

(झाँसी की रानी-लक्ष्मीबाई)

वर्माजी के प्रकृति के आँचल में खड़े ऐसे गत्यात्मक वर्णन हिन्दी के उपन्यास संसार में बहुतायत से नहीं दिखाई देते है। प्रेम के वर्णन भी प्रकृति की गोद में पले पाये जाते हैं, विशेषतया गढ़कुण्डार और विराटा की पद्मिनी में। इस गत्यात्मक वर्णन का सब से सुन्दर उदाहरण है, विराटा की पद्मिनी के अन्तिम अध्याय का वह अंश जहाँ कुमुद बेतवा में कूद पड़ती है और प्रतिनायक अलीमर्दान के हाथ आती है केवल बेतवा के ऊपर छलाँग मारती आभा की छाया मात्र। एक ऐसा छोटा सा अन्य वर्णन देखिये जिसमें प्रेम का वर्णन प्रकृति द्वारा हुआ है—

"तारा ने आँख उठाकर दिवाकर की ओर देखा। दो बड़े-बड़े आँसू अब भी आँखों में थे। चाँदनी दमक रही थी। शीतल पवन मन्द-मन्द बह रहा था। सुनसान पेड़ कभी-कभी खरखरा उठते थे···।" (गढ़कुण्डार)

आकृति वर्णन—वर्माजी ने आकृति वर्णन में गहरे रंग नहीं उडेले हैं। थोड़े से शब्दों में आकृतियों का पूर्ण वर्णन कर दिया है।

"यकायक मनू के सामने एक मराठा कन्या आई। आयु पन्द्रह से कुछ ऊपर थी। शरीर छरेरा। रंग हलका साँवला। चेहरा जरा लम्बा। आँखें बड़ी। नाक सीधी, ललाट प्रशस्त और उजला" (झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई) "डरूकी आँस भीग रही थीं। गोरे चिट्टे रंग का छरेरा युवक था। आँख छोटी, भौंहें मोटी, मुस्कराहट आकर्षक।" (कचनार)

"राजा मानसिंह युवावस्था से आगे जा चुका था। बड़ी काली आँखें, भरी भौंह, सीधी लम्बी नाक, चेहरा भरा हुआ; कुछ लम्बा, ठोड़ी दृढ़, होंठ सहज मुस्कान वाले। सारा शरीर जैसा अनवरत व्यायाम से तपाया और कमाया गया हो। कद लम्बा और छाती चौड़ी घनी नोंकदार मूँछें"। (मृगनयनी ४२)

"फटे जूते, फटे कपड़े, पैरों पर ढेरों धूल चढ़ी हुई छोटी सी दाढ़ी, मूँछ पसीने और धूल से रंगी हुई। उसने अपनी दशा को मापा है। (टूटे काँटे)

इस प्रकार के आकृति वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त पर पूर्ण और सुन्दर हैं। किन्तु कहीं कहीं वर्मा जी आकृति वर्णन के मोह में फँस गए हैं और उन्होंने वर्णन को अनुचित

विस्तार दे दिया है जिससे वर्णन-सौन्दर्य को धक्का लगा है। ऐसा गढ़ कुण्डार में ही हुआ है जो वर्माजी की सबसे पहिली ऐतिहासिक कृति है। अग्नि दत्त पांडे एवं नागदेव के आकृति वर्णन ऐसे ही हैं। अग्निदत्त के आकार वर्णन में तो वर्माजी ने अग्निदत्त के सीने को चौड़ा कर दिया है और कमर को 'बहुत पतली' बना दिया है। वृषभ स्कंध अग्निदत्त के पास बैठी पतली कमर कुछ जँचती नहीं। आकृतियों के सूक्ष्म वर्णन के साथ ही साथ आकृतियों की मुद्राओं का हावों और अनुभावों का वर्णन भी अत्यन्त सुन्दर हुआ है।

"नूरबाई ने अपनी हँसी को समेटा। गर्दन ने जरा सी लचक खाई। बालों की एक काली लट गोरे गालों को छूकर फिर कान के पास पहुँच गई। नूरबाई की बड़ी बड़ी मदभरी आँखें एक बार पूरी खुलीं, बरौनियों ने भौहों का स्पर्श किया और फिर नीची पड़ गई। वह मोहन को तिरछी चितवन से देखने लगी। होठों पर नुकीली मुस्कान थी।" (टूटे काँटे)

अनुभावों के अनेक सुन्दर वर्णन उपन्यासों में भरे पड़े हैं। कहीं वे मुखर हैं, कहीं मौन। ऐसे स्थलों पर सांकेतिक व्यंजना ही प्रधान हो गई है। कुछ उदाहरण देखिये—'रानी ने पूछा—क्या सोहनपाल की कन्या भी इसी भवन में ठहरेगी? अग्निदत्त ने उत्तर दिया—हाँ, मा जी। रानी का मुख कमल की तरह खिल गया। मानवती के हृदय से एक छोटी सी आह निकली, परन्तु उसे शायद अग्निदत्त के सिवा और किसी ने नहीं देखा। अग्निदत्त किसी विचार में डूब गया। (गढ़ कुण्डार)

लेखक ने एक छोटी सी आह से बहुत कुछ कहला दिया है। एक दूसरा उदाहरण देखिये—

रामदयाल ने गोमती से कहा—"असली भाव, यदि कुंजर सच बोल रहे थे तो यही रहा होगा कि लो या न लो, कुचल दो या ठुकरा दो, परन्तु मेरा हृदय तुम्हारे लिये—मेरी हथेली पर है, गोमती खड़ी होगई बोली—बहुत थकावट मालूम होती है। जाड़ा सा लग रहा है। अब चलो।"

गोमती के अनुभावों के पीछे हृदय का तूफान छिपा है। "फिर उसको (कचनार को) दलीपसिंह के प्राणान्त समय का दृश्य तुरन्त स्मरण हो आया। कण्ठावरोध हुआ। उसने मुख मोड़ लिया। आँखों में आँसू आगए थे। उनको घूंघट की सम्भाल में पोंछ डाले। आह को दबाकर भीतर ही लौटा दिया।" (कचनार)

वर्माजी ने ऋतु, समय, सरिता, पर्वत, युद्ध, एवं आकृति वर्णनों के अतिरिक्त स्थल, नगर, गढ़, गांव, मकान, सभा इत्यादि का वर्णन भी बहुतायत से किया है। गढ़कुण्डार में इस वर्णन ने भी अधिक पेर फैला लिए हैं। कुण्डार की चौकियों का

वर्णन पहिले अध्याय के पाँच पैरों में हुआ है। अन्यत्र यह सुरसा-विस्तार नहीं है और वर्णन वास्तविक, संयत एवं सुन्दर बन पड़े हैं। विराटा की पद्मिनी में विराटा का वर्णन (अ० १६) बड़ा नहीं है। कथा की दृष्टि से इसकी जानकारी आवश्यक थी। झाँसी की रानी के वर्णन भी संयत और उचित हैं। यही हाल मृगनयनी का है। अन्य उपन्यासों में भी स्थिति ऐसी ही है। विराटा के मन्दिर का एक वर्णन देखिये—

"गढ़ के ठीक सामने पूर्व की ओर नदी के बीचों-बीच एक टापू पर एक छोटा मन्दिर छोटी सी दृढ़ गढ़ी के भीतर था। इस मन्दिर में उस समय दुर्गा की मूर्ति थी। जीर्णोद्धार होने के बाद अब उसमें शङ्कर की मूर्ति स्थापित है। दक्षिण की ओर यह टापू एक ऊँची पहाड़ी में समाप्त हो गया है। कहीं-कहीं पहाड़ी दुर्गम है। जिस ओर यह लम्बी-चौड़ी चट्टानों में ढल गई है, उस ओर विस्तृत नीलिमामय जल राशि है। (विराटा की पद्मिनी)

यह एक स्थिर वर्णन है। एक राजमहल का वर्णन देखिए जिसमें गति है, चहल-पहल है और विलास का दौर है।

"दिल्ली के महल में चहल-पहल थी। रङ्गमहल सुगन्धियों में डूब सा रहा था। बड़े-बड़े मुलायम गलीचों पर घुँघरू की रुमझुम तबले की मीठी थाप का साथ दे रही थी और मेंहँदी के रंगे सुन्दर पावों की कारीगरी मसनद तकियों से टिके बादशाह मुहम्मदशाह रँगीले के मस्त माथे की विकसित मुस्कराहट की झमक दे रही थी। सुराहियों से उँडेली हुई सोने के कटोरों में शराब का उफनता हुआ प्रवाह खूबसूरत खवासिनों की कोमल उँगलियों को, बादशाह के होठों तक पहुँचाने के समय छू-छू जा रहा था। मुहम्मदशाह कोमलाङ्गी सुन्दरियों की घुँघरू की रुनझुन, तबले की थपकी, मञ्जीरों की मृदुल खनखन, नृत्य के ठाठों की अदा, गान-तान के माधुर्य और उन खवासिनों के आभूषण अलंकृत हाथों से उँडेली हुई शराब में उलझा जा रहा था।" (टूटे काँटे)

यह गान और नृत्य का सांकेतिक वर्णन जब हाथों, हावों और पैरों से थिरक उठता है, तब वर्माजी उस का गतिमान वर्णन इस प्रकार पूर्ण मनोयोग एवं सरसता से करते हैं—

"नूरबाई के सामने फिर "बिरज कन्हैया" आ गया, गोपों के रस को तीव्रता मिली। नूरबाई का रोम-रोम थिरक गया। फुरेरू पर फुरेरू आने लगी। उसके पैर अपने पुराने मंजे हुए अभ्यास के अनुसार काम कर रहे थे, गले से स्वर अपने आप झरते से चले आ रहे थे—जैसे बुलबुल बिना पंख फड़फड़ाये हुये मंद पवन पर गाती हुई उड़ रही हो, जैसे उसके पंख उसे मंद पवन को चूमते-पुचकारते हुए रपटते चले जाते

हों, जैसे कई झरने अपने स्रोतों से मन्द निस्तब्ध गति से सीधे, तिरछे, चलकर रश्मियों की झिलमिलाहट को समेटते हुए किसी निश्शब्द सरोवर में जा जाकर मिल रहे हों। सामने उसके कभी "बिरज का कन्हैया" और कभी उसकी सेवा के लिये उद्यत सआदतखाँ। आधी रात के उपरान्त का समय, बिहाग के कला स्वर और नन्ददास के उस पद का अर्थ—" (टूटे काँटे)

यह गाने का समां बाधा गया है। नृत्य वर्णन के समय वर्माजी के शब्द भी थिरकने और इतराने लगते हैं।

रीतिरिवाजों का वर्णन भी वर्माजी ने बड़ी लगन और मार्मिकता से किया है। इनको पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि दृश्य सामने आ खड़े हुये हैं। कचनार में अक्षय तृतीया का वर्णन, मृगनयनी में होली का वर्णन और झांसी की रानी में "हरदी कुं कुं" का वर्णन इस विधि के कुछ उत्कृष्ट उदाहरण हैं। वर्माजी को जहाँ अवसर मिलता है, बड़ी निपुणता से वे वर्णन में भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग भरने लगते हैं और उनको क्रमशः विकसित करते हुए एक समूचा एवं अत्यन्त सुन्दर चित्र सामने ला खड़ा करते हैं। कचनार में विवाह समय का मत्स्यवेध वर्णन इसी प्रकार का है। इस वर्णन में उनकी सूक्ष्म दृष्टि देखी जा सकती है। युद्ध वर्णनों में वर्माजी ने ओज एवं भीषणता को खूब भरा है। सभी प्रधान उपन्यासों में ये वर्णन देखे जा सकते हैं। वास्तव में वर्माजी के उपन्यासों में वर्णनों को प्रधानता मिल गई है और अधिकांश वर्णन अत्यन्त सुन्दर हैं। महाकाव्य के समान ऐतिहासिक उपन्यासों में वर्णनों को महत्त्व मिला है।

मृगनयनी

जितना उपन्यास लिखना सरल है, ऐतिहासिक उपन्यास लिखना उतना ही कठिन है। ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की कठिनाई को समझते हुए स्वर्गीय डा० अमरनाथ झा ने कहा था—"ऐतिहासिक उपन्यास अथवा नाटक लिखने में कई कठिनाइयाँ है जो सम्पूर्णतया काल्पनिक कथा के लिखने में नहीं होती हैं। इतिहास की बातों को बदलने का अधिकार लेखक को नहीं है। इतिहास के समय का ही उसे वर्णन करना होता है, उस काल के समाज और सार्वजनिक दशा से उसकी कल्पना शक्ति नियंत्रित हो जाती है, उस समय के वेश और रहन-सहन का उसे ज्ञान प्राप्त करना होता है"। ऐतिहासिक उपन्यास के लिखने की कठिनाइयों का ध्यान करके आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लेखकों को समझाया था "जब तक भारतीय इतिहास के भिन्न कालों की सामाजिक स्थिति और संस्कृति का अलग-अलग विशेष रूप से अध्ययन करने वाले और उस सामाजिक स्थिति के सूक्ष्म ब्योरों की अपनी ऐतिहासिक कल्पना द्वारा उद्भावना करने वाले लेखक तैयार न हों तब तक ऐतिहासिक उपन्यासों में हाथ लगाना ठीक नहीं" (हिन्दी साहित्य का इतिहास)। श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने इसी कठिन कार्य को अंगीकार किया और अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। इन उपन्यासों में उन्होंने इतिहास तत्त्व की रक्षा की है। "झाँसी की रानी" लक्ष्मीबाई नामक उपन्यास की भूमिका में वे इतिहास-तत्त्व की रक्षा की घोषणा करते हुए कहते है "मैंने निश्चय किया कि उपन्यास लिखूँगा ऐसा जो इतिहास के रग-रेशे से सम्मत हो और उसके संदर्भ में हो। इतिहास के कंकाल में माँस और रक्त का संचार करने के लिए मुझको उपन्यास ही अच्छा साधन प्रतीत हुआ।" झांसी की रानी में इतिहास का आग्रह अधिक है। फलतः उसमें इतिहास की रक्षा पूर्णतया हुई है। यह बात नहीं है कि कल्पना का पुट वहाँ न हो। है, और बहुत सुन्दर है। एक इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् जो स्वयं हिन्दी में कहानी भी लिखते हैं, कहने लगे कि झांसी की रानी उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इसका कारण उन्होंने बताया कि उसमें इतिहास है और इतिहास के आँचल में छिपी है कहानी।

मृगनयनी को अनेक आलोचक वर्मा जी का सर्व श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास मानते हैं। मृगनयनी में इतिहास है किन्तु साथ ही कहानी की प्रधानता है। फलतः मृगनयनी में कहानी का अत्यन्त सुन्दर रूप प्राप्त होता है। इसका कारण यही है कि

लेखक कहानी में प्रवेश कर इतिहास को हावी नहीं होने देता है। ऐसी बात नहीं है कि इतिहास न हो। है, किन्तु मृगनयनी की इतिहास सामग्री वही नहीं है जो झाँसी की रानी की है। मृगनयनी की भूमिका से स्पष्ट है कि उपन्यास की ऐतिहासिक सामग्री का प्रधान आधार स्थानीय जन श्रुतियाँ एवं कुछ इतिहास के पन्ने हैं। साथ ही लेखक ने गाइड और ग्वालियर के पुरातत्त्व विभाग से भी भरपूर सहायता ली। और तब इस ऐतिहासिक उपन्यास की रचना की। वर्मा जी का मत है कि जनश्रुतियों में भी इतिहास छिपा हुआ है। ऐतिहासिक पृष्ठों, स्मारक, मुद्रा एवं दस्तावेजों के साथ-साथ जन श्रुतियों का प्रयोग सभी इतिहासकार किया करते हैं और अन्य ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में तो जन श्रुतियाँ निश्चिततया आधा ऐतिहासिक सत्य प्रकट करती हैं। वर्मा जी ने भी मृगनयनी में ऐतिहासिक अर्द्ध सत्य अर्थात् जन श्रुतियों का प्रयोग किया है और उसे ऐतिहासिक सामग्री के समकक्ष स्वीकार किया है। इसी कारण वे कहते हैं—"उपन्यास में आये हुए सभी चरित्र थोड़ों को छोड़कर ऐतिहासिक हैं।" स्थूल ऐतिहासिक सामग्री की अल्पता और जन श्रुतियों के प्रयोग से एक लाभ भी हुआ है कि लेखक विराटा की पद्मिनी के समान इस उपन्यास में भी कल्पना को अधिक छूट दे सका है जिससे कहानी निखर उठी है।

इतिहास तत्व की दृष्टि से ऐतिहासिक उपन्यास तीन प्रकार के हो सकते हैं। (१) इतिहास प्रधान—उदाहरण झाँसी की रानी। (२) कल्पना प्रधान—उदाहरण विराटा की पद्मिनी। (३) संतुलित—उदाहरण मृगनयनी—मृगनयनी में इतिहास और कल्पना का सुन्दर और संतुलित सामंजस्य है। झांसी की रानी की अपेक्षा कहानी की गति यहाँ अधिक वक्र है। किसी भी उपन्यास का सौन्दर्य है उसकी उत्सुकता भरी कहानी। कहानी में उत्सुकता तभी आती है जब लेखक अपने पात्रों को तुरन्त प्रकट नहीं कर देता है वरन् कुछ देर छिपाने के बाद प्रकट करता है। जो उपन्यासकार जितनी देर पात्रों को छिपा सकता है वही उतनी ही अधिक उत्सुकता जगा सकता है। ऐतिहासिक उपन्यासकारों में राखाल बाबू एवं कन्हैया लाल माणिक लाल मुंशी पर्याप्त समय तक पाठक की उत्सुक प्रवृत्ति को जाग्रत रखते हैं। मृगनयनी में वर्मा जी ने भी पात्रों को छिपाया है। दूसरे परिच्छेद में होली की रंग रेलियाँ हो रही हैं। लेखक निन्नी या मृगनयनी को एक दम सामने नहीं लाता है। वह कहता है, "फिर से बसे हुए इस गांव में एक लड़की अपनी माँ के साथ एक उजड़े हुए गांव से कुछ दिन पहले आ गई थी। परन्तु गांव में लड़की की तरह रहने के कारण उस पर कोई पुरुष रंग या कीचड़ नहीं फेंक रहा था"। पाठक के मन में उत्सुकता जगती है कि यह लड़की कौन है? तभी लेखक कहता है "तुम अभी तक साफ समूची बची खड़ी हो लाखी, एक झोंपड़े के द्वार पर टठिया की ओट में खड़ी हुई हँसती मुस्कराती हुई लड़की से मिट्टी

की काली कलूटी मटकिया में घोले हुए दूसरी हँसती हुई लड़की ने रास्ते में दौड़ लगाते हुए कहा" । पाठक की कौतूहल वृत्ति थोड़ी सी शांत होती है कि मां के साथ गांव में आने वाली लड़की का नाम "लाखी" है । किन्तु साथ ही एक उत्सुकता और जग जाती है कि यह दूसरी लड़की कौन है । लेखक बड़ी सावधानी से इस लड़की को छिपाता हुआ कहानी कहता है, "जिसको लाखी के सम्बोधन से चिनौती दी गई थी, वह ईर्षा की कसक से, अन्य स्त्रियों को धूल और कीचड़ में सना हुआ देख कर अपने ऊपर आक्रमण किये जाने के लिए, मुस्कानों से न्योता सा दे रही थी । टटिया को अध-खुला छोड़कर लाखी भीतर की ओर भागी । जिसने संबोधन किया था वह झपट कर भीतर धँस गई" । अभी उत्सुकता जगी है पाठक की "ऊँ...ऊँ... निन्नी, हमारे कपड़े मैले मत करो—लाखी ने निवारण करते हुए आमंत्रण दिया ।" पता चला कि संभवतः दूसरी का नाम निन्नी है । पर यह नाम कैसा ? अभी कुछ निश्चय नहीं हो पा रहा है । कहानी आगे बढ़ रही है—"बाहर निकलो, बाहर, तुमको सिर से पैर तक रंग दिया और नचा न दिया तो मेरा नाम निन्नी नहीं" मटकिया वाली ने ललकारा । अब निश्चय हुआ कि दूसरी का नाम निन्नी है । यहाँ आकर पात्रों को सामने लाया गया है । अच्छा होता अभी और दूर तक पात्रों को छिपाया जाता ।

इससे भी अधिक सुन्दर उदाहरण है बावनवां परिच्छेद । पाठक की उत्सुकता पूरे चार पृष्ठ तक जाग्रत रहती है । एक दीन परिवार है । एक आगंतुक आता है । पाठक सोचता है—यह कौन है ? दीन परिवार के पति पत्नी अपनी दीनता से ही परेशान थे, उस पर अतिथि । ये दोनों बहुत कहते हैं कि हम बहुत गरीब हैं, राजा के यहाँ चले जाओ । आगंतुक नहीं जाता है । स्त्री दया कर टिका लेती है । आगंतुक चक्की पीसने बैठता है । पूरे चार पृष्ठों तक में कथा यहाँ तक चलती है और पाठक सांस रोक कर पढ़ता रहता है कि यह दढ़ियल नवागंतुक कौन है ? क्यों आया है ? कोई चोर-डाकू तो नहीं ? चोर डाकू यहाँ क्या करेगा ? कोई मुसलमान वेश बदल कर तो नहीं आया है ? वह इस परिवार में क्यों आएगा । सहसा नवागंतुक की दाढ़ी उखड़ जाती है और परिवार पति चिल्ला उठता है—"अपने महाराज ! अपने महाराज !" कथा की यह शैली अत्यन्त उत्कृष्ट है जिसमें उत्सुकता बड़ी दूर तक जगी रहती है । राखाल बाबू और मुंशी जी की यही शैली है। दोनों उपन्यासकार पात्रों को बड़ी दूर तक छिपाते हैं । वर्माजी ने ऐसा कम किया है किन्तु जहाँ किया है, वहाँ कथा सौन्दर्य पूरी तरह प्रस्फुटित हुआ है । वर्माजी अधिकतर कथा में तुरन्त प्रवेश करते हैं और पात्रों को झट सामने ले आते हैं । अधिकांश परिच्छेदों में यह देखा जाता है ।

कथा में उत्सुकता पैदा करने का एक दूसरा ढंग भी है । कई कथाएँ एक साथ चलाई जाती हैं जिनमें एक मुख्य कथा होती है और शेष गौण । लेखक एक

कथा को थोड़ा सा कहकर छोड़ देता है और दूसरी कथा आगे बढ़ाता है। फिर दूसरी कथा को थोड़ा खोल कर झट तीसरी का सूत्र पकड़ लेता है। परिच्छेद १ से ८ तक निन्नी, लाखी, अटल और पुजारी की मुख्य कथा है। नौवें परिच्छेद में कालपी के गयास की कथा थोड़ी सी झंकृत कर लेखक दसवें में गुजरात के नवाब महमूद बघर्रा के पास पहुँच जाता है। ग्यारहवें में पुनः निन्नी और लाखी को सामने लाकर उन्हें छिपा लेता है और तुरन्त बारहवें परिच्छेद में गयास की उपकथा को पकड़ता है। लेखक इस ढंग से पाठक की उत्सुकता को टिकाए रखता है। मुंशी प्रेमचन्द की भी यही शैली थी जिसे वर्माजी ने ग्रहण किया है।

बीसवीं शताब्दी में स्त्रियों का मान बढ़ा है। भक्ति काल में वह ताड़न की अधिकारिणी बनी रही तो रीतिकाल में उसने अनेक स्वादों वाली चटनी का सुन्दर रूप पा लिया। आधुनिक युग में स्त्री के पक्ष में आवाज ऊँची उठी। महाकवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर से प्रेरणा पाकर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने राम कथा के उन महा कवियों को भी फटकारा जिन्होंने लक्ष्मण की सती स्त्री उर्मिला की ओर से आँखें मूँद ली थीं। हिन्दी के उपन्यास और नाटकों में स्त्री को महत्त्वपूर्ण स्थान मिलने लगा। प्रसाद जी ने अपने नाटकों में उस पुरुष हृदय की स्वामिनी, परोपकार की मूर्ति और कोमल भावों की सरिता बना कर उसकी सराहना की तो प्रेमचन्द जी ने अपने उपन्यासों में उसे भिन्न-भिन्न रूपों में आकर्षक बनाया। एक ओर ग्रामीण समाज में उसका स्थान निरूपित किया तो दूसरी ओर शिक्षा प्राप्त स्त्री के रूप में उसे पुरुष जगत में पहुँचाया। किन्तु इन सभी रूपों में आधुनिक नारी अपने ऊँचे मन और उदात्त गुणों से पूज्या बनी उसके शरीर की ओर ध्यान नहीं गया। ध्यान भी गया तो उसके सौन्दर्य की ओर। किन्तु स्त्री शरीर से भी सबल हो सकती है और पुरुष से लोहा ले सकती है, इसकी ओर ऐतिहासिक उपन्यासकार श्री वृन्दावन लाल वर्मा ने ही ध्यान दिया। यह बात नहीं कि मानवी गुणों से उनकी नायिकायें ओत प्रोत न हों, किन्तु कई में शारीरिक बल बहुत है और वे डटकर पुरुषों से लोहा लेती है। झांसी की रानी लक्ष्मी बाई बचपन में अपने से बड़े बालक को गोद में उठाकर घोड़े पर चढ़ा देती है। आगे वह बन्दूक चलाती है, स्त्रियों को मलखंभ सिखाती है और अंग्रेजों के छक्के छुड़ा देती है। पूरे उपन्यास में हम उसकी शारीरिक वीरता और मानसिक साहस से अभिभूत रहते हैं। मृगनयनी की निन्नी और लाखी भी ऐसी ही हैं। निन्नी या मृगनयनी एवं लाखी सुन्दर हैं किन्तु साथ ही वे शरीर से सुदृढ़ और सबल हैं। वे दोनों तीर चलाती हैं, शिकार खेलती हैं और अरने भैंसे तथा चार मुस्लिम सैनिकों का सामना करती हैं। निन्नी या मृगनयनी एक ही तीर से सुअर को मार डालती है (परिच्छेद ३ एवं ७) और लाखी अरने भैंसे को (७)। सुअर बड़ा भारी-भरकम था। कैसे ले जाया जाय यही टेढ़ी

समस्या सामने आ खड़ी हुई। लेखक के शब्दों में पढ़िए—"वे दोनों सुअर के पास लौट आईं। उन्होंने सुअर को उठाने का प्रयत्न किया किन्तु न बन पड़ा। निन्नी ताव पर आ गई।'

"इसकी दोनों टाँगें साधकर मैं पीठ करके बैठी जाती हूँ। पीठ पर उठाती जाऊँगी तुम पूरा बल लगा कर चढ़ा देना, अकेली लाद कर ले चलूँगी।

"अकेली?" लाखी ने आश्चर्य प्रकट किया।

"हाँ अकेली। पीठ पर लाद कर ले चलूँगी। वैसे हम दोनों नहीं ले जायेंगी"।

"तुम मेरे हथियार ले लो।"

काफी प्रयास के बाद निन्नी ने लाखी की सहायता से उस बड़े सुअर को पीठ पर लाद लिया। नदी के किनारे-किनारे वे दोनों चौथे पहर के पहले ही गाँव में आ गईं।

शारीरिक बल के साथ मानसिक साहस भी उस समय दर्शनीय है जब चार यवन सैनिक उन दोनों को घेर लेते हैं। सवार समझते थे कि इन दो नाजनियों को वश में करना कौन बड़ी बात है। लेखक के शब्दों में देखिए—

निन्नी ने तीखे पैने स्वर में रोका, "वहीं खड़े रहो। हमको क्यों छेड़ते हो?"

"शुरू शुरू में बाज बाज इसी तरह भड़कती रहती है, फिर असीसने लगती है। हुकुम की बन्दगी के लिये आये हैं हम लोग। घोड़ा पर सवार हो जाओ, इसके बाद तुम्हारे भी हुकुम के सामने सिर झुकायेंगे।" वह बोला। 'चुप' निन्नी कड़की, जैसे बिजली तड़क गई हो। सवार ने अपने पैदल साथी को लाखी को पकड़ने का इशारा किया और स्वयं झाड़ी का चक्कर काट कर निन्नी की बगल पर आया। उसने ठट्ठा मार कर कहा, "अच्छा! बर्छी लिए हो। और तीर कमान!! फजूल है, फेंक दो बर्छी। तुम्हारा—आपका नाम, मृगनयनी है।"

'हाँ' कड़क के साथ निन्नी के मुँह से निकला और वज्रमुष्ट की बर्छी का फल झन्न के साथ सवार के कवच को छेदकर पसलियों के भीतर जा धँसा। लाखी ने ताक कर दूसरे पैदल की आँख वाले छेद को निशाना बनाया। सन्न से छूट कर तीर आँख के भीतर दूर तक धँस गया। दोनों 'ओह' के साथ गिर कर तड़पने लगे। लाखी ने एक तीर घोड़े की गर्दन पर छोड़ा। वह भी गिर गया। तुरन्त निन्नी ने कमान को कंधे से उतार कर तरकश में से तीर निकाला और दो घुड़ सवारों में से एक पर छोड़ा। सवार तेजी के साथ मुड़ पड़े थे इसलिए तीर चूक गया। लाखी ने दूसरा तीर छोड़ा। एक झाड़ी की आड़ में आ गई थी इसलिये तीर ने एक पतले पेड़ की डाल को काटा

और वह गया। ......(१६)। यदि निन्नी या मृगनयनी ने नाहर को न मार डाला होता तो शेर शिकारी राजा मानसिंह का ही शिकार कर डालता। किन्तु इससे अधिक साहस और बल, दिखाया निन्नी एवं लाखी ने जब कि अरने भैंसे ने आक्रमण किया। लेखक इस आक्रमण का वर्णन करता हुआ कहता है—

"अरने ने जोर की हिड़कार लगाई और उनकी ओर पूँछ उठाये हुये आया। लाखी ने दूसरा तीर छोड़ा तीर ने उसके नथने को फोड़ पाया। अरना थोड़ा सा हिचका परन्तु अन्तर इतना कम रह गया था कि तरकस में से तीर निकाल कर प्रत्यञ्चा पर नहीं चढ़ाया जा सकता था। अरने की बड़ी-बड़ी लाल आँखों से अङ्गारे से छूट रहे थे और फुफकार में से फेन उड़ रहा था।

निन्नी ने कमान को एक ओर फेंक कर बर्छी उठाई और अरने की दिशा में सीधी की ही थी कि वह लपका। निन्नी पेड़ से एक पग आगे बढ़ आई। लाखी ने बगल से कमान की डोरी पर तीर चढ़ाया परन्तु छोड़ नहीं पाया। सिर को थोड़ा सा नीचा किये हुए उन दोनों को अपने माथे और सींगों की जड़ से पीस कर फेंक देने के लिए अरना और बढ़ा। उन दोनों का कचूमर निकालने के लिये एक क्षण ही और रह गया था कि निन्नी ने पूरे बल और वेग के साथ अरने के माथे पर बर्छी ठोंक दी। बर्छी तीर के कुछ ऊपर जाकर लगी। अरना उपेक्षा के साथ बढ़ता चला आया। निन्नी एक हाथ से बर्छी की डांड को पकड़े रही और पेड़ के तने से थोड़ी सी बगल काट गई अरना खाई हुई बर्छी समेत पेड़ से जा टकराया। निन्नी के हाथ से बर्छी छूट गई। मूठ पेड़ के तने पर अड़ गई।

अरने के अपने ही धक्के से बर्छी का फल माथे की हड्डियों को तोड़ता फोड़ता और भी धँस गया। निन्नी उछल कर पीछे हट गई। उसने अपना छुरा निकाल लिया। लाखी ने तीर कमान को फेंक कर अपनी बर्छी उठाई और अरने पर हमला करना चाहती थी कि अरना लड़खड़ा कर गिर पड़ा, चौपट हो गया। सिर हिलाने लगा और जल्दी-जल्दी फूसने लगा। उसको चक्कर आ रहा था परन्तु वह मरा नहीं था।

लाखी ने पूरी शक्ति के साथ उसकी कोख पर बर्छी चलाई परन्तु अरना लड़खड़ाते पैरों भी उठ खड़ा हुआ और बर्छी एक टांग को छीलती हुई धरती में धँस गई। मूठ लाखी के हाथ से सरक गई। लाखी अपने को निकाल कर पीछे हटी। उस छुरे के सिवाय उन दोनों के हाथ में अब और कोई हथियार न था।

निन्नी को केवल एक उपाय सूझा। उसने उछल कर अपनी ओर वाले एक सींग को दोनों हाथों से पकड़ कर अरने को प्रचण्ड वेग के साथ धक्का दिया। अरना मुड़ गया, हिल गया और धम्म से गिर गया"(२२)।

निन्नी और लाखी दोनों बलशाली शरीर में सबल दिल लिये थी और साहस की मूर्तियाँ थीं। लाखी का साहस दर्शनीय है जब राई गढ़ी पर सिकन्दर ने आक्रमण किया। अकेली लाखी ने अस्वस्थ होते हुये भी जो कुछ कर डाला वह अनेक योद्धा भी न कर पाते। इस समय लाखी ने अद्भुत वीरता का परिचय दिया और गढ़ी को बचा लिया। वह गढ़ी की देखभाल कर रही थी। सबकी आँखों में आलस्य भरा था। अटल को सुलाकर वह पहरा देने लगी। चारों ओर अतुल अंधकार का साम्राज्य था। शत्रु धीरे-धीरे किले पर चढ़ रहे थे। उसने असीम साहस का परिचय दिया और अकेली आक्रामक तुर्कों को एक-एक कर मारने लगी। लाखी पर भी तीरों की बौछार हुई। वह घायल भी हुई किन्तु उसने स्थान न छोड़ा। पसली उसकी छिद गई परन्तु साहस उसका अडिग रहा और वह गढ़ को बचा सकी (६८)। लाखी ने जिस प्रकार पहिले रस्सी काटकर नरवर के गढ़ को बचाया था उसी प्रकार प्राण देकर राई की रक्षा की।

वर्मा जी के उपन्यासों में प्रणय की रोचकता प्रधान है। वे युद्ध और संघर्ष के पीछे रोमांस को कथा में पिरोते चलते हैं। मृगनयनी में मुख्यतया लाखी और अटल की प्रणय कथा है जो आरम्भ से अन्त तक चलती रहती है। इस प्रणय कथा के द्वारा वे अन्तरजातीय विवाह का पक्ष लेते हैं। वर्मा जी ने अपने सभी ऐतिहासिक उपन्यासों में यह दृष्टिकोण उपस्थित किया है। मृगनयनी और मानसिंह का विवाह होता है किन्तु इस कथा में अधिक रोमांस नहीं भरा गया है। विराटा की पद्मिनी और कचनार में राजकीय पुरुषों का प्रणय वर्णित है, गढ़कुंडार में राजकीय पुरुषों एवं उनसे सम्बन्धित उच्चवर्गीय पात्रों में प्रणय भरा गया है, झाँसी की रानी में भी यही है किन्तु मृगनयनी में लाखी और अटल गाँव के निम्न वर्गीय व्यक्ति हैं। अन्त में लाखी इसी अन्तर्जातीय भिन्नता की बलिवेदी पर प्राण होम देती है। इस कथा द्वारा लेखक बताता है कि प्रेम मार्ग में जातीय भेद बाधक नहीं बनना चाहिए। पुराने ढाँचे में वर्मा जी इसी प्रकार से आधुनिक विचार एवं आधुनिक समस्याओं को पिरोते रहते हैं। श्रम-समस्या को भी लेखक ने उठाया है। शैव विजयजंगम राजा से कहता है कि शारीरिक परिश्रम प्रत्येक को करना चाहिए एवं ऊँच नीच का भाव छोड़ देना चाहिए (६) लेखक यह भी प्रदर्शित करता है कि ग्रामीण पुरुष बड़े धर्मभीरु होते हैं और इसी धर्म भीरुता की आड़ में पुजारी और ब्राह्मण किसानों को ठग लेते हैं। किसानों से अपना भाग माँगते हुए पुजारी कहता है "शास्त्र का वचन कभी न भूलो। छठवां भाग राजा का होता है सो तुमने दे दिया। बीसवां देवता का और तीसवाँ ब्राह्मण का। उसके देने में आनाकानी करने से यह लोक तो बिगड़ेगा ही परलोक से भी हाथ धो बैठोगे" (५)।

वर्मा जी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों को सुन्दर वर्णनों से खूब सजाया है। इन वर्णनों में बड़े आकर्षक हैं प्रकृति एवं युद्ध के वर्णन। वर्मा जी प्रकृति के पुजारी हैं।

फलतः वे प्रकृति का चित्रण जब समय मिलता है, कर देते हैं। सभी ऐतिहासिक उपन्यास सुन्दर प्रकृति चित्रणों से पूर्ण हैं। मृगनयनी में भी ऐसे कई चित्रण दिखाई पड़ते हैं। वर्मा जी को प्रिय है प्रकृति का भयानक रूप। फलतः वे अंधेरी रात, ठिठराने वाली सर्दी, जलाती हुई गर्मी और गरजती वर्षा के वर्णन में अधिक चाव दिखाते हैं। युद्ध के वर्णन में ऐसे प्रकृति चित्रों से सहायता पहुँचती है। अंधेरी रात के चित्र देखिये—

"अतुल अंधकार। निबिड़वन का कोई भी अंश नहीं दिखलाई पड़ रहा था। ऊपर तारे छिटके हुए थे। दूर की पहाड़ियाँ लम्बी तानें सोती सी जान पड़ती थीं। टेढ़ी तिरछी बहती हुई सांक नदी की पतली रेखा जरूर भांई सी मार रही थी। दूरी पर घेरा डालने वालों के डेरे की आग सुलग सुलग कर राई गढ़ी के संकट को जगा दे रही थी।

बरसाती रात में तो डांस मच्छर भी आक्रमण करते हैं इसका वास्तविक चित्र देखिए:—

"रात होते ही अंधेरा छा गया। गहरी काली घटाएँ। आकाश में चन्द्रमा के होते हुए भी चाँदनी का नाम नहीं। रुक रुक कर फुहार पड़ जाती थी। हवा चल रही थी परन्तु मच्छर झुण्ड बाँध कर टूट-टूट पड़ रहे थे। थोड़े से कपड़े परन्तु इतने कि शरीर को ढक लें। शरीर ढका नहीं कि गरमी और पसीने के मारे ठंडक के लिये फिर अंगों को बाहर निकालना पड़ता। फिर मच्छर और फिर गरमी और पसीने का क्रम।

बरसात का यौवन जब समाप्त होने को है तब जंगल की क्या दशा है, लेखक बड़ी तन्मयता से इसका विस्तृत वर्णन देता है—बरसात छीजने को आ रही थी। पानी कई दिन से नहीं बरसा था। इखरी बिखरी बदली छितरा छितरा जाती थी, परन्तु दिन में धूप और रात में तारे प्रायः निकल आते थे। दक्षिण की वायु वेग से चल उठी थी। परन्तु नदियाँ और बड़े नाले अब भी अपने उन्माद पर थे। ऊँची नीची पहाड़ियों और नदियों के बीच मैदान हरियाली से लद गये थे। जंगल में कोसों तक मैदानों और पहाड़ों के पार्श्वों पर वृक्ष, विशाल चमत्कार और हरियाली से भर गये थे। पहाड़ों की चोटियों के किनारे-किनारे लहलहाते वृक्षों के पंक्तिबद्ध समूह कंगूरों पर नाचते हुए मोरों जैसे प्रतीत होते थे। उन पर इधर से उधर उड़ते हुये सुओं, तोतों की पाँतें हरियाली की होड़ सी लगाती थीं। सुओं की लाल चोंचें उन पेड़ों पर उड़ते हुए लाल छींटें से जान पड़ते थे। नालों की ढी पर हरसिंगार फूल उठा था। मधुमक्खियाँ सन-सना कर इन फूलों से अपना कुछ संग्रह कर उठी थीं।

मार्ग ऊँचे घास से छा गये। बीच-बीच में कुछ अन्तर पर गुला सीला कीचड़

दिखलाई पड़ता था। मार्ग के दोनों ओर के बड़े-बड़े झाड़ ही बतला रहे थे कि उनके बीच में मार्ग है"।

कुहरे से भरे शीतमय प्रभात का रूप देखिए।

"उसी दिन सवेरे ही यकायक ठण्डी हवा चली और तीसरे पहर तक चलती रही। चौथे पहर झंझावात तो रुका, परन्तु ठण्ड बढ़ गयी। पश्चिमी पहाड़ियों के ऊपर सूर्य दमदमाती हुई बड़ी बिन्दी की तरह लग रहा था। किरणों का तीखापन मानों ठण्डी हवा के साथ कहीं उड़ कर चला गया था। ग्वालियर के उत्तर पूर्व और उत्तर पश्चिमी की पहाड़ियाँ धूम के कुहासे से रहस्यमयी हो रही थीं। पूर्व दिशा की आड़ी पहाड़ियों तक मैदान में किरणों ने मानो सुनहरी रज छिड़क दी हो।"

इसी प्रकार की प्रकृति की गोद में वर्मा जी का युद्ध खेलता है और प्रणय विचरता है। प्रकृति के रम्य रूपों का चित्रण भी उन्होंने किया है और सुन्दर किया है किन्तु यह रूप उनका अभिप्रेत रूप नहीं है। गढ़कुण्डार, विराटा की पद्मिनी एवं झाँसी की रानी में भी प्रकृति के अँधियाले और निर्मम रूपों को प्रधानता मिली है। मृगनयनी में चाँदनी रात का भी वर्णन है, चाँदनी में नदी के रमणीक दृश्य का चित्र खींचते हुए झट लेखक जंगल के भयदायक पशुओं का स्मरण करके चाँदनी की स्निग्धता और कोमलता को दूर भगा देता है—"खेत से थोड़ी ही दूर नदी बह रही थी। उसके एक सिरे का पानी बहता हुआ दिखाई पड़ रहा था। चन्द्रमा की रिपटती हुई झिलमिल जान पड़ती थी मानों चाँदी के आवरों पर आँवरे चिलचिला रहे हों। छोटी छोटी-सी आड़ी-सीधी लहरें उठ-उठ कर इन आँवरों को पहन-पहन लेती थीं। सम्पूर्ण लहरों का समूह चाँदी की उन चादरों को ओढ़ लेने की होड़-सी लगा रहा था। पवन के आने-जाने वाले झकझोरे इन आँवरों को और भी चंचल कर रहे थे। लहरों की कल-कल झोकों पर नाचती-खेलती हुई खेत के पौधों की झूम पर उतर-उतर पड़ रही थी। चन्द्रिका खेत के हरे पौधों की अधपकी बालों को अपनी कोमल उङ्गलियों से खिला-सा रही थी। हरी पत्तियों पर जमे ओस कण चमक-चमक कर बिखर-बिखर जा रहे थे। निकटवर्ती जङ्गल के लम्बकाय वृक्षों के बड़े-बड़े पल्लवों को खरभरा-खरभरा कर पवन मानों किसी दूर देश को चला जा रहा था। कभी सनसनाहट और कभी खड़खड़ाहट। इन्हीं ध्वनियों में होकर, नाहर से डरे हुए साँभरों और चीतलों की कभी तीक्ष्ण और कभी मन्द पुकारें।"

वर्माजी ने अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों के समान युद्ध वर्णन का भी बड़ा सुन्दर चित्रण किया है जिसमें वीरता, साहस, त्रास, भय सभी कुछ भरा है। ऐसा एक चित्र है राई के ऊपर आक्रमण का, जब लाखी ने गढ़ की रक्षा की और प्राण होम दिये (परिच्छेद ६७) उत्सवों में मृगनयनी में वर्णित होली का उत्सव पढ़ा जा

सकता है (१) कभी-कभी लेखक को वर्णन की धुन चढ़ जाती है और वह पृष्ठ पर पृष्ठ रंगे चले जाता है। गढ़ कुंडार में कुंडार की चौकियों का वर्णन ऐसा ही है जो उबाने वाला है। मृगनयनी में भौगोलिक एवं ऐतिहासिक वर्णनों का विस्तार अपेक्षाकृत कम है, तब भी कहीं-कहीं आवश्यक रूप से बढ़ गया है। नरवर का भौगोलिक एवं ऐतिहासिक वर्णन दो परिच्छेदों (३० एवं ३४) के लगभग चार पृष्ठों में है। इसी प्रकार ग्वालियर का इतिहास दो पृष्ठों तक चलता है (परिच्छेद १३)। प्रसन्नता की बात है कि वर्माजी ने मृगनयनी में ध्यान रक्खा है कि अत्यधिक वर्णन विस्तार न हो। गढ़कुंडार, विराटा की पद्मिनी एवं झाँसी की रानी में ये वर्णन बहुत मुँह फैला कर मार्ग में बैठ जाते हैं। हाँ, मृगनयनी में प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है जो उचित नहीं है। इसी कारण लेखक को नवीन संस्करणों में शब्दों के अर्थ अन्त में देने पड़े हैं। कुछ प्रान्तीय शब्द देखिये—भकूटों, आबरों, भीम, चड़ाकों, बिजूका, गिलाब, ढुंगों, कमठा, ततूरी, ठों, गदेली, डूंगर, तुंदी, भकुआ, कचुल्ला, तिगलिये इत्यादि। सूची विस्तृत है। थोड़े बहुत सुबोध एवं सरल प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग करना कोई दोष नहीं किन्तु उनका अत्यधिक प्रयोग दुर्बोधता एवं क्लिष्टता लाता है। वैसे मृगनयनी की भाषा पहिले के ऐतिहासिक उपन्यासों से अधिक पुष्ट और संशोधित है।

इस प्रकार ऐतिहासिक उपन्यास के तत्वों की कसौटी पर कसने पर मृगनयनी अत्यन्त रोचक, पुष्ट और प्रौढ़ उपन्यास सिद्ध होता है। अनेक आलोचकों की सम्मति है कि मृगनयनी वर्माजी का सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास है। कथा-प्रवाह, नायिका चित्रण, वर्णन सौन्दर्य एवं भाषा का विचार करते हुए इस मत में अत्युक्ति नहीं जान पड़ती है। मृगनयनी वास्तव में हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास जगत की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान कृति है जिसे मान भी पर्याप्त प्राप्त हुआ है।

दो 'झांसी की रानी'

"झांसी की रानी" लक्ष्मीबाई पर दो ऐतिहासिक उपन्यास हिन्दी में प्रकाशित हुए हैं। एक है "झांसी की रानी, लक्ष्मीबाई" श्री वृन्दावनलाल वर्मा का। यह १६४६ में अवतरित हुआ। दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास है, श्री शांतिनारायण का "महारानी झांसी" जो १६४७ में प्रकाशित हुआ; ठीक एक वर्ष बाद। दोनों ऐतिहासिक उपन्यास हैं। दोनों वृहद् काय उपन्यास हैं। किन्तु दोनों में अन्तर भी विशेष है, महान् है।

शांतिनारायण के उपन्यास 'महारानी झांसी' को ऐतिहासिक उपन्यास कहना ऐतिहासिक उपन्यास का अपमान करना है। यह शुद्ध इतिहास है, विषय की दृष्टि से भी और शैली की दृष्टि से भी। लेखक १८५७ के विद्रोह की घटनायें गिना रहा है। हां, उसका विशेष ध्यान झांसी पर है, और है उसकी महारानी पर। परन्तु वह महारानी झांसी की मृत्यु पर पुस्तक को समाप्त नहीं कर देता। वह तांतिया टोपी की कथा को आगे बढ़ाकर तांतिया पर पुस्तक का अन्त करता है। विद्रोह की घटनाओं पर विशेष ध्यान रहा है। बीच-बीच में इतिहासकारों की सम्मतियां उद्धृत हैं। शैली की दृष्टि से यह नितांत इतिहास है। जैसे इतिहास में कोई बात कह कर उसकी पुष्टि की जाती है, इतिहास, शिलालेख, पत्रों इत्यादि से, वही बात यहाँ है। लार्ड डलहौजी ने आज्ञापत्र रानी के पास भेजा उसे ७ पृष्ठों में (६४ से १०१ तक) दिया है। इसके बाद इस आज्ञापत्र के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों—मेजर इवालिसबेल, मि० डब्ल्यू० एम० टारमैन्स, मि० जान सैल बिन, के मत उद्धृत किए गए हैं। इसी प्रकार १४ वें अध्याय में १८५७ का विप्लव क्यों हुआ इसके कारणों की पुष्टि इतिहास की पुस्तकों, "अङ्गरेजी भारत में लार्ड डलहौजी का शासन काल" (पृ० १३६-४०) 'एशिया में अङ्गरेजी साम्राज्य' (१४१) एवं मैमोरियल्स नामक ऐतिहासिक पुस्तकों के उद्धरणों से की है। २४ वां परिच्छेद है 'सात दिन की लूट और भीषण हत्याकांड।'—पूरे परिच्छेद में कोई कथा नहीं। भिन्न-भिन्न ऐतिहासिकों के मतों को उद्धृत करके परिच्छेद को पूर्ण कर दिया गया है।

जहाँ कुछ कथा है भी, तो वह वर्णन मात्र है और ऐतिहासिक ढंग पर। महारानीजी का अन्त ३२ में परिच्छेद में है। वहाँ का थोड़ा-सा दर्शन कर लें। इतिहास है, या उपन्यास तुरन्त स्पष्ट हो जाएगा। "अपने रक्त पिपासु शत्रुओं की प्रबल सेना

में चहुँ ओर से घिर कर, शूर शिरोमणि महारानी लक्ष्मीबाईजी और उनके रण रसिक वीर सैनिकों ने अपने प्राणों का मोह त्याग दिया।.........

अङ्गरेज अश्वारोही भी बराबर उनके पीछे ही पीछे बढ़ते चले गए। उनमें से एक सवार तो इतना समीप जा पहुँचा कि उसने महारानी की स्वामिभक्त सेविका तथा सखी सुन्दरबाई को जा लिया। और उसके पास पहुँचते ही उस पर एक ऐसा वार किया कि वह "हाय बहन मैं मरी" कह कर घोड़े से धरती पर गिरते ही स्वर्ग सिधार गई। उसकी यह दीन पुकार सुनते ही महारानीजी अपना घोड़ा रोक कर, यमदूत के समान उस हत्यारे के सिर पर जा पहुँची और उन्होंने अपनी तीक्ष्ण तलवार के एक ही वार से उसका भी सिर धड़ से अलग कर दिया।........

दुर्भाग्य वश मार्ग में नहर का एक रजवाहा (नाला) आ गया। महारानी ने बहुतेरा प्रयत्न किया कि उनका घोड़ा उस रजबाहे को कूद कर निकल जाए, परन्तु ग्वालियरी अश्व शाला का घोड़ा भी, ग्वालियरी सेना के समान, पूरा-पूरा सहायक सिद्ध न हुआ और झिझक कर वहीं अटक गया।........

परन्तु शायद वीर हृदया महारानी के वीर जीवन का अन्त आ चुका था। अतः इस अड़ियल घोड़े को काबू में लाकर, रजबाहा कुदाने का प्रयत्न कर रही थीं कि कुछ अङ्गरेज अश्वारोही वहाँ पहुँचे और उन्हें अपनी इस घायल तथा अशक्त अवस्था में ही एक बार फिर उनसे दो-दो हाथ करने के लिए विवश होना पड़ा।

इसके पश्चात् लेखक ने यूरोपियन इतिहास लेखकों के मत उद्धृत किए हैं इस युद्ध के संबंध में। इन कई उद्धरणों द्वारा ही रानी की वीर गति का वर्णन कर छुट्टी पाई।

इसमें दो घटनाएँ आई हैं (१) सुन्दरबाई की मृत्यु, एवं (२) रानी की वीर गति। जब हम इन स्थलों को श्री वृन्दावनलालजी वर्मा की पुस्तक में पढ़ते हैं तो पता चलता है कि यहाँ इतिहास के आँचल में उपन्यास बैठा है।

रानी की वीर गति का वर्णन वर्माजी ने बड़ी रोचक शैली में किया है। कहानी में गति है, ६०, ६१, ६२ व ६३ वें परिच्छेदों में इतिहास एवं कल्पना के आधार पर इस कथानक को औपन्यासिक बनाया है। रानी के देह त्याग के बाद का कथानक तो बड़ा करुण एवं मार्मिक है। नीचे कुछ अपूर्ण पंक्तियों में उसका आभास मात्र है—

(६०) एक सङ्गीन बरदार की हूल रानी के सीने के नीचे पड़ी.....रानी ने सोचा "राज्य की नींव का पत्थर बनने जा रही हूँ" रानी के खून बह निकला।.....

एक अङ्गरेज सवार ने सुन्दर पर पिस्तौल दागी। उसके मुँह से केवल ये शब्द निकले "बाई साहब, मैं मरी,। मेरी देह........'भगवान" अन्तिम शब्द के साथ उसने एक दृष्टि रघुनाथसिंह पर डाली और वह लटक गई।........

घोड़े ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। एक गोरे ने पिस्तौल निकाली और रानी पर दागी। गोली उनके बायें जंघे में पड़ी।''''''अङ्गरेज सवार ने गुलमुहम्मद के पहुँचने से पहले ही तलवार का वार रानी के सिर पर किया''''''

दिन भरके थके-मांदे, भूखे-प्यासे, धूल और खून में सने हुए गुलमुहम्मद ने पश्चिम की ओर मुँह फेर कर कहा''खुदा, पाक परवर दिगार, रहम, रहम''

(६१) बाबा गङ्गादास ने पहिचान लिया बोले "सीता सावित्री के देश की लड़कियाँ हैं ये''''''रानी के मुँह से टूटे स्वर में निकला "ओं वासुदेवाय नमः''''''"

सूर्यास्त हुआ। प्रकाश का अरुण पुञ्ज दिशा के भाल पर था। उसकी अगणित रेखायें गगन में फैली हुई थीं। देशमुख ने बिलख कर कहा "झांसी का सूर्य अस्त हो गया,''''''बाबा गङ्गादास ने कहा "प्रकाश अनन्त है वह कण-कण को भासमान कर रहा है। फिर उदय होगा। फिर प्रत्येक कण मुखरित हो उठेगा।

(६२) बाबा गङ्गादास ने सचेत किया "झाँसी की रानी के सिधार जाने को अस्त होना कहते हो। वह अस्त नहीं हुई, अमर हो गई। उस घास की गञ्जी पर इन दोनों देवियों के शवों का दाह-संस्कार करो। अङ्गरेज इन लोगों की खोज में आते होंगे। शीघ्रता करो।''''''''

देशमुख कष्टपूर्ण स्वर में बोला—झाँसी की रानी के दाह के लिये लकड़ी भी सुलभ नहीं''''''

बाबा ने सिर उठाकर अपनी कुटिया की ओर देखा।''''''

बाबा भीतर से एक कम्बल, तूँबी, चटाई और लङ्गोटी उठा लाए। बोले—बस और कुछ नहीं है। जल्दी करो।'

आधी घड़ी में चिता प्रज्वलित हो गई। उस कुटी की भूमि पर रक्त बह गया था। उसको देशमुख ने धो डाला। परन्तु उन रक्त की बूँदों ने पृथ्वी पर जो इतिहास लिख दिया था, वह अमिट रहा।

इसके बाद ९३ वें अध्याय में गुलमुहम्मद की स्वामिभक्ति की कथा बड़ी हृदय द्रावक है। देशमुख, रघुनाथसिंह एवं गुलमुहम्मद में से प्रत्येक चिता के पास जान देना चाहता है। वे म्लेच्छों को पवित्र वीराङ्गना की राख छूने भी न देंगे। तो गुलमुहम्मद फकीर बन गया। रघुनाथसिंह कुछ दूर पर जाकर लड़ा—बहुतों को मारा और मरा ताकि चिता की हड्डियाँ राख बन जाँय।

गुलमुहम्मद चिता से कुछ दूर जाकर लेट गया। साफे के टुकड़े से अपने को ढका। बेहद थका हुआ था, सो गया। सवेरे जब आँख खुली देखा कि चिता के स्थान पर कुछ जली हड्डियाँ बाकी रह गई हैं उसके मुँह से निकल पड़ा "ओफ रानी साहब का सिर्फ यह हड्डी रह गया है। और उस हसीन लड़की का।"

फिर तुरन्त उसने मन में कहा "ओः कवी नहीं। वो मरा नहीं। वो कभी नहीं मरेगा। वो मुर्दों को जान बख्शता रहेगा।"

चिता के ठंडी हो जाने पर गुलमुहम्मद ने उस स्थान पर एक चबूतरा बाँधा, और कहीं से फूल लाकर उस पर चढ़ाए। अङ्गरेजी सेना का एक दल रानी की ढूँढ़-खोज में वहीं पर आया। गुलमुहम्मद से पूछा—"यह किसका मजार है साँई साहब" गुलमुहम्मद ने उत्तर दिया 'अमारे पीर का, वो बौत बड़ा बली था।'

'महारानी झांसी' में शांति नारायणजी ने झांसी के रानी के चरित्र को ऊँचा न उठाकर नीचे गिराया है। उनका युद्ध भारतीय स्वतंत्रता का संघर्ष नहीं, विद्रोह या विप्लव है। उन्हें क्यों युद्ध करना पड़ा है। अङ्गरेज इतिहासकारों व लेखकों ने उसे विवशता का युद्ध कहा। अङ्गरेजी पिट्ठू भारतीय इतिहास लेखकों ने आँख मूँद हाँ में हाँ मिलाई। शांतिनारायणजी ने भी उसी चश्मे से देखा। वास्तव में पुस्तक में चरित्र-चित्रण का प्रयास नहीं, उद्धरणों द्वारा वर्णन मात्र है।

रानी को आज्ञा सुनाई गई कि झांसी अङ्गरेजी राज्य में मिला ली गई। वह "प्राणान्तकारी चीख मार कर एक निर्जीव लोथ के समान गिर पड़ी।" उसे राज्य की निजी सम्पत्ति व आभूषण भी न मिले। उसे आशा थी कम से कम आभूषण व व्यक्तिगत सम्पति तो मिलेगी ही। पर निराशा हाथ लगी। बस फिर क्या कार्यक्रम था उनका "उन्हें आंसू बहाने के सिवा और कुछ सूझता ही न था।" (पृ० ११३) चारों ओर विद्रोह हो रहा था किन्तु रानी शांत थी; उदासीन थी। 'प्रभु इच्छा' समझ कर चुप थी। वह कहती थी "मुझे अङ्गरेज जाति की न्याय प्रियता से यह पूर्ण विश्वास है कि वह अन्ततः मेरे साथ अवश्यमेव न्याय करेगी" (पृ० १५०)। रानी किले में बन्द अँग्रेजों की बराबर सहायता करती रही। विद्रोहियों ने रानी के ऊपर हमला किया और ३ लाख रुपया मांगा। रानी डर गई। उसने अपने आभूषण जो सवा लाख के थे, देकर पिंड छुड़ाया। रानी ने झाँसी की बिगड़ी दशा देखी। एक पत्र सागर के अङ्गरेज अधिकारी को भेजा। अधिकारी ने उत्तर भेजा, जब तक कोई अफसर न पहुँचे, महारानी प्रबन्ध करें। इस प्रकार प्रबन्ध हाथ में लेकर सैनिक-शक्ति विद्रोहियों के भय से बढ़ानी आरम्भ की। ओरछा राज के विद्रोही दीवान नत्थे खाँ ने अँग्रेजों को रानी के विरुद्ध कर दिया। दूसरे जो पत्र रानी ने अपनी अङ्गरेज वफादारी के भेजे, वे अङ्गरेजों के पास पहुँचे नहीं, परिणामतः जनरल रोज ने चढ़ाई की। लेखक का कहना है कि अङ्गरेज व्यर्थ ही रानी से डरे। एक छोटी-सी रियासत की बिसात ही क्या थी? पर अफवाहों ने अङ्गरेजों को डरा दिया। अतः बड़ी सेना ले जनरल रोज ने आक्रमण किया। अब भी "अङ्गरेजों से कभी कोई टक्कर आ पड़ने का तो विचार तक भी उनके मन में कभी नहीं आ पाया था। कारण, वह अङ्गरेजों को जातीय रूप से फिर

भी इन विद्रोही सरदारों तथा उन सैनिकों की अपेक्षा कहीं अधिक सुनियमित और न्यायप्रिय समझती थीं" (पृ० २११)। रानी ने एक पत्र रोज को भी लिखा। उसमें अपनी सहायता का गुणगान किया एवं अपने को "अङ्गरेजों का हितैषी मित्र और प्रतिनिधि" बताते हुये अपनी भक्ति प्रकट की। परन्तु वह पत्र भी रोज के पास न पहुँच सका। आक्रमण हुआ ही।

"रानी को झांसी छोड़नी पड़ी। दुर्ग-द्वार से बाहर निकलते ही महारानीजी ने स्वतंत्रता तथा निश्चिन्तता का एक गहरा और लम्बा सांस लेकर ऐसा आनन्द अनुभव किया जैसे कोई कई वर्षों छोटे पिंजड़े में बन्द पक्षी अकस्मात ही ऊँचे असीम सुविशाल वायु मण्डल में स्वाधीन रूप से अपने पङ्ख खोल कर ऊपर नीचे मनमानी उड़ान भरने में अनुभव कर सकता है।" ऐसे विस्तृत और शिथिल वाक्य प्रायः पुस्तक भर में मिलेंगे। वाक्य तो शिथिल हैं ही, रानी के चरित्र को भी शिथिल कर दिया गया है। झाँसी एक पिंजड़े के तुल्य थी? महारानी उसे मानों प्यार न करती थीं। झाँसी छोड़ वे प्रसन्न हुईं। चरित्र कितना गिराया है? रानी का चरित्र और भी नीचे गिरता है आगे। रानी ने यह सब सङ्घर्ष क्यों किया? क्या देश की स्वतंत्रता के लिये? राम राम भजो! क्या व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये? हां, लेखक यही मत देता है। तांत्या जब रानी से सहायता की प्रार्थना करता है तो रानी उत्तर देती है "अब न तो मुझे जय पराजय की चिन्ता है, न राज पाट की ही कोई लालसा" (पृ० ३४२)। स्पष्ट है, राजपाट की "लालसा" (लालसा शब्द ध्यान देने योग्य है) अब तक रानी को प्रेरित करती थी। राजपाट की ओर से निराश हो अब रानी ने सोचा, चलो भारत माँ की भी दुहाई दे दो। जब राजपाट नहीं प्राप्त होता तो भारत माँ का ही नाम लो। अतः आगे वे कहती हैं "यदि कोई आकांक्षा है तो केवल यही कि मेरी भारत माता का सर ऊँचा हो"। (पृ० ३४२)। बड़ी देर बाद समझ में आया। रानी का 'वर्णन' पृथ्वी पर चित्त है तो 'तांत्याजी' का आकाश पर गर्व से खड़ा है। न पुस्तक में रानी के चरित्र की सम्पूर्णता है और न कोई मौलिकता।

इसके विपरीत वृन्दावनलाल जी ने इतिहास की खोज की। रानी के चरित्र को सम्पूर्णता दी, क्रमशः विकसित किया और ऊँचा उठाया। हम उनकी रानी पर गर्व करते हैं, उसे सदा हृदय के ऊँचे आसन पर स्थान देते हैं और श्रद्धा से उसके बलिदान के सम्मुख नतमस्तक होते हैं। वह बालिका रूप में वीर है, साहसी है और बचपन से ही अँग्रेजों से घृणा करने लगी है।

सरला बालिका प्रश्न करती है "ग्वालियर, इन्दौर, बड़ौदा, नागपुर, सतारा इत्यादि के होते हुए भी थोड़े से अँग्रेजों ने आप सब को दाब लिया" (पृ० ३-२५) बाजाराव ने उत्तर तो दिया पर वह ठीक था? वह पिता और बाजीराव के सामने

अपना विवाह कराने वाले ब्राह्मण, तांत्या दीक्षित की बात काटकर कहती है "पर कुछ लोग तो कहते हैं कि अँग्रेजों ने ऐसा जोर बाँध लिया है कि कोई सिर ही नहीं उठा सकता" (पृ० ४-२६)। वह कल्पना से इन अँग्रेजों के विरुद्ध शिवाजी, अर्जुन भीम बनाने की सोचा करती थी। छत्रपति शिवाजी इत्यादि के आधुनिक और अर्जुन, भीम इत्यादि के पुरातन आख्यानों ने मनू की कल्पना को एक अस्पष्ट और अदम्य गुदगुदी दे रक्खी थी (पृ० ५-३२)। नानाजी अवस्था में बालिका से कुछ ही बड़े हैं। अँग्रेजों की धाक मानते हैं "अब तो सब तरफ अँग्रेजों का चर चराटा है" परन्तु मनू ने हँसते-हँसते उत्तर दिया, "नाना साहब को कदाचित विश्वास नहीं होता कि अँग्रेज भी हराए जा सकते हैं" (पृ० ६-३८)।

विवाह हुआ। प्रौढ़ राजा अपने नाटक और नृत्य में लीन रहते थे, पर उस बालिका—अब झाँसी की रानी—ने इस कार्य के लिये झाँसी आना स्वीकार न किया था। उसके हृदय में एक ही शब्द गढ़ा था 'स्वतंत्रता'। पहली चोट हुई राजा पर। राजा ने पूछा क्या तुम्हें मेरी नाटक शाला पसन्द नहीं। रानी ने तुरन्त उत्तर दिया—'इन दिनों अब इससे अधिक हो ही क्या सकता है? राज्य का काम चलाने के लिये दीवान है। डाकुओं का दमन करने और प्रजा को ठीक पथ पर चालू रखने के लिये अँग्रेजी सेना है ही। इस पर भी यदि कोई गलती हो गई तो कम्पनी के एजेन्ट की खुशामद कर ली। बस सब काम ज्यों का त्यों मनमाना चलता रहा" (पृ० १६-८१)। प्रभाव राजा पर भी पड़ा। गार्डन को करारी फटकार दी। रानी राजा के इस व्यवहार से "बड़ी प्रसन्न हुई" उसने अपनी सब सहेलियों के सामने कहा—"......मुझको अपने राजा का, अपनी झाँसी का अभिमान है। मन को केवल एक कसर खटक रही है मुझसे और उस गार्डन से बात हुई होती तो मैं ऐसी करकरी सुनाती कि उसको अपने पुरखे याद आ जाते। मुझको दादा पेशवा ने बतलाया कि सौ सवा सौ वर्ष पहले इन अँग्रेज कौम ने हमारे देश में किन-किन उपायों से क्या-क्या किया। मेरा वस चले तो......" रानी ने दाँत पीसे और विशाल नेत्र तरेरे। (पृ० १६-६४)

रानी को राज-पाट न भोगना था। उसके हृदय में भारत माँ की पुकार थी। उसने किले के अन्दर स्त्री सेना तय्यार की। अबलाओं को मलखंब, तलवार, बन्दूक चलाना, तोप दागना सिखलाया। इस स्त्री सेना ने बड़े-बड़े अँग्रेज सैनिकों के स्वातंत्र्य संग्राम में दाँत खट्टे किये। ताँत्या रानी से मिलने आया। बच्चा दो माह का था। रानी ने उससे कहा था "टोपे! अभी समय नहीं आया है। घड़ा अपूर्ण है, अभी भरा नहीं है।......समर्थ रामदास का दिया हुआ स्वराज्य संदेश, छत्रपति शिवाजी का पाला हुआ वह आदर्श, छत्रसाल का वह अनुशीलन, अमर और अक्षय है"। रानी शक्ति संचय में लगी थी। वह जानती थी अभी समय नहीं आया है। देश को तय्यार

करना है। वह आगे कहती है तांत्या से "कान और आँख खोलकर समय की प्रतीक्षा करें......स्वस्थ होते ही अपने आदर्श के पालन में सचेष्ट हो जाऊँगी। अपने आदर्श को कभी न भूलना" (पृ० ११७)।

अपने कहने के अनुसार ही रानी ने किया भी। उसने तांत्या के द्वारा राजों और नवाबों में आग फूँकी, उन्हें संगठित करने का प्रयत्न किया। उधर झांसी को शक्तिशाली बनाया। रानी बड़ी दृढ़ थी। दृढ़ता के साथ कार्य करती थी। झांसी पर वह प्राण देती थी और झांसी उस पर। जब गवर्नर जनरल के फर्मान से झांसी उससे छीनी जाने लगी तो उसने पर्दे के पीछे से दृढ़तापूर्वक कहा—"मैं अपनी झांसी नहीं दूँगी"। झांसी स्वतंत्रता का प्रतीक थी, सैनिक संगठन का केन्द्र थी, माता की साक्षात प्रतिमा थी। रानी ने जब तक हो सका, झांसी की रक्षा की। जब झांसी के भीतर से स्वतंत्रता का युद्ध आगे न चला सकी तो झांसी के बाहर से उस आग को प्रज्वलित रक्खा। आगे का चरित्र तो और भी भव्यता एवं पूर्णता से चित्रित हुआ है। इस प्रकार क्रमशः विकसित कर रानी के चरित्र को वर्मा जी ने पूर्ण किया है। चरित्र-चित्रण बड़ी उत्कृष्ट कोटि का और सफल बन सका है जिसके लिये लेखक की प्रशंसा करनी ही पड़ेगी। उनकी रानी स्वतंत्रता के लिए लड़ी, यही घोष बार-बार होता है, रानी का चरित्र पुकार-पुकार कर कहता है। इसकी पुष्टि भी वर्माजी ने इतिहास से की है।

शान्तिनारायण जी के उपन्यास में कथोपकथन कहीं भूले भटके मिल जायँ तो मिल जायँ, नहीं तो वर्णन मात्र है। इस प्रकार वास्तव में यह पुस्तक इतिहास की है, उपन्यास की नहीं। इसके सामने वर्मा जी का ऐतिहासिक उपन्यास बड़ा सफल ऐतिहासिक उपन्यास है जो इतिहास के आधार पर सम्पूर्ण एवं सजीव कहानी कहता है।

कहानी और उसका हिन्दी में विकास

सृष्टि में वाणी के जन्म के साथ कहानी का जन्म हुआ होगा, यह सभी मानते हैं। वाणी की उत्पत्ति के साथ मानव ने कहानी कहना प्रारम्भ कर दिया होगा। जब आदि मानव वन में से शिकार खेल कर लौटता होगा तो आकर अपने घर इस प्रकार कहता होगा—अरे। वहां कुछ प्रकाश सा दिखाई दिया। अभी सूर्य का प्रकाश न हुआ था। वह प्रकाश उछल रहा था, अग्नि जैसा प्रकाश था। निश्चय ही वह कोई देवता था। पास में गुफा थी। मैं पशु की घात में छिपकर बैठा था। उस प्रकाश को मैंने प्रणाम किया। वह प्रकाश, मेरा प्रणाम स्वीकार कर अदृश्य हो गया। तभी मुझे पानी पर छप छप का शब्द सुनाई दिया। हड्डियों से निकले फासफोरस के अग्नि स्फुलिंगों को देखकर मानव ने ऐसी कुछ कल्पना की और अपने भाव-विचारों को दूसरों पर प्रकट किया। यह कहानी का ही तो रूप है। इसी प्रकार कभी वह वन में आग लगती देखता तो उसे देव या मानव समझ कर, उसमें जलते पेड़-पशुओं का वर्णन करता था।

लिखित रूप में सबसे पुराने ग्रन्थ वेद हैं। वेदों में हम कथा और आख्यान ये दो शब्द पाते हैं एवं इन शब्दों में प्रकट होने वाली कहानियां को भी देखते हैं। शुनः शेष की कथा, घोषा की कथा, कक्षी वान की कथा, वामनावतार की कथा एवं सूर्यो, पाख्यान। फलतः हम संस्कृत साहित्य में आगे भी कथा और आख्यान या उपाख्यान पाते हैं। उपनिषद काल में भी हमें अनेक कथाओं के दर्शन होते हैं जैसे सत्यकाम की कथा, नचिकेता की कथा, श्वेत केतु एवं उद्दालक की कथा।

कथा का पूर्ण विकास पौराणिक युग में हुआ। पुराण कुछ नहीं हैं, दीर्घ कथाएं हैं। बीच-बीच में उपाख्यान भी आते हैं। बौद्धों की जातक कथाएं भी संख्या में कम नहीं हैं। ऊपर लिखी सब कथाएं धार्मिक कथाएं हैं। संस्कृत में नीति कथाओं की भी कमी नहीं है। बृहत्कथा, कथा सरित्सागर, वैताल पंचाशिका, शुक सप्तति, सिंहासन द्वात्रिंशिका, पंच तंत्र, हितोपदेश—नीति कथाएं हैं। संस्कृत की ऐतिहासिक कथाओं में बाणभट्ट के हर्ष चरित का नाम लिया जा सकता है। रोमांचकारी कथाओं में दशकुमार चरित, वासवदत्ता एवं कादम्बरी गिनाये जा सकते हैं। महाभारत और रामायण में अनेक कथाएं एवं आख्यान संग्रहीत हैं। सत्य नारायण की धार्मिक कथा प्रसिद्ध ही है। लौकिक और दन्त कथाएं भी सदा से चलती रही हैं और चलती रहेंगी।

कथा और आख्यायिका या आख्यान में अन्तर क्या है ? दंडी दोनों का अन्तर समझाते हुए कहते हैं—कथा-काल्पनिक होती है, इसका वक्ता स्वयं नायक हो सकता है या अन्य कोई। इसमें प्राकृतिक एवं अन्य दीर्घ वर्णन हो सकते हैं, आख्यायिका—ऐतिहासिक या पौराणिक इतिवृत्त लिए होती है, इसका वक्ता सदा नायक होगा एवं इसमें वर्णन विस्तार नहीं होता। किन्तु दण्डी कहता है कि कथा और आख्यायिका का भेद मिटता जा रहा है।

हिन्दी में आकर कथा और आख्यान के अर्थों में परिवर्तन होगया है। आज हम कथा से अर्थ लेते हैं, कोई धार्मिक कथा जो विधि विधान से सुनाई जाती है, जैसे सत्य नारायण या भागवत् की कथा। आर्य समाज में वेद और उपनिषदों की कथा कहने और सुनने की परिपाटी चलती है। आख्यान से अभिप्राय है काल्पनिक कथा का जो प्रायः प्रेम सम्बन्धी होते हैं, सूफियों के प्रेमाख्यान प्रसिद्ध हैं। आख्यायिका को भी हम कल्पना प्रसूत कथा के रूप में ही लेते हैं। उपाख्यान का अर्थ है छोटा आख्यान, जो बीच-बीच में आते हैं किन्तु स्वतंत्र रूप में भी उपाख्यान लिखे जाते हैं। इनसे भिन्न है 'कहानी'। कहानी के दो रूप प्राप्त होते हैं—मौखिक रूप जो नानी की कहानी कही जाती है और कहानी का लिखित रूप जो साहित्यिक है एवं पश्चिमी विधान से प्रभावित है। हिन्दी की कहानी, संस्कृत से आती कथा एवं आख्यान परम्परा का विकसित रूप नहीं है वरन् इसके रूपविधान में पश्चिमी नियमों ने कार्य किया है।

कहानी क्या है ? पाश्चिमी विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से कहानी के सम्बन्ध में विचार किया है। ऐलरी साहब कहानी की तुलना घुड़ दौड़ से करते हैं। वे कहते हैं कि कहानी घुड़ दौड़ है। जैसे घुड़ दौड़ में आरम्भ और अन्त का महत्वपूर्ण स्थान है, उसी प्रकार कहानी में। हडसन साहब का कथन है कि कहानी में केवल एक ही प्रेषणीय भाव या विचार होना चाहिए। यही एक विचार या भाव, कहानी में पूर्वापर से गुथी शृंखला में बन्धा होना चाहिए। कहानी में एक लक्ष्य होना चाहिए और उसकी गति स्वाभाविक होनी चाहिए। सर ह्यू पोल का कथन है कि कहानी में वस्तुओं का वर्णन हो, वह अनेक घटनाओं से भरी हो, उसकी गति बड़ी तीव्र हो, एवं उसमें कौतूहल से भरा आकस्मिक विकास हो जो चरमसीमा पर पहुँच जाय और फिर नीचे उतरकर पाठकों को संतुष्ट करे। अपहम साहब का कथन है कि अंग्रेजी सौनेट के समान कहानी भी सब प्रकार के दोषों से रहित गठन वाली वह रचना है जो सजीव और स्वाभाविक हो। गीति काव्य के समान कहानी में केन्द्रीय एकता भी होनी चाहिए। पो साहब कहानी की रचना में स्थापत्य की सुन्दरता मानते हैं। वे कहानी की ऐसी गठन मानते हैं कि उसकी कोई कड़ी भी न सरकाई जा सके। कहानी में जीवन का कोई पहलू, अनुभव का कोई अंश, कोई

भौतिक समस्या, कोई आकर्षक दृश्य, कोई नाटकीय परिस्थिति, चित्रित होती है। ये विद्वान् कहानी में संक्षेप को आवश्यक मानते हैं। हडसन साहब की दृष्टि में कहानी एक ही बैठक में समाप्त हो जानी चाहिए। वेल्स साहब का मत है कि यह बीस मिनट में पढ़ी जाय। पो साहब का कथन है कि वह आध घंटे तक के समय की होनी चाहिए। हैड फील्ड साहब इतना ही कहते हैं कि वह बड़ी न हो।

हिन्दी के उपन्यास और कहानीकारों ने भी लगभग ऐसे ही मत प्रकट किए हैं। प्रेमचन्द जी कहते हैं कि अनुभूतियां ही कहानी का रूप लेती हैं और कहानी किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर आधारित होती है। प्रसाद जी की दृष्टि में कहानी किसी सौन्दर्य का पूर्ण चित्रण नहीं करती, वरन् उसकी एक झलक मात्र दिखाती है। श्री इलाचन्द्र जोशी कहानी में जीवन के संघर्ष की किसी विशेष परिस्थिति का स्वाभाविक चित्रण देखना चाहते हैं। डा० श्यामसुन्दरदास जी कहानी की परिभाषा देते हुए कहते हैं "आख्यायिका एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर नाटकीय आख्यान है"। बा० गुलाबराय का कथन है "छोटी कहानी एक स्वतः पूर्ण रचना है जिसमें एक तथ्य या प्रभाव को अग्रसर करने वाली व्यक्ति केन्द्रित घटना या घटनाओं के आवश्यक उत्थान-पतन और मोड़ के साथ पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाले वर्णन हों।" प्रभाकर माचवे कहते हैं कि कथा का साध्य केवल मनोरंजन ही नहीं है, वरन् मनोरंजन के साथ-साथ वह मानव मन को अधिकाधिक अन्तर्मुखी और सुसंस्कृत बनाती है।

सब मतों एवं विचारों के आधार पर कहानी में निम्नलिखित विशेषताएं मिलेंगी—

(१) कहानी आकार में छोटी होगी (२) कहानी में संवेदना की एकता होगी अर्थात् उसमें एक घटना, विचार, परिस्थिति, या भाव का चित्रण होगा। (३) कहानी में प्रबल प्रेषणीयता होनी चाहिए। वह आरम्भ से अन्त तक पाठकों को प्रभावित एवं तरंगित करे। (४) कहानी में शिल्प विधि का निर्वाह हुआ हो। (५) कहानी की नींव मानवी जगत् के सत्य भूखंड पर रक्खी हो। (६) कहानी मनोरंजक हो और वह हृदय में रस को उद्दीप्त करे। (७) कहानी में चरित्र विकास का पूरा ध्यान रक्खा गया हो। (८) कहानी की गति तीव्र और वक्र हो। (९) कहानी में कौतूहल को स्थान मिला हो।

हिन्दी कहानी का विकास

जन्मकाल—१८००-१९००

सन् १८०० से १८१० के बीच हिन्दी के तीन प्रसिद्ध कथा ग्रंथ निकले—लल्लूलालजी का प्रेमसागर, सदल मिश्र का नासिकेतोपाख्यान और रानी केतकी की कहानी। हिन्दी की इन आरंभिक पुस्तकों में से पहिली पौराणिक कथा है, दूसरी

अर्थात् नासिकेतोपाख्यान, आख्यान है और तीसरी कहानी है। किन्तु रानी केतकी की कहानी को हम हिन्दी की 'प्रथम' कहानी नहीं मानते हैं। कारण है कि यह अलौकिक घटनाओं से पूर्ण प्राचीन मौखिक कहानी की शैली पर लिखी गई है। इन तीन कथाओं के बाद हम किस्सों की घुड़दौड़ पाते हैं जिनके उदाहरण हैं किस्सा तोता मैना, किस्सा साढ़े तीन यार, किस्सा हातिमताई, दास्तान अमीर हमजा, किस्सा छबीली भटियारी। ये लम्बी कहानियाँ जनता के मनोविनोद के लिए निर्मित हुई थीं। भारतेन्दुजी का एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न भी इसी परम्परा की एक शृङ्खला है।

बाल्यकाल १६०० से १६१५ तक

सन् १६०० में दो कहानियाँ सामने आईं, पं० किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' और बा० पुरुषोत्तमदास टंडन की "भाग्य का फेर।" इन्दुमती में आधुनिक कहानी की अनुरूपता प्राप्त होती है फलतः 'इन्दुमती' हिन्दी की प्रथम कहानी स्वीकृत हुई है। सुदर्शन और सरस्वती पत्रिकाओं ने हिन्दी को कहानियाँ देने का सराहनीय कार्य किया और हिन्दी के कहानी कोष को अनेक कमनीय कहानियों से भरा। इन्दुमती का प्रकाशन सरस्वती में ही हुआ था।

माधवप्रसाद मिश्र की कहानी "मन की चंचलता" १६०१ में सुदर्शन में प्रकाशित हुई। माधवप्रसाद मिश्र की अन्य कहानियाँ "पुरोहित का आत्म त्याग, जापानी मारवाड़ी, यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद, बड़ा बाजार", भी सुदर्शन के उसी खण्ड में १६०१ में निकलीं। किन्तु ये कहानियाँ आख्यायिका शैली की हैं। आचार्य प्रवर पं० रामचन्द्र शुक्ल की कहानी "ग्यारह वर्ष का समय" १६०३ ई० में प्रकाशित हुई। दो आत्मकथाएँ भी इसी समय के लगभग सामने आईं—व्यंकटेश्वर नारायण त्रिपाठी की एक अशरफी की आत्म कहानी और यशोदानंदन अखौरी की इत्यादि की आत्म कहानी। पार्वती नन्दन की दो कहानियाँ "मेरा पुनर्जन्म" और "एक के दो-दो" १६०६ ई० में प्रकाशित हुईं। इसी वर्ष बंग महिला की पहिली कहानी "कुम्भ में छोटी बहू" सामने आई। बंगमहिला की दूसरी कहानी "दुलाई वाली" जो अत्यन्त प्रसिद्ध है, १६०७ में निकली। यह एक यथार्थवादी कहानी है।

१६०६ ई० में विद्यानाथ शर्मा की विद्या बहार, मैथिलीशरण गुप्त की "नकली किला" और वृन्दावनलाल वर्मा की "राखीबन्द भाई" कहानी प्रकाशित हुई। "राखी बन्द भाई" कहानी से वृन्दावनलाल वर्मा का ऐतिहासिक कहानीकार का रूप सामने आया। इस कहानी में कहानीकार ऐतिहासिक कहानी की दिशा में पूरे उत्साह और बल से लगा दिखाई पड़ता है। १६१० ई० में वर्माजी की दूसरी ऐतिहासिक कहानी "तातार और एक वीर राजपूत" निकली। इस कहानी से उनकी ऐतिहासिक कहानी लिखने की प्रतिभा चमकी। मैथिलीशरण गुप्त की दूसरी कहानी "निन्नानवे का फेर" प्रकाशित हुई।

सुदर्शन और सरस्वती के समान 'इन्दु' (१६०६ ई० से प्रारंभ) का प्रकाशन भी कहानी क्षेत्र के लिए वरदान था। प्रसादजी की सबसे पहिली कहानी 'ग्राम' (१६११) इसी पत्रिका में दिखाई पड़ी। इस कहानी से कहानी की आगे बढ़ती दिशा को एक मोड़ मिलता है। यह भारत के ग्रामीण जीवन की भावात्मक कहानी है। इसी वर्ष गंगाप्रसाद श्रीवास्तव वर्मा की "पिकनिक" कहानी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी "सुखमय जीवन" और "युद्ध का कांटा" प्रकाशित हुईं। प्रसादजी की दूसरी कहानी 'रसिया बालम' १६१२ ई० में इन्दु में ही प्रकाशित हुई। १६१३ ई० में दो और भावात्मक कहानी दिखाई पड़ती हैं। राधिकारमणसिंह की "कानों में कंगना" और पारसनाथ त्रिपाठी की "सुख की मौत"। पहिली कहानी का आरंभ बड़ा आकर्षक है जो एक वार्तालाप का रूप लिए है। दूसरी कहानी करुण रस की गहरी धारा में डूब कर चलती है।

युवाकाल १६१५–१६३६

१६१५ ई० से हिन्दी कहानी का युवा काल प्रारम्भ होता है। १६१५ में हिन्दी जगत की एक महत्त्वपूर्ण और परम प्रसिद्ध कहानी "उसने कहा था" अवतरित हुई जिसके लेखक हैं चन्द्रधर शर्मा गुलेरी। इसी वर्ष प्रेमचन्दजी ने 'सौत' नामक कहानी के साथ कहानी प्रदेश में प्रवेश किया। दोनों कहानियों ने अपना स्थान बना लिया है। प्रेमचन्दजी के प्रवेश के साथ हिन्दी कहानी का अत्यन्त समृद्ध युग प्रारंभ हो जाता है। १६१६ ई० में प्रेमचन्दजी की "पंचपरमेश्वर" कहानी प्रकाशित हुई। प्रेमचन्दजी की इन दोनों कहानियों ने जगत को बताया कि अब हिन्दी कहानी बाह्य एवं अन्तर— दोनों पक्षों की उत्कृष्टता को लेकर आ गई है। अब तक कहानी में कौतूहल पूर्ण कथानक की प्रधानता थी। प्रेमचन्दजी की कहानियों से चरित्र विकास, मानव मन आत्म प्रकाशन, तथा यथार्थ जीवन का आधार कहानी को मिला। इस वर्ष ज्वालादत्त शर्मा की तीन कहानियाँ "अनाथ बालिका", "भाव परिवर्तन", "विरक्त विज्ञानवाद" प्रकाशित हुईं एवं पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की कहानी "झलमल" झलमलाकर सामने आई।

इस युग ने हमें कई उत्कृष्ट और यशस्वी कहानीकार दिए हैं जिन पर हमें आज भी गर्व है और जिनके स्मरण मात्र से हमारा मस्तक ऊपर उठ जाता है। इनमें सब से प्रथम हैं प्रेमचन्दजी। प्रेमचन्द ने लगभग ३०० कहानियाँ लिखी हैं। इतनी अधिक संख्या में किसी दूसरे लेखक की कहानियाँ प्राप्त नहीं है। संख्या में ही नहीं, ये कहानियाँ गुणों में भी समृद्ध हैं। प्रेमचन्द ने कथा में कौतूहल का निर्वाह करते हुए भी चरित्र पर विशेष प्रकाश डाला, यथार्थ की भूमि पर खड़े होकर आदर्श को हाथ से न जाने दिया, ग्रामीणों, मध्यवर्ग और निम्नवर्ग

की समस्याओं को सामने रखा, राजनीतिक, सामाजिक एवं पारिवारिक परि-स्थितियों को जिह्वा प्रदान की एव मनोरंजन के साथ साहित्यिकता की रक्षा की। कहा-नियों में सब से बड़ी चीज है प्रेमचन्द की सरल, सरस और चलती भाषा, जो पाठक के मन को बलात् खींचती है। प्रेमचन्दजी की कुछ सुन्दर कहानियाँ हैं—पंच परमेश्वर, शतरंज के खिलाड़ी, ऐक्ट्रेस, मोटेराम शास्त्री, रानी सारंधा, अग्नि समाधि, आत्मज्ञान, सुजान भगत, बूढ़ी काकी, दुर्गा का मंदिर, राजा हरदौल, मंदिर और मस्जिद, बड़े घर की बेटी, विध्वंस, विक्रमादित्य की कटार, डिग्री के रुपये, सौत, ईश्वरीय न्याय, नमक का दारोगा, सती, लांछन, मंत्र, घर जमाई, घास वाली, जुलूस, पूस की रात।

इस युग के दूसरे प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण कहानीकार हैं—जयशंकर प्रसाद। प्रेमचन्द की नगरी काशी में रहते हुए प्रसादजी ने अपना कहानी क्षेत्र, पृथक् ही बनाया। ग्राम उनकी सब से पहिली कहानी है और 'सालवती' है अंतिम। उनकी ६६ कहानियों के पाँच संग्रह निकले हैं छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी और इन्द्रजाल। प्रसादजी भावुक कवि हैं। फलतः उनकी कहानियों में भावुकता मिलती है और व्याख्यात्मक वातावरण फैला दिखाई देता है। प्रसाद, प्रणय चिन्ह, सहयोग, गुदड़ी के लाल, अघोरी का मोह, विराम चिन्ह, ग्राम गीत, आकाश दीप, संनरण, व्रत भंग, विजया ऐसी ही भावात्मक कहानियाँ हैं। प्रसादजी में रहस्यात्मक प्रवृत्ति है और प्रतीकों के प्रयोग में वे सिद्धहस्त हैं। पत्थर की पुकार, खंडहर की लिपि, प्रलय, उस पार का योगी, ज्योतिष्मती, प्रतिध्वनि में यह प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। इसी प्रकार 'कलावती की शिक्षा' एक प्रतीकवादी कहानी है। प्रसादजी ने प्रेमचन्दजी की भाँति घटनाओं को प्रधानता नहीं दी है। वरन् वे पात्रों के चरित्र चित्रण पर अधिक ध्यान रखते हैं। प्रसादजी कुछ शब्दों से ही चरित्र को स्पष्ट कर देते हैं। हाँ, वे चरित्र की असाधारणता को पसंद करते हैं। भिखारिन, देवदासी, वैरागी, चूड़ी वाली, बिसाती, चित्र वाले, पत्थर, परिवर्तन, संदेह, आँधी, दासी, पुरस्कार आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं। किन्तु साथ ही कुछ कहानियों में उन्होंने घटना को भी महत्त्व दिया है, मधुआ, घीसू, नीरा, इन्द्रजाल, सलीम, हिमालय का पथिक, बनजारा, अपराधी में घटनाओं में छिपी कौतूहल प्रवृत्ति परखी जा सकती है। प्रसादजी इतिहास के अध्ययन में विशेष रुचि रखते थे, जिसके उदाहरण हैं उनके नाटक। उन्होंने ऐतिहासिक कहानियाँ भी लिखी हैं जैसे नूरी, सालवती, ममता। कहानियों में लेखक की नाटकीय वृत्ति भी दो रूपों में परिलक्षित होती है:—(१) संवादों में—प्रसादजी की कई कहानियाँ सरस संवादों से प्रारंभ होती हैं, उनके संवाद बड़े मार्मिक हैं। (२) नाटकीय वातावरण के रूपों में। प्रसादजी प्रेमचन्दजी के समान आदर्शवादी कलाकार हैं। जहाँ प्रेमचन्दजी की भाषा तुरन्त हृदय में प्रवेश कर जाती है

वहाँ प्रसादजी की संस्कृत निष्ठ, अलंकृत और भावपूर्ण भाषा आल्हाद देती है।

प्रेमचन्द जी के समान आदर्शवादी कहानी लेखक हैं बाबू बद्रीनाथ (सुदर्शन)। सुदर्शन जी ने प्रेमचन्द जी को आत्मसात् कर लिया है। सुदर्शन जी उर्दू से हिन्दी क्षेत्र में आए और १६२० में हिन्दी में कहानी लिखना आरंभ किया। सुदर्शन जी ने समाज को अपना केन्द्र बनाया है और समाज के भिन्न-भिन्न चित्र उनकी कहानियों में देखने को मिलते हैं। सुदर्शन जी की कहानियों में उत्सुकता बड़ी मात्रा में भरी है। वे प्रेमचन्द के समान यथार्थ जीवन को पकड़ कर आगे बढ़ते हैं और अन्त में सुधारवादी दृष्टि कोण सामने ले आते हैं। भाषा भी प्रेमचन्द जैसी है। सुदर्शन जी के कई कहानी संग्रह, सुदर्शन-सुमन, सुदर्शन सुधा, तीर्थ यात्रा, चार कहानियां, पनघट, प्रमोद, नगीना, नवनिधि, पुष्पलता, गल्प-मंजरी, सुप्रभात इत्यादि प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी कुछ कहानियां हैं—कवि की स्त्री (१६२३), हार की जीत (१६२५), सदासुख (१६२६-३०), एथेंस का सत्यार्थी, सूरदास (१६३१), संसार की सबसे पहली कहानी (१६३३)।

इस युग के अन्य यशस्वी कहानीकार हैं पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक। कौशिक जी ने १६१३ ई० से कहानी के क्षेत्र में प्रवेश किया और तुरंत ख्याति प्राप्त करली। कौशिक जी को उपन्यासों से अधिक कहानी लेखन में सफलता प्राप्त हुई। प्रेमचन्द जी के समान आपने भी लगभग तीन सौ कहानियाँ हिन्दी मां को अर्पित कीं। चित्र शाला (२ भाग), गल्प-मंदिर, प्रेम प्रतिभा, मणिमाला, कल्लोल आदि कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। कौशिक जी की कहानियों में कथा-कौतूहल बहुत है। किन्तु साथ ही उनमें चरित्र विकास भी पूरा है। पात्रों के मानसिक विश्लेषण में भी वे प्रवृत्त होते हैं। कौशिक जी का कहानी क्षेत्र समाज और परिवार है। कौशिक जी प्रसाद जी की नाईं कहानी का आरंभ बड़े रोचक ढंग से करते हैं। भाषा और शैली में वे प्रेमचन्दजी के पास हैं। प्रेमचन्द और सुदर्शन की भांति वे भी आदर्शवादी कलाकार हैं और जीवन सुधार में विश्वास रखते हैं। कौशिक जी की कुछ कहानियां हैं—ताई (१६२०), शान्ति (१६२०), पगली (१६२१) पत्नी (१६२३), पुरस्कार (१६२८), काकी (१६३०)। हिन्दी का कौन कहानी-पाठक उनकी ताई से अपरिचित होगा ?

पांडेय बेचन शर्मा उग्र एक बेजोड़ कहानी-शैली लेकर क्षेत्र में कूदे। उग्रजी एक प्रमुख शैलीकार हैं और उनकी शैली की टक्कर का कोई दूसरा कहानी लेखक नहीं है। उग्रजी की शैली में अलंकरण, लाक्षणिकता, व्यंग्य, प्रवाह, शक्ति, सरसता और उग्रता—सभी गुण भरे हैं। उग्र जी यथार्थवादी लेखक हैं और किसी भी प्रकार की रूढ़ियों के विरोधी हैं। उग्रजी स्वयं राजनीति की सरिता का अवगाहन कर चुके हैं अतः उन्होंने कहानियों में राजनीतिक विषयों को अपनाया है। इस क्षेत्र की कहानियाँ 'चिनगारियाँ' में संग्रहीत हैं। यह पुस्तक जब्त भी होगई थी। देशभक्त नामक कहानी

उनकी राजनीतिक कहानियों का अच्छा उदाहरण है। सामाजिक क्षेत्र में तो आपने धूम मचा दी थी। रूढ़ियों का विरोध करते हुए आप अतिरेक और उग्रता की सीमा पर जाने में भी संकोच नहीं करते हैं। समाज के छिपे अङ्ग का उद्‌घाटन करने के कारण आपके साहित्य को 'घासलेटी साहित्य' की उपाधि देदी गई थी। नग्नता और अश्लीलता का अतिरेक होने से "चाकलेट" पुस्तक भी जब्त हो गई थी, इसमें नग्न यथार्थ था। दोजख की आग में कहानीकार अतिरेक की उस सीमा तक नहीं पहुँचा है। 'चिनगारियाँ' और दोजख की आग के अतिरिक्त उग्रजी के अन्य कहानी संग्रह हैं इन्द्रधनुष, निर्लज्ज रेशमी इत्यादि। इस युग के एक दूसरे शैलीकार हैं चंडीप्रसाद हृदयेश। उग्रजी ने प्रवाहपूर्ण भावात्मक शैली को अपनाया तो हृदयेशजी ने कलापूर्ण अलंकृत शैली को जिसमें अनुप्रासों, उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लग जाती है। अपनी कहानियों में हृदयेश जी ने बाण का अनुगमन किया है। हृदयेश जी के दो कहानी संग्रह हैं 'नन्दन निकुञ्ज' और 'वनमाला' उनकी कुछ कहानियाँ हैं साधना, करुण कथा, प्रायश्चित, समर्पण, उन्मादिनी, शान्ति निकेतन, पर्यवसान।

जैनेन्द्रजी ने भी इस युग में कहानी लिखकर आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। उग्रजी और हृदयेश के समान जैनेन्द्रजी भी अपनी एक विशेष शैली को लेकर आए और उनकी शैली को दार्शनिक शैली का नाम दिया जाता है। वास्तविकता यह है कि वहाँ दार्शनिकता नहीं है, लेखक अपनी बात सीधे ढंग से न कहकर घुमा फिरा कर कुछ विचित्र ढंग से कहता है और विचार करने बैठ जाता है। फलतः हम कह देते हैं—ओह! दार्शनिकता भरी है। जैनेन्द्रजी ने अपने कहानी साहित्य में नारी को केन्द्र बनाया है। घटना और चरित्र का चक्र, नारी के चारों ओर घूमता है। कहानियों में लेखक ने नारी की व्यक्तिगत और सामाजिक समस्याओं को मनोवैज्ञानिक ढंग से पकड़ा है। नीति और अनीति क्या है, इसकी चिन्ता न करके जैनेन्द्रजी मनोविज्ञान के आधार पर चरित्र को घुमाते हैं। फलतः वे प्रायः असामाजिक हो जाते हैं। नारी में लेखक का अटूट विश्वास है और वह समाज की बागडोर नारी के हाथ में थमा देता है। वह ऊँचे स्वर से नारी का गौरव बखानता हुआ कहता है "पुरुष कुछ नहीं बनाता बिगाड़ता जो कुछ बनाती बिगाड़ती है स्त्री ही" (परख और स्पर्धा)। जैनेन्द्र कहानियों में असाधारण परिस्थितियों को उत्पन्न करने में बड़े कुशल हैं। उनके कहानी संग्रह हैं—वातायन, स्पर्द्धा, फाँसी, पाजेब, जय संधि, एक रात, दो चिड़ियाँ आदि।

पं० विनोदशंकर व्यास ने भी इस युग में कहानी लेखक के रूप में अपना स्थान सदा के लिए बना लिया है। आपकी कहानियाँ छोटी होती हैं किन्तु पात्र भी उनमें दो-चार ही हैं। उनमें कहानी के सभी आवश्यक गुण प्राप्त होते हैं। प्रसादजी

के समान आपने भाव प्रधान कहानियों का सृजन किया है। आपके कहानी संग्रह हैं— तूलिका, भूली बात, मधुकरी (२ भाग), नव पल्लव, उसकी कहानी, मणि दीप आदि। पं० जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' भी इस युग के ऐसे कहानीकार हैं जो विस्मृत न होंगे। आपकी कहानियों में करुण-निर्भर मुखरित हैं एवं उन्हें पढ़ते ही पाठक तुरन्त प्रभावित होकर भाव विभोर हो जाता है। ये कहानियाँ भाव प्रधान हैं और काव्य-रस से सम्पन्न हैं। किसलय, मालिका, मृदु दल, मधुमयी आदि आपके कहानी संग्रह हैं।

जैनेन्द्रजी के सदृश मनोविज्ञान की आधार-शिला पर यथार्थवादी कहानी-प्रासाद के निर्माण कर्त्ता अज्ञेय एवं इलाचन्द्र जोशी इसी युग की देन हैं। अज्ञेयजी की प्रत्येक कहानी में कोई राजनीतिक या सामाजिक चिनगारी दीखेगी। वे किसी चरित्र को केन्द्र मान कर वह चिनगारी उसमें फूँक देते हैं और कहानी का ढाँचा तय्यार करने लगते हैं। संघर्ष के बाह्य रूप से अन्तःसंघर्ष अधिक विस्तृत और महत्त्वपूर्ण है। एक ओर तो पीड़ित हृदय आशा-निराशा के झूले में झूलता हुआ पीड़ितों और शोषितों से सहानुभूति दिखाता है, तो दूसरी ओर भावुक हृदय उन आशा निराशाओं में भावना के रंग की कूची फेरता है। ये कहानियाँ चरित्र प्रधान हैं अपनापन सबके सामने कभी छिपकर, कभी मुड़कर खोल देती हैं। रोज, हरसिंगार, विपथगा आदि उनकी कहानियाँ हैं। इसी प्रकार के मनोवैज्ञानिक कहानीकार हैं इलाचन्द्र जोशी जो प्रसाद के प्रभाव से पूर्ण हैं। उनकी पहली कहानी सजनवा १६२० ई० में निकली थी। तब से अनेक कहानियाँ जोशीजी लिख चुके हैं। जोशीजी की कहानियाँ अपनी पूरी कला का निखार लेकर सामने आती हैं। समाज के मध्यम एवं निम्न वर्ग को लेकर जोशीजी ने नैतिक आदर्शों का विश्लेषण किया है। जोशीजी कभी भी वास्तविकता एवं स्वाभाविकता को हाथ से नहीं जाने देते। आप फ्रॉयड के आधार पर मनुष्य की वृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं एवं मनुष्य के अहं को सामने लाते हैं, उपेक्षिता, चरणों की दासी, जीत या हार आदि उनकी कहानियाँ हैं।

इस युग ने अन्य अनेक कहानीकारों का भी दर्शन कराया जिनमें मुख्य हैं— वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, ज्वालादत्त शर्मा, शिवपूजन सहाय, शिवनारायण द्विवेदी, डा० धनीराम प्रेम, पदुमलाल पन्नालाल बख्शी, प्रफुल्ल ओझा मुक्त, सियाराम शरण गुप्त, श्री नाथसिंह, श्रीराम शर्मा, निरालाजी, रायकृष्णदास, सद्गुरुशरण अवस्थी। कहानियों के भी कई वर्ग प्राप्त होते हैं जैसे— भावनात्मक कहानियाँ, आदर्श कहानियाँ, यथार्थवादी कहानियाँ, मनोवैज्ञानिक कहानियाँ, मनोविश्लेषणात्मक कहानियाँ।

प्रौढ़ काल १६३७ से आज तक—

प्रेमचन्दजी के लेखनी छोड़ने से हमारे आधुनिक युग का आरंभ होता है जो कहानी का प्रौढ़ काल है। पिछले युग के प्रायः सभी जीवित कहानी लेखक कहानी

क्षेत्र की शोभा वृद्धि कर रहे हैं। अज्ञेयजी अपनी मनोविश्लेषणात्मक कहानी के साथ प्रभाववादी कहानी लिख रहे हैं। अज्ञेयजी ने बहुत-सी कहानियाँ लिखी हैं विपथगा, परम्परा, कोठरी की बात, जयदोल आपके कहानी संग्रह प्रकाशित हुए हैं। पं० इलाचन्द्र जोशी भी बराबर कहानी लिख रहे हैं रोमांटिक और छाया, आहुति, दीवाली और होली, ऐतिहासिक कथाएँ आदि कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

इस युग के कहानी लेखकों में भगवतीप्रसाद वाजपेयी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वाजपेयीजी मनोविज्ञान के आधार पर आपका विकास दिखाते हैं और कथा को बहुत महत्त्व नहीं देते हैं। वाजपेयीजी की "मिठाई वाला" कहानी बहुत प्रसिद्धि पा चुकी है। हिलोर, पुष्करिणी, खाली बोतल उनके कहानी संग्रह हैं। भगवतीचरण वर्मा की कहानी बड़ी रोचक होती है। हास्य एवं व्यंग्य के छींटे पाठक के हृदय को सींचते चलते हैं। यही वर्माजी की भाव प्रधान कहानियों की विशेषता है। इनमें पात्रों की संख्या कम होती है। मानव मन के असंतोष क्षोभ, दुख, ग्लानि, दर्द, कराह का चित्रण इनमें मिलेगा। इंस्टालमैंट, दो बांके, आपके कहानी संग्रह हैं।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने भी कहानी क्षेत्र में बहुत प्रसिद्धि पाई है। लेखक कहानियों में दैनिक जीवन की अति सामान्य घटनाओं को चुन कर प्रभाव पैदा करता है। प्रभाव प्रधान कहानियों में विद्यालंकारजी का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। कई भिन्न चित्रों को खींचकर लेखक उन्हें जोड़ देता है, बस कहानी तय्यार है। चन्द्रकला, अमावस—विद्यालंकारजी के कहानी संग्रह हैं। आपकी कुछ कहानियाँ हैं—काम-काज, क ख ग, ताँगे वाला, डाकू, चौबीस घंटे, एक सप्ताह आदि। कमलाकान्त वर्मा ने कहानियों की संख्या पर ध्यान नहीं दिया है, उत्कृष्टता पर दिया है। लेखक हमें विश्वास के साथ जीवन की साधारण गतियों में ले चलता है, सहसा कुछ असाधारण देकर अदृश्य हो जाता है और हम खड़े देखते रह जाते हैं, कि यह क्या है? इनकी कहानी "बाजी" इसी कला के कारण प्रसिद्धि पा चुकी है, खंडहर, तकली, पगडंडी आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क, प्रेमचन्द एवं सुदर्शन की भाँति उर्दू से हिन्दी में आए हैं। अश्कजी ने भाषा शैली भी प्रेमचन्द-सुदर्शन की अपनाई है। वातावरण चित्रण में अश्कजी विशेष दक्ष हैं। अश्कजी हमारे जैसे मानवों को हमारे बीच छोड़ देते हैं, उनसे हम परिचित हैं, उनके सुख-दुख में हँसते-रोते हैं। इसमें सहायक है उनकी सरल भाषा। उनके कहानी संग्रह हैं—पिंजरा, निशानियाँ इत्यादि।

यशपाल जी पूरे यश के साथ हिन्दी क्षितिज पर उदय हुए हैं। आपने बहुत बड़ी मात्रा में कहानियाँ लिख डाली हैं और अभिशप्त, वो दुनिया, ज्ञान दान, तर्क का तूफान, पिंजड़े की उड़ान, आहुतियाँ, भस्मावृत चिन्गारी, फूलों का कुर्ता, धर्म युद्ध, उत्तराधिकारी, चित्त का शीर्षक आदि संग्रह हैं। यशपालजी प्रचारवादी कहानीकार

हैं और कहानियों के द्वारा साम्यवाद के सुन्दर चित्र सामने रख देते हैं। कभी-कभी प्रचार के अतिरेक से कला को धक्का भी लग जाता है। यशपाल को जीवन और जगत का बड़ा अनुभव है जो उनकी कहानियों में बोलता है। मोहनलाल महतो वियोगी ने संख्या में तो कहानियाँ बहुत अधिक नहीं लिखी हैं किन्तु वे एक नवीन शैली को लेकर चले हैं। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के समान आपकी कहानियाँ भी प्रभाववादी हैं किन्तु अन्तर यह है कि आप एक मुख्य भाव को लेकर पुराण कथा का रूप देते हैं और भिन्न-भिन्न चित्रों से एक सामूहिक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। आपकी कुछ सामाजिक कहानियाँ बड़ी मार्मिक हैं। कवि का कुछ रूप कहानियों में आ गया है और कहानियाँ सरलता ग्रहण कर लेती हैं। बीच-बीच के वर्णन बड़े काव्यमय हैं।

सत्यजीवन वर्मा भारतीय ने कहानियाँ थोड़ी ही लिखी हैं किन्तु वे अनुभव एवं कला से पूर्ण हैं। भारतीयजीने पशु जगत से सम्बद्ध अनेक सुन्दर कहानियाँ हिन्दी को दी हैं जिनमें शिशु-मनोविज्ञान की सुन्दर झलक मिलती है। ये कहानियाँ बड़ी मार्मिक हैं। पशु जगत् से सम्बद्ध होते हुए भी ये सजीव, स्वाभाविक एवं मनोरंजक हैं। कहानियों में मानवी सहानुभूति को लक्ष्य बनाया गया है। भारतीयता के दर्शन वहाँ होते ही हैं। आपके कहानी संग्रह हैं—मिस ३५ का पति निर्वाचन, सुनसुन, आख्यानमयी, गृहिणी, भूकम्प। भारतीयजी की कहानी "सुनसुन" को बड़ी प्रसिद्धि मिली है। पं० सद्गुरुशरण अवस्थी की कहानियों में अन्तर्जगत का सुन्दर विश्लेषण मिलता है। बीच-बीच में व्यंग्य, मनोहर वर्णन और विचार बहुलता का पुट है। 'फूटा शीशा' संग्रह की कहानियाँ इन विशेषताओं से भरी हैं। रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी' अपनी कहानियों में यौन भावना एवं मनोविज्ञान के पुट से चरित्रों को चमका देते हैं। कहानियों का अन्त बड़ा आकर्षक और कलात्मक है। सड़क पर, बरगद की जड़ें, आदि कई संग्रह पहाड़ी जी के प्रकाशित हो चुके हैं।

हिन्दी में कहानी साहित्य आज बड़ी लम्बी डगें भर रहा है और सैकड़ों कहानीकार इसकी शोभा वृद्धि कर रहे हैं जिनमें से कुछ के नाम हैं—ब्रजमोहन गुप्त, देवेन्द्र सत्यार्थी, नरेन्द्र, अमृतराय, राजेश्वरप्रसाद सिंह, रामचन्द्र टंडन, रायकृष्णदेव गर्ग, बिन्दु ब्रह्मचारी, रांगेय राघव, रामचन्द्र श्रीवास्तव 'चन्द्र', ब्रजकिशोर नारायण, विष्णु प्रभाकर अथवा प्रभाकर माचवे, अंचल, शांतिप्रसाद वर्मा, वीरेन्द्रकुमार, मोहनलाल उपाध्याय, जिज्ञासु, अनन्तप्रसाद विद्यार्थी, मुकुल, सुशील, सुधांशु, वाचस्पति पाठक, हीराकुमार तिवारी, अजमत हुसैन रायपुरी, आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव, अनन्तगोपाल शेवड़े, धर्मवीर, माधव, रघुवीरसिंह, ऋषभचरण जैन, कृष्णानन्द गुप्त, कन्हैयासिंह, नलिन, कृष्णलाल वर्मा, किशोर साहू, रघुवंश, बंसल, मोहनसिंह सेंगर, बलदेवप्रसाद मिश्र, देवीदयाल, रामप्रताप, व्यथित, क्षितीन्द्रमोहन मिश्र, नानकचन्द टंडन, जितेन्द्रनाथ,

विष्णु प्रभाकर, मन्मथ गुप्त, बिनायक राव, मार्कण्डेय, राजेन्द्र, चन्द्रकिरण सोनरिक्सा, शकुन्तला, रमेश जोशी, निर्मलचन्द्र, विपुलादेवी, नन्दकुमार इत्यादि ।

प्रेमचन्दकाल और आज की कहानी में बहुत बड़ा अन्तर आ गया है। संसार की राजनीतिक हलचलों ने कहानीकारों के हृदयों को हिलाया है, विशेषकर रूस की साम्यवादी विचारधारा ने। काव्य क्षेत्र में प्रगतिवाद के रूप में इसने प्रवेश किया। कहानी के क्षेत्र में भी इसको जिह्वा मिली है, प्रधानतया यशपाल की कहानियों में। मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण ने कहानी क्षेत्र में अंगद के पैर जमा लिए हैं और प्रायः सभी कहानीकार इनके नीचे बैठकर कहानी के पात्रों को देखते हैं। साथ ही फ्रॉयड का प्रभाव भी कहानियों में परिलक्षित होता है। इसके फलस्वरूप कहानी की घटनाओं के घटाटोप में क्षीणता आई है, और चरित्रों पर ध्यान अधिक केन्द्रित हुआ है। जैनेन्द्र की 'मास्टरजी' एवं 'एक रात', अज्ञेय की 'रोज' एवं पठार का धीरज, इलाचन्द्र जोशी की "मैं, मेरी डायरी के नीरव पृष्ठ" में ये विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। अज्ञेयजी मनोग्रन्थियों के विश्लेषण पर विशेष ध्यान देते हैं।

आज की कहानी में सांकेतिकता, बिम्ब विधान एवं प्रतीक योजना—ये तीन विशेषताएँ देखने को मिलेंगी। सांकेतिकता का प्रयोग केवल अन्त में या किसी विशेष स्थल पर नहीं होता, कहानी के पूरे ढाँचे में इधर-उधर बिखरा मिलता है। इससे प्रभावोत्पादन में विशेष सहायता, कहानी लेखक को मिल जाती है। निर्मल वर्मा की कहानी परिन्दे, कमलेश्वर की 'पानी की तस्वीर' में सांकेतिकता देखी जा सकती है। अन्तर्द्वन्द्व आज भी कहानी में मिलेंगे, किन्तु कहानीकार प्रयास पूर्वक विशेष विशेष स्थलों पर इन अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण नहीं करता है वरन् स्वाभाविक रूप से ये अनायास कहानी में आ जाते हैं। इससे कहानी अधिक सजीव एवं स्वाभाविक हो उठी है। अमरकान्त की कहानी डिप्टी कलक्टरी एवं अज्ञेय की कोठरी की बात में यह विशेषता देखी जा सकती है। कहानी में प्रतीकों का प्रयोग भी बराबर हो रहा है। यह विचित्र बात है। अजित कुमार की झुके गर्दन वाला ऊँट, शेखर जोशी की कोसी का घरबार एवं निर्मल वर्मा की दहलीज में बिम्बों की प्रेषणीयता प्राप्त होती है। कविता के प्रयोगवाद की भाँति कहानी में भी रूप विधान के अनेक प्रयोग हो रहे हैं। इससे कहानी कला का सौंदर्य बढ़ा है। कहानीकार तरह-तरह के कलात्मक प्रयोग करके कहानी के कलेवर को संवार रहे हैं। नई कविता की तरह आज की कहानी को नई कहानी कहने का फैशन भी चला है। यह कहना ही पड़ेगा कि आज की कहानी की गति तीव्र है, उसका रूप सुधरा है, उसमें जवानी आई है और वह समृद्ध साहित्यांग का रूप ले रही है।

निबंध पाठ

निबंध और हिन्दी में उसका विकास

निबंध शब्द संस्कृत से आया है और ऐस्से (Essay) का पर्याय माना जाता है। संस्कृत से यह शब्द मात्र ग्रहण किया गया है अन्यथा संस्कृत में निबंध जैसी कोई गद्य-विधा नहीं है। उपन्यास की नाईं निबंध भी पश्चिम की देन है और फ्रांसीसी सज्जन मौन्टेन इसके जन्मदाता थे जिनका निबंध संग्रह १५८० में प्रकाशित हुआ था। पहिले हिन्दी में निबंध जैसी कृतियों के लिए कई शब्द प्रचलित थे और कुछ अब भी हैं। प्रभाकर परीक्षा के लिए बा० गुलाबराय का निबंध संग्रह "प्रबंध प्रभाकर" प्रसिद्ध है। एक अन्य संग्रह "प्रबंध प्रकाश" भी चलता था। पंजाब में 'प्रस्ताव' शब्द भी निबंध के लिए चला था किन्तु अब यह निबंध के पर्याय रूप में कहीं व्यवहृत नहीं होता, केवल कुछ पुराने पंजाबी अध्यापक अब भी इसके मोह में अपना मत दे दिया करते हैं। 'संदर्भ' भी निबंध के लिए प्रयुक्त हुआ था। अब इसका प्रयोग इस अर्थ में नहीं होता है। आज निबंध के प्रतिद्वन्द्वी रूप में दो शब्द हैं, प्रबंध और लेख। धीरे-धीरे तीनों का क्षेत्र बनता जा रहा है। आज ऐस्से के लिए निबंध शब्द रूढ़ हो चुका है। शोधमय एवं गम्भीर सैद्धान्तिक विस्तृत निबंध को 'प्रबंध' कहते हैं। प्रबंध ट्रीटाइज़ (Treatise) एवं थीसिस (Thesis) के लिए प्रयुक्त हो रहा है। हाँ, लेख और निबंध पर्याय रूप में प्रयुक्त हो जाते हैं। किन्तु निबंध और लेख में अन्तर है। निबंध एक साहित्यिक गद्य-विधा है जिसमें लेखक का व्यक्तित्व सदा खड़ा रहता है। लेख, गद्यविधा तो अवश्य है किन्तु इसमें साहित्यिकता पर बल नहीं होता है और इसमें विषय पर अधिक बल रहता है। भौगोलिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक वस्तुओं पर लिखी गद्य-विधाएँ लेख होंगी, निबंध नहीं। हां, यदि किसी लेख में साहित्यिकता सजा दी गई तो वह लेख हो जाएगा। पत्रिकाओं में प्रायः लेख ही छपते हैं, निबंध तो कभी-कभी स्थान पाते हैं। लेख का उद्देश्य है, पाठकों को सूचनाएँ देना और विषय के संबंध में विस्तार से कुछ बताना। निबंध में निबंधकार साहित्यिकता भरता है, कला का रूप संवारता है और अपनी बात कहता है।

निबंध की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। पश्चिमी विद्वानों की परिभाषा और हिन्दी के कुछ विद्वानों की परिभाषा में पर्याप्त अन्तर आ गया है। मौन्टेन के अनुसार निबंध में लेखक का आत्म प्रकाशन होता है। इसलिए एडीसन ने मौन्टेन को

संसार में सबसे बड़ा आत्माभिमानी माना है।[1] बेकन ने निबंध को विकीर्ण चिन्तन (dispersed meditation) कहा है। निबंध के लिए डा० जान्सन की परिभाषा परम प्रसिद्ध है। डा० जान्सन ने निबंध को मन की शैथिल्यपूर्ण उच्छृंखल उद्भावना माना है जिसमें व्यवस्था का अभाव हो और जो मन में आए कहा जाय।[2] श्री अलैक्जेंडर स्मिथ निबंध को गीति के समान आत्म व्यंजक, व्यंग्यात्मक, एवं सनक से भरा मानते हैं। साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि वह किसी एक मानसिक वृत्ति के चारों ओर चिपका हुआ हो और गम्भीरता लिए रहे।[3] हडसन ने निबंध को "व्यक्तिपरक" माना है। डब्ल्यू० ऐल० कैल्स निबंध को पारस्परिक वार्त्तालाप का रूप मानते हैं। इनके मत में निबंधकार पाठकों से बातें करता है। गार्डनर महोदय का कहना है कि निबंध में विषय को महत्त्व नहीं मिलता है। विषय कुछ भी हो सकता है महत्त्व है वैयक्तिकता का।

पश्चिमी विद्वानों की इन परिभाषाओं के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि पश्चिमी विद्वान् उसी गद्य-विधा को निबंध (या ऐस्से) मानते हैं जिसमें निम्नलिखित चार गुण हों :—

(१) वैयक्तिकता
(२) शैथिल्य
(३) संक्षेप
(४) मनोरंजक शैली

डा० श्याम सुन्दर दास ने भी पश्चिमी लक्षणों वाले निबंधों को ही निबंध की संज्ञा दी है एवं शैथिल्य को निबंध का प्रधान स्तंभ माना है। यहाँ ध्यान में रखने की बात है कि आचार्य शुक्ल कसावट को निबंध का प्राण मान रहे थे। डा० श्याम सुन्दर दास ने कहा "वास्तव में निबंध की शिथिल शैली अत्यधिक प्रभाव शालिनी होनी चाहिए। बौद्धिक विचारों की शुष्कता और दुरूहता को दूर करने के लिए निबंध लेखकों का यह प्रधान साधन है जिससे वे पाठकों के हृदय को अपनी ओर लगा सकें। उन्हें शैथिल्यपूर्ण हल्का वातावरण बनाना कला की दृष्टि से आवश्यक होता है।" इन लक्षणों से युक्त निबंध भारतेन्दु युग में ही लिखे गए। उस युग

१. The most eminent egoist that ever appeared in the world.
२. It is a loose sally of mind, an irregular, ill-digested piece, not a regular and orderly performance.
३. The Essay as a literary form resembles the lyric in so far as it is moulded by some central mood, whimsical, serious or satirical.

के निबंधकारों ने मस्ती में भरकर अपने पूरे व्यक्तित्व के साथ अपनी मनोरंजक शैलियों में छोटे-छोटे निबंध लिखे। जिन्हें हम वास्तविक निबंध कह सकते हैं वे उसी युग में लिखे गए। कसावट भरे विचारात्मक निबंधों को भी निबंध कह सकते हैं किन्तु वे बंधन रहित निबंध की प्राकृतिक सत्ता से कुछ दूर हट जाते हैं। कसावट भरे ऐसे निबंध भारतेन्दु युग में कम लिखे गए हैं। प्रबंधों की संख्या तो अत्यल्प है। भारतेन्दु जी का 'नाटक' प्रबंध है। उनके ऐतिहासिक एवं धार्मिक विषयों से सम्बद्ध लेख[1] हैं, निबंध नहीं। उन्होंने कुछ निबंध भी लिखे हैं। ये दो प्रकार के हैं—गंभीर[2] और हलके[3]। हलके निबंध ही वास्तविक निबंध हैं जिनमें निबंध के लक्षण प्राप्त होते हैं। इस युग के निबंधकारों में पं० प्रताप नारायण मिश्र का नाम सबसे प्रथम उल्लेखनीय है। मिश्र जी के निबंधों में वैयक्तिकता और शैथिल्य के भरपूर दर्शन होते हैं और इन निबंधों की शैली बड़ी मनोरंजक है। निबंध के सभी लक्षण इनके निबंधों में प्राप्त होते हैं। पं० प्रताप नारायण मिश्र ने धार्मिक,[4] सामाजिक,[5] राष्ट्रीय[6] एवं उन्मुक्त[7] निबंध लिखे। आलोचनाएँ[8] उन्होंने कम लिखी हैं। मिश्र जी अपने विनोदी स्वभाव और हास्यात्मक शैली के लिए प्रसिद्ध हैं। पं० बालकृष्णभट्ट ने इस युग के निबंध-कारों में सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया है। इन्होंने विचारात्मक एवं भावात्मक दोनों प्रकार के निबंध लिखे हैं। भट्ट जी के निबंध संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। भट्ट जी की भाषा प्रौढ़ और संस्कृत मिश्रित है। भट्ट जी के विचारात्मक निबंधों में सामाजिक[9] धार्मिक,[10] साहित्यिक[11] और जीवनोपयोगी[12] निबंध लिखे हैं। भट्ट जी ने कथात्मक

---

१. बूंदी का राजवंश, बादशाह दर्पण, रामायण का समय, कार्तिक नैमित्तिक कृत्य, मार्गशीर्ष महिमा, पुरुषोत्तम मास विधान।
२. वैष्णवता और भारतवर्ष।
३. स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन, पाँचवें पैगम्बर, लेवी प्राण लेवी।
४. शिवमूर्ति, गंगाजी।
५. होली है, पंचपरमेश्वर, किस पर्व में किसकी बन आती है, किस पर्व में किस पर आफत आती है।
६. धरती माता, स्वतंत्र, खुशामद।
७. धोखा, आप, बात, परीक्षा, वृद्ध, युवावस्था, स्त्री, ट, दो, दाँत, भौं, ककाराष्टक।
८. खड़ी बोली का पद्य।
९. काम और नाम साथ-साथ चलते हैं। ग्राम्य जीवन, पुरातन और आधुनिक सभ्यता, लोक एषणा, परम्परा।
१०. भक्ति।
११. रसाभास, उपमा।
१२. आत्म त्याग, आत्म निर्भरता, आशा, कर्त्तव्य परायणता, कर्णामृत या कर्णकटु, चढ़ती जवानी की उमंग, दृढ़ और पवित्र मन, प्रकृति के अनुसार जीवन-मरण, बातचीत, मन के गुण, मनुष्य जीवन की सार्थकता, मदद।

निबंध भी लिखे हैं[1] किन्तु उनकी ख्याति है उनके भावात्मक एवं उन्मुक्त निबंधों के लिए[2]। भट्ट जी के निबंधों की भाषा प्रौढ़ और प्रवाहमय है। वे अपने निबंधों को अलंकारों और उदाहरणों से खूब सजाते हैं। बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन भी इस युग के एक प्रमुख निबंधकार हैं। प्रेमघनजी के निबंध अपनी एक अलग विशेषता रखते हैं और वह विशेषता है 'रंगीलापन'। प्रेमघन जी ने अपने निबंधों का भरपूर शृंगार किया। ये 'कलम की करामात' दिखाने में विश्वास करते थे। प्रेमघन जी ने 'आनन्द कादम्बिनी' और 'नागरी नीरद' दो पत्र निकाले जिनमें इनके लेख और निबंध छपे थे। पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "ये गद्य रचना को एक कला के रूप में ग्रहण करने वाले—कलम की कारीगरी समझने वाले लेखक थे।"[3] उनके वाक्य निर्माण का एक उदाहरण है "दोनों दलों की दलदली में दलपती का विचार भी दलदल में फँस रहा।" उनके कुछ निबंधों के नाम हैं—हिन्दी भाषा का विकास, नेशनल कांग्रेस की दुर्दशा, पूर्ण पावस, उत्साह आलम्बन, जन्मभूमि, हमारी मसहरी, हमारी दिनचर्या, फाल्गुन, मित्र, ऋतु-वर्णन इत्यादि। पंडित अम्बिकादत्त व्यास संस्कृत के धुरन्धर पंडित थे किन्तु उन्होंने अपने निबंधों को क्लिष्टता की झाड़ी से बचाया और उन्हें सरलता एवं सुबोधता से सम्पन्न किया। उनके कुछ निबंध हैं—धैर्य, क्षमा, ग्रामवास, नगर वास आदि। राधाचरण गोस्वामी ने अपने निबंधों[4] में व्यंग्य को खूब भरा है। इन निबंधकारों के अतिरिक्त इस काल के अन्य निबंधकार लाला श्री निवासदास, ठाकुर जगमोहन सिंह, पंडित भीमसेन शर्मा, लाला काशीनाथ खत्री, हैं जिन्होंने निबंध साहित्य का कोष भरा। हिन्दी साहित्य में निबंध की दृष्टि से भारतेन्दु युग सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। निबंध के भिन्न-भिन्न स्वरूपों का जो स्वाभाविक और सरल रूप उस काल में देखने को मिलता है वैसा आधुनिक युग में भी नहीं पनपा है। वास्तविक निबंध उसी युग में प्रचुर मात्रा में लिखे गए। डा० राम विलास शर्मा का यह कथन ठीक ही है कि "जितनी सफलता भारतेन्दु युग के लेखकों को निबंध रचना में मिली उतनी कविता और नाटक में नहीं मिली।"[5]

---

१. नहीं, नई सभ्यता की बानगी, कट्टर सूम की एक नक़ल, दंभाख्यान, एक अशरफी का आत्म वृत्तान्त।

२. चन्द्रोदय, चढ़ती उमर, कौआपरी और आशिकतन, ईश्वर भी क्या ठठोल है, आँसू, चली सो चली, जबान, ढोल के भीतर पोल, दल का अगुवा, पत्नीस्तव, माधुर्य, पुरुष अहेरी की स्त्रियां, अहेर, नए तरह का जनून, चलन, चलन की गुलामी, लौ लगी रहे, संसार कभी एक सा न रहा, हाकिम और उनकी हिकमत।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४६६

४. यमपुरी की यात्रा, स्वर्ग की सैर।

५. भारतेन्दु युग, पृ० ६५

मध्ययुग या द्विवेदीयुग (१६०३-१६३०)

श्री महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के सरस्वती सम्पादन काल (१६०३ ई०) से निबंध साहित्य ने एक नया मोड़ लिया और तभी से निबंध का मध्य युग प्रारम्भ होता है। भारतेन्दु युग में लेखकों ने लेखनी दौड़ाने और भाषा के साथ मनमानी स्वतंत्रता वरतने की पूरी छूट ले ली थी। पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने इस पर अंकुश लगाया और भाषा में शुद्धता और संयम लाने का भरपूर प्रयास किया। उनकी "सरस्वती" पत्रिका ने लेखकों को सावधान किया कि भाषा का सोच समझ कर प्रयोग कीजिए। सरस्वती के सम्पादन काल में पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने अनेक निबंध लिखे। इनके निबंधों की विशेषता है अर्थ स्पष्टता और सुबोधता। ये प्रयास करते थे कि अपनी बात को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया जाय। फलतः वाक्यों का भी ये बड़ा ध्यान रखते थे। पं० महावीर प्रसाद जी ने नाट्य शास्त्र नामक प्रबंध दिया और अनेक साहित्यिक निबंध लिखे।[1] 'जयपुर', 'नैपाल', पेड़ पौधों की चेतना शक्ति, रोग परीक्षा यंत्र जैसी रचनाएं लेख ही कहीं जायेंगीं। द्विवेदी जी ने वर्णनात्मक,[2] विवरणात्मक[3] और भावात्मक[4] निबंध भी लिखे। इस युग के दूसरे प्रमुख निबंधकार हैं श्री माधव प्रसाद जी मिश्र जो अपने 'रामलीला' नामक भावात्मक निबन्ध[5] के लिए प्रसिद्ध हैं इनके निबंध प्रधानतया विचारात्मक[6] हैं और वे प्रबंध की कोटि का स्पर्श करते हैं। इनमें मिश्र जी ने संस्कृत मयी शुद्ध भाषा का प्रयोग किया है।

पं० गोविन्द नारायण जी मिश्र भी इस युग के एक प्रसिद्धि प्राप्त निबंधकार हैं। इन्होंने प्रयास किया कि मैं हिन्दी को वाण और दंडी की शैली दूँ और फलतः इनके निबंधों में शब्द-शृंगार की प्रधानता मिलेगी। इनके निबंध सारसुधा निधि, उचित वक्ता और धर्म-दिवाकर नामक पत्रों में छपे थे। इनके कुछ निबंधों के नाम हैं—कवि और चित्रकार, प्राकृत विचार, विभक्ति विचार, षड्ऋतु वर्णन, आत्माराम की टेंटें। विचारात्मक निबंधकारों में बाबू श्याम सुन्दर दास जी का स्थान भी प्रमुख है किन्तु ये निबंध, आलोचनात्मक ही अधिक हैं। परिस्थितियों ने बाबू साहब से आलोचनाएँ एवं निबंध लिखवाए क्योंकि उन दिनों उच्च कक्षा के छात्रों के लिए सामग्री का

---

१. कवि और कविता, उपन्यास रहस्य, साहित्य की महत्ता, भाषा और व्याकरण, कवि बनने के के लिए सापेक्ष साधन।

२. आगरे की शाही इमारतें, दमयन्ती का चन्द्रोपालंभ, लोभ, क्रोध, हजारों वर्ष पुराने खंडहर

३. हंस संदेश।

४. प्रभात सुषमा, दमयंती का चंद्रोपालम्भ।

५. ऐसे अन्य निबंध—धृति, क्षमा, सब मिट्टी हो गया।

६. वेवर का भ्रम, काव्यालोचन, श्री वैष्णव संप्रदाय।

अभाव था। भाषा इनकी शुद्ध और संस्कृत प्रधान है और शैली है अध्यापकी। बाबू साहब सोच-सोचकर उर्दू शब्दों को खदेड़ते थे। बाबू साहब ने जटिलता और दुर्बोधता को भी दूर रखने का प्रयास किया है यद्यपि उनकी आलोचनाओं में कहीं-कहीं वे आ बैठी हैं। आपके निबंधों का प्रधान क्षेत्र साहित्य ही है और अधिकांश निबंध, निबंध न होकर समीक्षाएँ अथवा आलोचनाएँ बन गई हैं और प्रबंध के पास जाकर बैठ जाती हैं जैसे तुलसीदास, सूरदास, हमारी भाषा। द्विवेदी युग के एक प्रमुख निबंधकार हैं बाबू बाल मुकुन्द गुप्त जिन्होंने प्रवाहमयी, सजीव और व्यंग्य प्रधान भाषा के बल पर निबंधों में सरलता, मनोरंजकता और वैयक्तिकता का समावेश किया है। इनके अधिकांश निबंध "भारत मित्र" में छपे थे। बाबू बालमुकुन्द गुप्त के "शिव शंभु के चिट्ठे" से हिन्दी के उच्च कक्षा के छात्र एवं अध्ययनशील पाठक परिचित हैं। 'शिव शंभु', बाबू साहब का छद्म नाम था। इस चिट्ठे में 'बनाम लार्ड कर्ज़न', श्रीमान् का स्वागत, वैसराय का कर्त्तव्य, आशा का अंत, बंग विच्छेद, एक दुराशा, इत्यादि भाव प्रधान निबंध हैं। इस युग के एक निबंधकार ने छै निबंध लिखकर हिन्दी साहित्य में स्थायी स्थान बना लिया है एवं औरों की अपेक्षा अधिक मान पाया है। ये निबंधकार है सरदार पूर्णसिंह और इनके छै भावात्मक निबंध है—सच्ची वीरता, आचरण की सभ्यता, मज़दूरी और प्रेम, पवित्रता, कन्यादान और अमेरिका का मस्त जोगी वाल्ट ह्विट मैन। इन निबंधों में सरदार साहब के भावों के साथ-साथ भाषा उछलती और नृत्य करती है। पश्चिमी निबंध की पूरी शिल्पविधि सरदार पूर्णसिंह के निबंधों में प्राप्त होती है। अभिव्यंजना की पूर्ण शक्ति के साथ-साथ भावों और विचारों का प्रवाह सरदार जी में देखा जा सकता है। आगे इसी प्रवाहपूर्ण शैली को पं० पद्म सिंह शर्मा ने अपनाने का प्रयास किया। शर्मा जी की भाषा भी उछलती चलती है। किन्तु साथ ही उसमें है भाषा का शृंगार और संस्कृत और उर्दू की छटा। शर्मा जी हिन्दी उर्दू, संस्कृत, फारसी, पाली, प्राकृत के अतिरिक्त कई अन्य भारतीय भाषाओं के विद्वान् थे। और उनकी यह विद्वत्ता उनके निबंधों में बोलती है। शर्मा जी लिखते हैं विचार प्रधान निबंध किन्तु भाषा के कारण वे भावात्मक निबंध से बन जाते हैं। शर्मा जी के तीन निबन्ध संग्रह प्रकाशित हुए हैं: हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी, पद्मपराग एवं प्रबन्ध मंजरी। 'उसने कहा था' नामक कहानी के यशस्वी लेखक पं० चन्द्रधर शर्मा भी इस युग के निबन्धकार थे। इनके निबन्धों में विनोद का पुट प्राप्त होता है। साथ ही उनमें सरलता और भावात्मकता के दर्शन भी होते हैं। फलतः गुलेरी जी भावात्मक निबन्धकारों की कोटि में आते हैं। कहानियों की नाईं गुलेरी जी के निबन्ध बहुत थोड़े हैं; कछुआ धर्म, मारेसि मोहिं कुठांव, संगीत। द्विवेदी युग के निबन्धकारों की संख्या काफी बड़ी है। अनेक निबन्धकार तो उस काल से आधुनिक युग में भी अनवरत अपनी लेखनी चला रहे हैं। द्विवेदी युग के कुछ

निबन्धकार हैं—गोपाल राम गहमरी, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, सत्यदेव स्वामी, मिश्र बन्धु, देवेन्द्र प्रसाद जैन, जगदीश झा, पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, मोहनलाल विष्णु-लाल पंड्या, यशोदानन्दन अखौरी, लक्ष्मण गोविन्द आठले, चतुर्भुज औदीच्य, मन्नन द्विवेदी इत्यादि ।

आधुनिक युग (१९३० से आज तक)

जिस प्रकार १९०३ ई० में पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के सरस्वती सम्पादन से मध्य युग का प्रारंभ हुआ, उसी प्रकार पं० रामचन्द्र शुक्ल ने १९३० ई० में निबन्ध क्षेत्र में प्रवेश करके आधुनिक युग का सूत्रपात किया । इसी समय के लगभग पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के कई निबन्ध संग्रह[1] प्रकाशित हुए जिनसे मध्य युग की समाप्ति की सूचना मिलती है । आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का प्रथम निबन्ध संग्रह[2] इसी समय प्रकाश में आया । आचार्य शुक्ल के प्रवेश ने हिन्दी निबन्ध धारा को एक जबरदस्त मोड़ दिया है । मध्यकाल या द्विवेदी काल में आदि काल की वैयक्तिकता, मनोरंजन, मस्ती, शैथिल्य एवं कल्पना से भरे निबन्ध लिखे जा रहे थे । पं० रामचन्द्र शुक्ल ने निबन्ध क्षेत्र में आकर वैयक्तिकता की परिभाषा बदल दी और शैथिल्य की भर्त्सना कर कसावटपूर्ण विचारात्मक निबन्धों को ऊँचा स्थान दिया । अंग्रेज़ी में भी आरंभ से दो धाराएँ मिलती हैं । प्रथम धारा के निबन्धकार मौनटेन को आदर्श मान कर अपने निबन्धों में वैयक्तिकता, शैथिल्य, कल्पना और मनोरंजन भर रहे थे ।[3] हमने अपने निबन्ध का आरंभ इसी प्रकार के निबन्धों की परिभाषाओं से किया है, क्योंकि आदि या भारतेन्दु युग में इसी प्रकार के निबन्धों के लिखने पर ज़ोर था । अंग्रेज़ी में गंभीर एवं चिन्तनपूर्ण निबन्धों की दूसरी धारा भी आरंभ से प्रवाहित मिलती है ।[4] चिन्तन और विचारों की प्रधानता होते हुए भी इनमें विषय और विचारों की कसावट नहीं है जो आचार्य शुक्ल ने प्रतिपादित की । यहाँ तक कि चिन्तनशील एवं गम्भीर बेकन भी निबन्ध को "विकीर्ण चिन्तन" मानता है । पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास (१९३० ई०) में वैयक्तिकता की व्याख्या करते हुए कहा "आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो । बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाय । व्यक्तिगत विशेषता से यह मतलब नहीं कि उसके

---

१. लेखांजलि, साहित्य संदर्भ १९२८ (संग्रह), साहित्य सीकरी १९३० (संग्रह); विचार विमर्श १९३१ (संग्रह) ।

२. विचार वीथी ।

३. जान अर्ल, गोल्डस्मिथ, लैम्ब, हैजलिट, राबर्ट लिण्ड ।

४. बेकन, [illegible], [illegible], [illegible] डोस हक्सले ।

प्रदर्शन के लिए विचारों की शृंखला रखी ही न जाय या जानबूझकर तोड़ दी जाय। भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ योजना की जाय जो उनकी अनुभूति के प्राकृत या लोकमान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा में सरकस वालों की सी कसरतें या हठयोगियों के से आसन कराए जायँ जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ नहीं।"[1] इस कथन के द्वारा शुक्ल जी ने एक ओर वैयक्तिकता की नवीन व्युत्पत्ति दी और दूसरी ओर भारतेन्दु एवं द्विवेदी युगीन पश्चिमी शैली वाले वैयक्तिकता से भरे निबंधों का मखौल उड़ाया। शुक्ल जी प्रकृति से बड़े गंभीर थे। फलतः वे विचारों से ठूंसाठूंस भरे निबन्धों को सर्वश्रेष्ठ स्थान देते हैं। पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी को विचारात्मक निबन्धकार मानते हुए उनके निबन्धों में दोष निकालते हैं और कहते हैं—"कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेदी के लेख या निबन्ध विचारात्मक श्रेणी में आयेंगे। पर विचारों की यह गूढ़गुंफित परम्परा उनमें नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नये विचार पद्धति पर दौड़ पड़े। शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबाकर कसे गए हों और एक एक वाक्य किसी संबद्ध विचार खंड को लिए हो।"[2] आचार्य शुक्ल विचारात्मक निबंधों में भाषा और विचारों की कसावट को उत्तम बताते हैं। इसी आदर्श को सामने रखकर शुक्ल जी ने अपने निबन्धों का निर्माण किया था। निबन्धों में वे उन विचारात्मक निबन्धों को श्रेष्ठ मानते हुए कहते हैं "अब निबन्ध का प्रसंग यहीं समाप्त किया जाता है। खेद है कि समास शैली पर ऐसे विचारात्मक निबन्ध लिखने वाले, जिनमें बहुत ही चुस्त भाषा के भीतर एक पूरी अर्थ परम्परा कसी हो, अधिक हमें न मिले।"[3] आचार्य शुक्ल उत्तम विचारात्मक निबन्ध के तीन लक्षण देते हैं (१) समास शैली हो (२) भाषा चुस्त और कसी हुई हो। (३) अर्थ परम्परा से भरपूर हो। आचार्य शुक्ल ने इन्हीं लक्षणों के विचारात्मक निबन्ध लिखे[4] हैं जिनकी भाषा संस्कृत निष्ठ और चुस्त है; जिनका एक एक वाक्य, अर्थ-परम्परा का हाथ पकड़े चलता है और जिनमें विचारों की गहनता सागर जैसी गहरी है। बीच-बीच में भावात्मक एवं व्यंग्यात्मक झरने भी बह जाते हैं। शुक्ल जी की लोह लेखनी का प्रभाव हिन्दी जगत पर अमिट है और अधिकांश आलोचकों ने आचार्य शुक्ल के मत और निबन्धों को अपना कर अपने निबन्ध लिखे। इस परम्परा के निबन्धकार हैं डा० पीताम्बर दत्त

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास (२००६ वि०) पृ० ५०५

२. वही पृ० ५०६।

३. वही पृ० ५२५।

४. उत्साह, श्रद्धाभक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, भय।

बड़थ्वाल,[1] डा० धीरेन्द्र वर्मा,[2] नलिनी मोहन सान्याल,[3] जैनेन्द्र,[4] प्रेमचन्द,[5] गंगा प्रसाद पांडेय,[6] जय शंकर प्रसाद,[7] नन्द दुलारे बाजपेयी,[8] वासुदेव शरण अग्रवाल[9] डा० नगेन्द्र,[10] इलाचन्द्र जोशी,[11] राम विलास शर्मा[12] सद्गुरु शरण अवस्थी,[13] रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' इसी वर्ग के निबन्धकार हैं जिनके निबन्ध विचार प्रधान, विषय केन्द्रित, कसे हुए और गहन अध्ययन से भरे हैं। अधिकांशतः ये महानुभाव आलोचक हैं।

पं० रामचन्द्र शुक्ल के पथ प्रदर्शन ने विचार प्रधान गंभीर निबन्धकारों का निर्माण किया किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि भारतेन्दु काल से चलती वैयक्तिकता और कल्पना प्रधान भावात्मक निबन्धों की परम्परा रुक गई हो। नहीं, वह आजतक अविच्छिन्न रूप से चल रही है। आधुनिक युग के अनेक निबन्धकारों ने वैयक्तिकता से भरे भाव-प्रधान निबन्ध लिखे हैं। इन निबन्धों में जीवन और जगत के बहुमुखी रूप, सरल और प्रवाहमय भाषा में रखे गए हैं। वास्तविक निबन्ध ये ही हैं। श्री राम वृक्ष बेनीपुरी[14], कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर,[15] पांडेय बेचन शर्मा उग्र,[16] यश-

---

१. तुलसी, कबीर, कवि केशवदास, नागार्जुन, हिन्दी साहित्य में उपासना का स्वरूप, गंगा बाई, करोरी पाव।
२. विचारधारा १९४२ (संग्रह)।
३. उच्च विषयक लेख माला १९४१ (संग्रह)
४. जैनेन्द्र के विचार १९३७ (संग्रह)
५. कुछ विचार १९३९ (संग्रह)
६. निबंधिनी १९४१ (संग्रह)
७. काव्यकला एवं अन्य निबन्ध
८. काव्य कला, एकांकी नाटक, जैनेन्द्र पर विचार, बीसवीं शताब्दी का साहित्य, निबंध निचय, नया साहित्य, नए प्रश्न (संग्रह)
९. कला और संस्कृति, पृथ्वी पुत्र (संग्रह)
१०. काव्य चिन्तन, विचार और अनुभूति, विचार और विवेचन, विचार और विश्लेषण, आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां (संग्रह)
११. विवेचना, विश्लेषण (संग्रह)
१२. प्रगति और परम्परा, [illegible] साहित्य की समस्याएँ (संग्रह)
१३. बुद्धि तरंग (संग्रह)
१४. माटी की मूरतें, गेंहूँ और गुलाब, बेनीपुरी ग्रंथावली (संग्रह)
१५. नई पीढ़ी, नये विचार, भूले हुए चेहरे, आकाश के तारे, धरती के फूल, जिन्दगी मुस्कराई, आ आ ई ई, मेरे घर के [illegible], [illegible], आज दिन के मेहमान, नौरत्न, सेकिंड क्लास।
१६. [illegible], गान्धी।

पाल,[1] डा० रघुवीर सिंह,[2] माखनलाल चतुर्वेदी,[3] वियोगी हरि,[4] डा० संसारचन्द,[5] रामप्रसाद विद्यार्थी रावी,[6] पं० विद्या निवास मिश्र[7] इत्यादि इसी धारा के निबन्धकार हैं।

अनेक निबन्धकारों ने दोनों धाराओं के निबन्ध लिखे हैं। एक ओर उन्होंने शुक्ल जी की परम्परा के चिन्तन प्रधान, विषय केन्द्रित, गंभीर विचारात्मक निबन्ध लिखे तो दूसरी ओर सरल शैली में वैयक्तिकता और मस्ती से भरे भावात्मक निबन्ध भी। डा० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी[8] प्रभाकर माचवे,[9] शांति प्रिय द्विवेदी,[10] पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी,[11] बा० गुलाबराय[12] इत्यादि ने दोनों धाराओं के निबन्ध लिखे हैं। विचारात्मक निबन्धों में ये लेखक संस्कृत निष्ठ गुंफित भाषा का प्रयोग करते हैं तो भावात्मक निबन्धों में सरल एवं प्रवाह मय भाषा का

इतने विवेचन के बाद यह कहना ही पड़ेगा कि आधुनिक युग में निबन्धों की वैसी प्रगति नहीं हुई है जैसी कि उपन्यास, कहानी, एवं आलोचना की हुई है। हिन्दी ने बड़ी दौड़ की है किन्तु शुद्ध निबन्धों की संख्या अपेक्षाकृत कम है।

---

१. चक्कर क्लब, न्याय का संघर्ष, गांधीवाद की शव परीक्षा, देखा सोचा समझा, बात बात में बात, राम राज्य की कथा।
२. अतीत स्मृति, शेष स्मृति।
३. युग और कला, साहित्य देवता, रंगों की बोली, व्यक्तित्व।
४. भावना और अन्तर्नाद (संग्रह)
५. सदका सीताराम
६. पूजा, शुभ्रा (संग्रह)
७. चितवन की छांह, हल्दी दूब, कदम की फूली डाल, तुम चंपक हम पानी (संग्रह)।
८. भारतीय संस्कृति का देन, ब्रह्माण्ड की विस्तार, भारतीय फलित ज्योतिष एवं केतु दर्शन, आलोचना का स्वतंत्र मान, साहित्य का नया क़दम, अशोक के फूल, बसंत आ गया, महापुरुष के प्रयाण के बाद, आपने मेरी रचना पढ़ी है, आम फिर बौरा गए, मेरी जन्मभूमि।
९. भारतीय स्वतंत्रता और दर्शन, चित्रकला और हमारा सांस्कृतिक जीवन, दार्शनिक गांधी, साहित्य और ललित कलाएँ, गुम्बद का विकास एवं कुत्ते की डायरी, पत्नी सेवक संघ, गाली, गला, घूस, जेब, पूंछ, बिल्ली, मकान, खुशामद।
१०. संचारिणी, सामयिकी, युग और साहित्य, धरातल (संग्रह) एवं पथचिन्ह, परिव्राजक की प्रजा में (संग्रह)।
११. मेरा जीवन क्रम, विज्ञान, समाज सेवा, नाम एवं स्मृति, उत्सव, रामलाल पंडित, श्रद्धांजलि के दो फूल।
१२. आत्म का स्वरूप और उत्कर्ष, मानव जीवन से संबंध, काव्य कला और चित्रकला, समाज पर साहित्य का प्रभाव, सत्यं शिवं सुन्दरं, कला कला के लिए अथवा जीवन के लिए, एको रसः करुण एव, मेरी असफलताएँ (संग्रह)।

आलोचनाओं या आलोचनात्मक निबन्धों की रेल पेल हुई है किन्तु यह राशि शुद्ध निबन्धों की श्रेणी में नहीं आती है। कभी-कभी तो विस्तृत आलोचना के एक अंश या पुस्तकों की भूमिका को निबन्ध नाम देकर बाजार में चला दिया जाता है। तीनों युगों पर दृष्टि दौड़ाने से भारतेन्दु युग ही निबन्धों के क्षेत्र में आगे दिखाई देता है जब हम हिन्दी के विकास को ध्यान में रखकर विचार करते हैं। आज मासिक पत्रिकाओं तक में शुद्ध निबन्ध कम दिखाई देते हैं जब कि आलोचना की कई पत्रिकाएँ अपने पैरों पर खड़ी हैं।

निबंधकार पूर्णसिंह

१८८१ ई० में एक नवीन युग को जन्म देने वाले बा० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इस असार संसार से जाने की तैयारी में थे। इसी सन में द्विवेदी युग का अद्वितीय निबन्धकार, हिन्दी को सर्वथा एक नवीन मौलिक लक्षणात्मक एवं भावात्मक शैली देने वाला सरदार पूर्णसिंह अवतरित हुआ। सरदार साहब ने पचास वर्ष तक जीवन के ऊबड़ खाबड़ मार्गों को पार किया, दुःख सुख के भीषण थपेड़ों को सहा, वे उत्थान और पतन की सीढ़ियों पर चढ़े और उतरे एवं १९३१ में सदा के लिए अमिट निद्रा के अंक में सो गए। पचास वर्ष की इस यात्रा में सरदार पूर्णसिंह ने अंग्रेज़ी की पन्द्रह[1] पुस्तकों का प्रणयन किया जो मौलिक हैं या अनूदित। सरदार जी ने अंग्रेजी के बाद सबसे अधिक पुस्तकें पंजाबी में लिखीं जिनकी संख्या सात[2] है। पंजाबी में वार्तक कविता या कथोपकथन शैली की कविता के जन्मदाता भी सरदार पूर्णसिंह ही हैं। हिन्दी के पल्ले में इनके छः निबन्ध ही पड़े हैं, जिनके नाम हैं—सच्ची वीरता, कन्यादान, आचरण की सभ्यता, मजदूरी और प्रेम, अमेरिका का मस्त जोगी वाल्ट ह्विट मैन और पवित्रता। तीन कहानियां लिखकर कहानीकारों में अमर आसन पाने वाले चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और ७०० दोहे लिख कर हिन्दी काव्य में महाकवि कहलाने वाले बिहारी की नाईं सरदार साहब ने भी इन छः निबन्धों के आधार पर हिन्दी निबन्धकारों में अविस्मरणीय और ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया है। भावात्मक निबन्धों के क्षेत्र में तो आज तक कोई भी सरदार पूर्णसिंह को पराजित नहीं कर सका है।

कला पक्ष

(१) भाषा—

कवि या लेखक के पास बस शब्दों का ही तो बल है। इन्हीं शब्दों द्वारा वह अपने हृदयगत् भावों और मस्तिष्क में उपजे विचारों को दूसरों तक पहुँचाता

१. मौलिक—टैन मास्टर्स, दि स्टोरी आफ़ राम, दि सिस्टर्स आफ़ स्पिनिंग व्हील्स, अनूदित—स्प्रिट बार्न पिपुल, दि अनस्ट्रांग बीड्स, ऐट हिज़ फ़ीट, एन आफ्टरनून विद सैल्फ़, दि स्प्रिट आफ़ ओरियन्टल पोएट्री, सीना प्लेअर, हिमालयन पाइनंस, दि टैम्पुल आफ़ तुलिटस, बर्निङ्ग कैन्डिल्स, स्प्रिट आफ़ सिख, गुरु नानक के 'जप जी' का अनुवाद, भाई वीर सिंह की कविताओं का अनुवाद। (सरदार पूर्णसिंह अध्यापक के निबन्ध, सं० प्रभात शास्त्री, पृ० २०)

२. खुले मैदान, खुले घुंड, खुले लेख, बलदे दीवे, सुइया दि जाग, प्रकाशना, भगीरथ (वही, पृ० २०–२१)

है। इन्हीं शब्दों के भिन्न-भिन्न प्रयोग से वह अपनी विशिष्ट शैली बनाता है। इसी शैली के आधार पर उसकी तुरन्त पहिचान हो जाती है और हम कह उठते हैं यह दोहा बिहारी का है, यह चौपाई तुलसी की है, यह कथन पं० रामचन्द्र शुक्ल का है। जिस लेखक या कवि के पास जितनी सबल और प्रौढ़ शैली होती है, वह उतना ही ऊपर उठ जाता है। कविता के सदृश निबन्ध के क्षेत्र में भी शैली का सर्वाधिक मूल्य है। विचार और भाव चाहे जितने प्रौढ़ और उत्कृष्ट हों, चाहे उसकी कल्पनाएँ भी पाताल से सत्य लोक तक लहरें उपजा दें किन्तु यदि शैली, अपंगु और अशक्त है तो कवि या लेखक का श्रम ऊसर में ही बिखर जाता है। इसके विपरीत यदि किसी के पास शैली की उत्कृष्टता है और भावों-विचारों का उत्तम कोष है तो निश्चय ही वह ऊँचा आसन पाता है। सरदार पूर्णसिंह जी के पास जीवन का गहरा अनुभव है, नवीन दृष्टि है, भाव भरा हृदय है और है विचार संकुल मस्तिष्क। किन्तु ये जल-कण, मृग-जल बन जाते यदि उनके पास सबल शैली न होती। सरदार पूर्णसिंह के पास बड़ी प्रवहमान, मार्मिक, प्रभावपूर्ण और प्रौढ़ शैली है, इसीलिए वे छोटे से गढ़ के स्वामी होते हुए भी अजेय बन गए हैं।

सरदार पूर्णसिंह ने अपनी भावात्मक शैली में अनेक प्रकार के शब्द प्रयोगों से चमत्कार उत्पन्न किया है। सबसे पहिले उनके पास एक सरल पर प्रवहमान भाषा है। भाषा सम्बन्धी उनका दृष्टिकोण बड़ा विशाल है। जहाँ से भी शब्द, वाक्य और उद्धरण प्राप्त हुए उन्होंने खुले हृदय से ग्रहण किये। उन्होंने उर्दू शब्दों का प्रयोग बहुतायत से किया है। उर्दू की कविताओं[1] से भी अपने निबन्धों को सजाया है। उन्होंने अंग्रेजी कविता,[2] और अंग्रेज़ी गद्य,[3]—दोनों को हृदय लगाया है। कहीं-कहीं वे अनावश्यक रूप से भी अंग्रेज़ी का प्रयोग कर देते हैं। इसके स्थान पर वे हिन्दी में अपनी बात कह सकते थे। पृ० ४८, ४६, ५२, ६१ पर सरदार साहब हिन्दी में निबन्ध लिखते-लिखते अंग्रेजी में अपने विचार लिखने लगते हैं। पृष्ठ २७ एवं ६१ पर जब वे अन्य यूरोपियन विचारकों के उद्धरण देते हैं तब तो अंग्रेज़ी में लिखना उचित था किन्तु अन्यत्र बड़ी सरलता से वे हिन्दी में ही अपना विचार व्यक्त कर सकते थे। किन्तु उस काल में बीच-बीच में अंग्रेज़ी बोलना या लिखना विद्वत्ता एवं व्यापक ज्ञान का प्रतीक समझा जाता था। अंग्रेज़ी के प्रयोग से लेखक या वक्ता अपना अधिक प्रभाव फेंक सकता था। फलतः सरदार साहब ने अंग्रेज़ी का प्रयोग किया है। दूसरे उनको यही शैली प्रिय थी। अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग दो रूपों में

१. सरदार पूर्णसिंह के निबंध, सं० प्रसाद शास्त्री (प्र० सं०) पृ० ४१, ८०, ८१, ६५, ११७, १२३
२. वही पृ० ३४
३. वही २७, ४४, ४८, ४६, ५१, ५२, ६१,

मिलता है—एक रूप में वे चलते शब्द हैं, उनको हिन्दी अक्षरों में लिखा गया है एवं उनका हिन्दी पर्याय नहीं दिया गया है जैसे कि पालिसी (पृ० ३५) मार्च (पृ० ३५) थर्मामीटर (पृ० ३७), पैराग्राफ (पृ० ४०), आर्ट (पृ० ८५)। दूसरे रूप में अंग्रेज़ी शब्दों को रोमन अक्षरों में लिखा गया है एवं उनका पर्याय या अर्थ दे दिया गया है जैसी चेरी के फूल (Cherry flower) (पृ० ३२), ड्राइंग हाल के वीर (Drawing hall Knights) (पृ० ३४); संचय करने (Conserve) (पृ० ३५), फिजूल खो देने (Dessipate) पृ० ३५; दैवी केन्द्र (Divine Centre) (पृ० ३५)। बात यह है कि लेखक के सामने अंग्रेज़ी शब्द पहिले आते हैं। वह उनको लिखकर फिर उनका अर्थ दे देता है ताकि वह अपने भाव को अधिक स्पष्ट कर सके। कभी-कभी अंग्रेज़ी के शब्द देकर वह उनका अर्थ न देकर हिन्दी में उन्हें लिख भर देता है और समझता है कि ये शब्द तो सरल हैं जैसे क्रूसेड्सज़ (Crusades) (पृ० ३२); फिजिक्स (Physics) (पृ० ३६); हीरो (Hero)। एक बात दृष्टव्य है कि मार्च, आर्ट, पालिसी, पैराग्राफ को वह हिन्दी अक्षरों में दे देता है जब कि इन शब्दों को नहीं। यदि लेखक समझता था कि फ़िजिक्स, हीरो, क्रूसेड्सज़ भी सरल शब्द हैं और इनका अर्थ नहीं देना है तो केवल हिन्दी अक्षरों में लिख देता। किन्तु अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ी अक्षरों के रौब ने अंग्रेज़ी अक्षरों का प्रयोग यहाँ करा दिया है, यद्यपि आवश्यकता न थी।

अंग्रेज़ी के अतिरिक्त सरदार साहब ने संस्कृत और पंजाबी का भी प्रयोग किया है।

वाक्य निर्माण में भी सरदार साहब ने इसी समन्वित शैली का परिचय दिया है। आपने निबन्धों में हिन्दी उर्दू शब्दों से जड़े सरल वाक्यों का प्रयोग किया है जैसे—

(१) बस इस गुलाम ने दुनिया के बादशाहों के बल की हद दिखला दी।

(२) वीर तो यह समझता है कि मनुष्य का जीवन एक ज़रा सी चीज़ है।

हिन्दी शब्दों से भरी वाक्यावली भी मिलती है—

मजदूरी करने से हृदय पवित्र होता है, संकल्प दिव्य लोकोत्तर में विचरते हैं। (पृ० ६०)

मजदूरी तो मनुष्य के समष्टि रूप का व्यष्टि रूप परिणाम है। (पृ० ८८)

तो कभी उर्दू शब्दों को गले लगाने वाले वाक्य सामने आते हैं—

दिलों पर हुकूमत करने वाली फौज तोप, बन्दूक आदि के बिना ही वे शाहंशाह ज़माना होते हैं।

इस पुरुष में वीरता ने आंसुओं और आहो जारियाँ का लिबास लिया।

इन्हीं मिले जुले शब्दों के बल पर सरदार पूर्णसिंह ऐसे-ऐसे छोटे पर मार्मिक वाक्य लिख पाते हैं जो तुरन्त हृदय पर खिंच जाते हैं। ऐसे वाक्यों में शब्द सूत्रवत् जुड़े हैं। कुछ उदाहरण—

(१) धन्य हैं वे नयन जो कभी-कभी प्रेम नीर से भर आते हैं। (पृ० ४१)
(२) अपने आपको गंवाकर ही सच्ची स्वतंत्रता नसीब होती है। (पृ० ५२)
(३) आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है। (पृ० ६२)
(४) प्रकृति को मिथ्या करके नहीं उड़ाना है उसे उड़ाकर मिथ्या करना है। (पृ० ७२)

(५) सच्चे राजा अपने प्रेम के ज़ोर से लोगों के दिलों को सदा के लिए बांध लेते हैं। (पृ० २७)

इन वाक्यों में प्रवाह आया है मुहावरों के कारण जो आप नावों में बैठकर द्रुत गति से भागते हैं और चन्द्रमा की किरणों को पकड़कर समुद्र की छाती पर गंधर्व नगर की स्थायी शोभा धार लेते हैं। निबन्धों में सर्वत्र मुहावरों का शृंगार मिलेगा। इन मुहावरों के पंखों को पकड़कर एवं सरल शब्दों के पुष्प विमानों में बैठकर वाक्य छोटे-छोटे डग रखकर उछलते हैं, कूदते हैं, उड़ते हैं और छोटे बालकों की भांति हृदयों को सुख पहुँचाते हैं। उदाहरण—

(१) आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है। इस भाषा की निघंटु शुद्ध श्वेत पत्रों वाला है। इसमें नाम मात्र के लिए भी शब्द नहीं। यह सभ्याचरण नाद करता हुआ भी मौन है, व्याख्यान देता हुआ भी व्याख्यान के पीछे छिपा है, राग गाता हुआ भी राग के सुर के भीतर पड़ा है। मृदु वचनों की मिठास में आचरण की सभ्यता मौन रूप से खुली हुई है। (६२)

(२) ब्रह्म कांति के आकर्षण ने दसवां द्वार फोड़कर प्राणों को अपनी ही गति फिर दे दी। मारे परमानन्द के हृदय बह गया, यहाँ गिर गया, वहाँ गिर गया। अत्यन्त ज्योति के चमत्कार से साधारण आँखें फूट गईं। प्रेम के तूफान ने सिर उड़ा दिया। (पृ० १०३)

कल्पना के पालने में झुलाकर लेखक इन वाक्यों को काव्यात्मक बना देता है—

कमल और नरगिस में नयन देखने वाले नेत्रों से पूछो कि मौन व्याख्यान की प्रभुता कितनी दिव्य है। (पृ० ६४)

सूर्य उसकी युवावस्था की पवित्रता पर मुग्ध है और वह आश्चर्य के अवतार सूर्य की महिमा के तूफान में पड़ी नाच रही है। (पृ० ८१)

जो आंख हर आंख में अपने ही प्यारे को देखती है वह भला तुम्हारे कला के पैमानों के कारागार में कैसे बन्द हो सकती है। (पृ० ६८)

(२) **अलंकार**—

कल्पना को संयत कर लेखक वाक्यों का अलंकरण करता है और भाषा को सजा देता है। इसी अलंकरण के कारण सरदार पूर्णसिंह अपना स्थान ऊँचा कर सके हैं। अलंकार जहाँ भी बैठेंगे, चमक ला देंगे। फिर निपुण कलाकार

के हाथ में तो वे उषा, चन्द्र और विद्युत की मिली आभा उपजा देते हैं। सरदार पूर्णसिंह ने अलंकारों का खुलकर प्रयोग किया है और उन्हें नगीने की भाँति जड़कर भाषा में प्रकाश भरा है। यदि अलंकारों का इतना प्राचुर्य न होता तो इसमें संदेह है कि उनकी भाषा में वैसी स्पष्टता, आभा और उड़ान आ पाती जैसी अब है। उदाहरण—

उपमा—उनके मन की गंभीरता और शांति समुद्र की तरह विशाल और गहरी, या आकाश की तरह स्थिर और अचल होती है। (सच्ची वीरता पृ० २५)

पहाड़ों की पसलियां तोड़कर ये लोग हवा के बगोले की तरह निकल जाते हैं। (सच्ची वीरता पृ० २६)

वीरों के बनाने के कारखाने नहीं हो सकते। वे तो देवदास के दरख्तों की तरह जीवन के अरण्य में खुदबखुद पैदा होते हैं (सच्ची वीरता पृ० ३३)

अंतःकरण कैसे पुष्प की तरह खिल जाता है। (कन्यादान पृ० ४१)

आचरण भी हिमालय की तरह एक ऊँचे कलश वाला मन्दिर है।

(आचरण की सभ्यता पृ० ६४)

पुस्तक हाथ में आते ही मेरे अन्तःकरण में रोज भरत-मिलाप का-सा समां बँध जाता है (मजदूरी और प्रेम पृ० ८३)

उपमा के अन्य उदाहरण हैं—सच्ची वीरता पाठ में पृ० ३०-२४ (पृ० ३० की चौबीसवीं पंक्ति), ३६-१५, ३६-२२; कन्यादान में ४२-२४, ४६-२४, ५३-५, ५६-८, ५८-६।

रूपक—लेखक ने रूपकों का भी खूब प्रयोग किया है। कभी किसी की और कभी किसी की प्राण सारंगी वीर के हाथ से बजने लगती है। (सच्ची वीरता पृ० २५)

हृदय स्थली में पवित्र भावों के पौधे उगते, बढ़ते और फलते हैं। (कन्यादान पृ० ४१)

कवि को देखिए, अपनी कविता के रस पान से मस्त होकर वह अन्तःकरण के भी परे आध्यात्मिक नभोमण्डल के बादलों में विचरण करता है (कन्यादान पृ० ४२)

यह देवी तो यहाँ संसार रूपी सिंह पर सवारी करती है। (कन्यादान पृ० ५३)

बिस्तरों और आसनों पर सोते और बैठे-बैठे मन के घोड़े हार गए हैं। (मजदूरी और प्रेम पृ० ८६)

जो आँख हर आँख में अपने ही प्यारे को देखती है, वह भला तुम्हारी कला के पैमानों के कारागार में कैसे बन्द हो सकती है। (अमेरिका का मस्त जोगी वाल्ट ह्विटमैन पृ० ६८)

निरंग रूपक ही नहीं सांग रूपक भी प्रयुक्त हुए हैं। दो उदाहरण देखिए—

हल चलाने और भेड़ चराने वाले प्रायः स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलाने वाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उसकी हवनशाला है। उनके हवन कुंड की ज्वाला की किरणें चावल के लम्बे और सुफेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाल-लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियाँ की डलियाँ-सी हैं। (मजदूरी और प्रेम पृ० ७८)

कवि को देखिए, अपनी कविता के रस पान से मत्त होकर वह अन्तःकरण के भी परे आध्यात्मिक नभोमंडल के बादलों में विचरण करता है। ये बादल चाहे आत्मिक जीवन के केन्द्र हों, चाहे निर्विकल्प समाधि के मन्दिर के बाहर के घेरे, इनमें जाकर कवि जरूर सोता है। कवि यहाँ ब्रह्म रस का पान करता है और अचानक बैठे बिठाये श्रावण भादों के मेघ की तरह संसार पर कविता की वर्षा करता है।''''''उसकी कविता के शब्द केवल इस वर्षा के दाने हैं। यह तो ऐसे कवि के शान्त रस की बात हुई। इस तरह के कवि का वीर रस इसी शान्त रस के बादलों की टक्कर से पैदा हुई बिजली की गरज और चमक है। (कन्यादान पृ० ४३)

अन्य अलंकार एवं उनके उदाहरण

उत्प्रेक्षा—

(१) वीर तो यह समझता है कि मनुष्य का जीवन एक जरा-सी चीज है। यह सिर्फ एक बार के लिये काफी है। मानो इस बन्दूक में एक ही गोली है। (सच्ची वीरता पृ० ३४)

(२) कन्या किसी वीर शुद्ध हृदय और सोहने नौ जवान को अपना दिल चुपके-चुपके पेड़ों की आड़ में, या नदी के तट पर, या वन के किसी सुनसान स्थान में दे देती है। अपने दिल का हार देती है, मानो अपने हृत्कमल को अपने प्यारे पर चढ़ा देती है। (कन्यादान पृ० ४६)

(३) ज्यों ही उस कन्या का हाथ अपने पति के हाथ पर पड़ा त्यों ही उस देवी की समाधि खुली।''''''चन्द्रमा और तारागण, ध्रुव और सप्तर्षि इसके गवाह हुए। मानो ब्रह्मा ने स्वयं आकर इस संयोग को जोड़ा। (कन्यादान पृ० ६०)

अन्योक्ति—

(१) दरख्त तो जमीन से रस ग्रहण करने में लगा रहता है। उसे यह ख्याल ही नहीं होता कि मुझमें कितने फल या फूल लगेंगे और कब लगेंगे। (सच्ची वीरता पृ० ३१)

(२) बादल गरज-गरज कर ऐसे ही चले जाते हैं, परन्तु बरसने वाले बादल जरा देर में बारह इंच तक बरस जाते हैं। (सच्ची वीरता पृ० ३५)

(१) यदि कुल समुद्र का जल उड़ा दो तो रेडियम धातु का एक कण कहीं हाथ लगेगा। (आचरण की सभ्यता पृ० ७३)

तुल्य योगिता—

फिर चाहे यह अवस्था हरे-हरे बाँस की पोरी से, चाहे नारद की वीणा से, और चाहे सरस्वती के सितार से वह निकले। (कन्यादान पृ० ४३)

व्यतिरेक—

वे तो देवदार के दरख्तों की तरह जीवन के अरण्य में खुदबखुद पैदा होते हैं और बिना किसी के पानी दिए, बिना किसी के दूध पिलाये, बिना किसी के हाथ लगाए, तैयार होते हैं।

रूपकातिशयोक्ति—

(१) जब ये शेर जाग कर गर्जते हैं, तब सदियों तक इनकी आवाज की गूंज सुनाई देती है। (सच्ची वीरता पृ० २५)

(२) अगर चार चिड़ियाँ मिलकर मुझे फाँसी का हुक्म सुना दें और मैं उसे सुनकर रो दूँ या डर जाऊँ तो मेरा गौरव चिड़िया से भी कम हो जाय। (सच्ची वीरता पृ० ३६)

सचमुच कामधेनु आकाश से उतरकर ऐसे घर में निवास करती है। (कन्यादान पृ० ५७)

(३) ये छोड़ना चाहते हैं परन्तु काली कमली उन्हें नहीं छोड़ती। (मजदूरी और प्रेम पृ० ९३)

सम्बन्धातिशयोक्ति—

(१) जो लोग उसके सामने आये थे इसके दास बन गए। चन्द्र और सूर्य ने बारी-बारी से उठ कर सलाम किया। (सच्ची वीरता पृ० २६)

इन अलंकारों में सबसे चमत्कारिक प्रयोग है विरोधाभास का। आचार्य केशव के समान सरदार पूर्णसिंह को भी विरोधाभास बहुत प्रिय है और इस अलंकार पर उनका स्वामित्व भी पूरा है। कुछ उदाहरण—

कायर पुरुष कहते हैं—आगे बढ़े चलो। वीर कहते हैं—पीछे हटे चलो। (सच्ची वीरता पृ० ३५)

आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है। यह सभ्याचरण नाद करता हुआ भी मौन है। (आचरण की सभ्यता पृ० ६२)

राजा में फकीर छिपा है और फकीर में राजा। बड़े से बड़े पंडित में मूर्ख छिपा है और बड़े से बड़े मूर्ख में पंडित। वीर में कायर और कायर में वीर सोता है। पापी में महात्मा और महात्मा में पापी डूबा हुआ है। (आचरण की सभ्यता पृ० ६६)

(४) वे दोनों इस वृद्ध-युवक को आवारा समझ कर कुछ खफा हुईं, कुछ शरमाईं, कुछ मुसकराईं। (अमेरिका का मस्त जोगी वाल्ट ह्विटमैन पृ० ६७)

(५) गरीबों को अमीर और अमीरों को गरीब करने वाला कवि यही है। (अमेरिका का मस्त जोगी वाल्ट ह्विटमैन पृ० ६६)

(३) भावुकता

अलंकारों के बल पर भाषा में चमत्कार एवं शृङ्गार भरा है तो भावुकता भरे छोटे-छोटे सरल वाक्यों द्वारा लेखक ने निबंधों में भावुकता और सरसता भरी है। यह सरसता, भावुकता भरे प्रेम प्रसंगों के चित्रण से उत्पन्न की गई है—

(क) योरप में आदि काल से ऐसा रवाज चला आया है कि एक युवा कन्या किसी वीर, शुद्ध हृदय और सोहने नौजवान को अपना दिल चुपके-चुपके पेड़ों की आड़ में, या नदी के तट पर, या बन के किसी सुनसान स्थान में, दे देती है। अपने दिल को हार देती है, मानो अपने हृत्कमल को अपने प्यारे पर चढ़ा देती है, अपने आपको त्याग कर वह अपने प्यारे में लीन हो जाती है।

लेखक भी भावावेश में आकर चिल्लाने लगता है—

वाह! प्यारी कन्या तूने तो जीवन के खेल को हार कर जीत लिया। तेरी इस हार की सदा संसार में जीत ही रहेगी। उस नौ जवान को तू प्रेममय कर देती है। एक अद्भुत प्रेम योग से उसे अपना कर लेती है। उसके प्राण की रानी हो जाती है। देखो! वह नौ जवान दिन-रात इस धुन में है कि किस तरह वह अपने आपको उत्तम से उत्तम और महान् से महान् बनाये। (कन्यादान पृ० ४६)

(ख) और जब उसे पा लेता है तब हाथ में विजय का फुरेरा लहराते हुए एक दिन अकस्मात् उस कन्या के सामने आकर खड़ा हो जाता है। कन्या के नयनों से गंगा बह निकलती है और उस लाल का दिल अपनी प्रियतमा की सूक्ष्म प्राणगति से लहराता है, काँपता है, और शरीर ज्ञान हीन हो जाता है। बेबस होकर वह उसके चरणों में अपने आपको गिरा देता है। कन्या तो अपने दिल को दे ही चुकी थी, अब इस नौजवान ने आकर अपना दिल अर्पण कर दिया। इस पवित्र प्रेम ने दोनों के जीवन को रेशमी डोरों से बाँध दिया। (कन्यादान पृ० ४७)

उद्दीपन सामग्री के साथ आलंबन और आश्रय के मिलन का वर्णन लेखक और भी तन्मयता से करता है और अपने हृदय की पूरी भावुकता भेंट कर देता है—

(ग) चाँदनी रात है। मंद-मंद पवन चल रही है। वृक्ष अजीब लीला में आस-पास खड़े हैं। और यह कन्या और नौजवान कई दिन बाद मिले हैं। मेरीयस के लिए तो कुल संसार इस देवी का मंदिर रूप हो रहा था। अपने हृदय की ज्योति को

प्रज्जलित करके उस देवी की वह आरती करने आया है। कौसद घास पर लेटी है। कुछ मीठी-मीठी प्रेम भरी बात चीत हो रही है। (कन्यादान पृ० ४७)

शृङ्गार के उदाहरण हमने देखे। करुण स्थलों को लाकर भी लेखक इसी प्रकार अपने हृदय की सुधा बूंदों को टपकाता है, एवं सम्पूर्ण मार्मिकता और भावावेश से वियोग के चित्र खींचता है:—कन्या के कमरे में दो एक छोटे-छोटे बिनौले के दीपक जल रहे हैं। एक जल का घड़ा रक्खा है। कुशासन पर अपनी सहेलियां सहित कन्या बैठी है। सम्बन्धी जन चमचमाते हुए थालों में मेंहदी लिए आ रहे हैं। कुछ देर में प्यारे भाई की बारी आई कि वह अपनी भगिनी के हाथों में मेंहदी लगाये। जिस तरह समाधिस्थ योगी के हाथों पर कोई चाहे जो कुछ करे उसे खबर नहीं होती, उसी तरह इस भोली-भाली कन्या के दो छोटे-छोटे हाथ उसके भाई के हाथ पर हैं, पर उसे कुछ खबर नहीं। वह नीरव भरा वीर अपनी बहन के हाथों में मेंहदी लगा रहा है।

लेखक इस करुण-प्रसंग पर भावावेश में आकर अपनी स्थिति और अपनी भावुकता का वर्णन स्वयं करता है—

उसे इस तरह मेंहदी लगाते समय कन्या के अलौकिक त्याग को देखकर मेरी आँखों में जल भर आया और मैंने रो दिया। ऐ मेरी बहन! जिस त्याग को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते सैकड़ों पुरुषों ने जानें हार दीं और त्याग न कर सके, जिसकी तलाश में बड़े-बड़े बलवान् निकले और हार कर बैठ गए; क्या आज तूने उस अद्भुत त्यागादर्श रूपी वस्तु को सचमुच ही पा लिया शरीर को छोड़ बैठी, और हमसे जुदा होकर देवलोक में रहने लग गई। आ, मैं तेरे हाथों पर मेंहदी का रंग देता हूँ। तूने अपने प्राणों की आहुति दे दी है; मैं उस आहुति से प्रज्ज्ववलित हवन की अग्नि के रंग का चिह्न मात्र तेरे हाथों और पाँवों पर प्रकाशित करता हूँ। (कन्यादान पृ० ५६-५७)

कबीर ने लाल की लाली जग में देखी और कबीर की आत्मा लाल होगई; जायसी ने समस्त लाल वस्तुओं में पद्मावती रूपी परमात्मा की अधर लालिमा पाई तथा संसार की कालिमा में पद्मावती प्रभू के केश देखे, तुलसी ने जग के अणु-अणु में सियाराम की छवि ढूँढ़ी। आधुनिक छायावादी कवियों ने प्रकृति की रग-रग में अव्यक्त का सौन्दर्य झाँका। यह काव्य जगत की बात है। गद्य के क्षेत्र में भी छायावादी सौन्दर्य प्राप्त हो सकता है, इसका उदाहरण सरदार पूर्णसिंह ने सामने रखा।

"सायंकाल होते अपने डुपट्टे के सुर्ख फूलों से फिर कुल संसार से होली खेलती हुई वह जा रही है। झरनों, चश्मों, और नदी नालों में नाच रही है। हिमालय की बर्फों में लोट रही है। सजे धजे जंगल और रूखे-सूखे बियाबानों की सनसनाहट में लोट रही है। युवती कन्या के रूप में जवानी की सुगंध फैलाती हुई यहीं चल रही है।

नरगिस (एक फूल) की आँख में किस भेद से छिपी हुई है कि प्रत्यक्ष दर्शन हो रहे हैं। बालक की बोल चाल में, चेहरे में, बचा झाँक-झाँक कर सब को देख रही है। खुला दरबार है। ज्योति का आनन्द नृत्य सब दिशाओं में हो रहा है। मीठी वायु दर्शनानन्द से चूर हो मारे खुशी के लोटती-पोटती, लड़खड़ाती, नाचती चली जा रही है। इस ब्रह्म कान्ति के जोश से बादल गरज रहे हैं। बिजली चमक रही है। अहा हा! सारा संसार कृतार्थ हुआ। (पवित्रता पृ० १०२-१०३)

जब-जब लेखक को कोई वस्तु पसन्द नहीं है और आक्रोश होता है या जब कोई बात बहुत पसन्द है और मनमयूर नाचता है तो इसी भावभरी सरस शैली का दर्शन होता है। ऐसे अनेक स्थान ढूंढ़े जा सकते हैं।[1] दो उदाहरण ये हैं—

तारागणों को देखते-देखते भारतवर्ष अब समुद्र में गिरा कि गिरा। एक कदम और, और धम से नीचे! कारण इसका केवल यही है कि यह अपने अटूट स्वप्न में देखता रहा है और निश्चय करता रहा है कि मैं रोटी के बिना जी सकता हूँ; हवा में पद्मासन जमा सकता हूँ; पृथ्वी से अपना आसन उठा सकता हूँ। योगसिद्धि द्वारा सूर्य और ताराओं के गूढ़ भेदों को जान सकता हूँ; समुद्र की लहरों पर बेखटके सो सकता हूँ। यह इसी प्रकार के स्वप्न देखता रहा, परन्तु अब तक न संसार ही की और न राम ही की दृष्टि में इसका एक भी वचन सत्य सिद्ध हुआ। यदि अब भी इसकी निद्रा न खुली तो बेधड़क शंख फूंक दो। कूच का घड़ियाल बजा दो। कहदो, भारतवासियों का इस असार संसार से कूच हुआ। (आचरण की सभ्यता पृ० ७५)

आचरण की प्राप्ति एकता की दशा की प्राप्ति है। चाहे फूलों की शय्या हो, चाहे काँटों की; चाहे निर्धन हो चाहे धनवान्; चाहे राजा हो चाहे किसान; चाहे रोगी हो चाहे निरोग—हृदय इतना विशाल हो जाता है कि उसमें सारा संसार बिस्तर लगाकर आनन्द से आराम कर सकता है; जीवन आकाशवत् हो जाता है और नाना रूप और रंग अपनी-अपनी शोभा में बेखटके निर्भय होकर स्थिर रह सकते हैं। आचरण वाले नयनों का मौन व्याख्यान केवल यह है—सब कुछ अच्छा है, सब कुछ भला है। जिस समय आचरण की सभ्यता संसार में आती है, उस समय नीले आकाश से मनुष्य को वेद ध्वनि सुनाई देती है, नर-नारी पुष्पवत् खिलते जाते हैं; प्रभात हो जाता है, प्रभात का गजर बज जाता है, नारद की वीणा अलापने लगती है, ध्रुव का शंख गूंज उठता है, प्रह्लाद का नृत्य होता है, शिव का डमरू बजता है, कृष्ण की बांसुरी की धुन प्रारंभ हो जाती है। (आचरण की सभ्यता पृ० ७७)

---

१. आचरण की सभ्यता पृ० ६३, ६५, ७४, ७७। मजदूरी और प्रेम पृ० ८४, ८५, ६४।

(४) लाक्षणिकता

इस सरसता, भावुकता और चमत्कार को उत्पन्न करने के लिए लेखक ने एक और अद्भुत कौशल अपनाया है और वह है लाक्षणिक शब्दों एवं वाक्यों का प्रयोग। लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग तीन रूपों में दिखाई देता है—

(क) व्यक्ति वाचक संज्ञाओं का प्रयोग जैसा कि ऊपर ध्रुव, नारद, प्रह्लाद और शिव शब्दों का हुआ है। अन्य उदाहरण ये हैं—

इस वीर की आँखों की ज्वाला इन्द्रप्रस्थ से लेकर स्पेन तक प्रज्वलित हुई। (सच्ची वीरता पृ० २६)

इन्द्र की तरह ऐश्वर्यवान् और बलवान् होने पर भी दुनिया के छोटे "जार्ज" बड़े कायर होते हैं। (सच्ची वीरता पृ० २७)

अगर कोई छोटा-सा बच्चा नैपोलियन के कंधे पर चढ़कर उसके सिरके बाल खींचे। (सच्ची वीरता पृ० ३७)

प्रकृति ने हर एक मनुष्य के लिए इस नयन नीर के रूप में मसीहा भेजा है। (कन्यादान ४१)।

क्या उसी नीर में हमारे लिये राम ने अमृत नहीं भरा। (कन्यादान पृ० ४३)

जिस समय बुद्धदेव ने स्वयं अपने हाथों से हाफिज शीराजी का सीना उलट कर उसे मौन आचरण का दर्शन कराया……जब पैगम्बर मुहम्मद ने ब्राह्मण को चीरा……जब शिव ने अपने हाथ ईसा के शब्दों को परे फेंक कर उसकी आत्मा के नंगे दर्शन कराये। (आचरण की सभ्यता पृ० ७६)

यह प्रकृति का बंभोला कौन? यह वन का शाह दौला है कौन? (अमेरिका का मस्त योगी वाल्ट ह्विटमैन ६८)

कृष्ण की बांसुरी थम गई। ध्रुव का शंख गिर पड़ा, शिव का डमरू बन्द हो गया। (पवित्रता पृ० १०४)

(ख) धार्मिक और सामाजिक वस्तुओं, कृत्यों एवं प्रणालियों का लक्षणात्मक प्रयोग, लेखक ने नवीन अर्थों में अपना मानसिक विरोध प्रकट करने के लिए किया है। ऐसे स्थलों पर लेखक प्राणायाम, नेती, तप, तीर्थ, प्रार्थना, संध्या, नमाज, धर्म, ईश्वर पूजा, आस्तिकता, नास्तिकता इत्यादि शब्दों को नवीन अर्थ देता है। उदाहरण—

मेरे तो यही शालग्राम हैं। मैं इनको स्नान कराता हूँ इन पर फूल चढ़ाता हूँ। (कन्यादान पृ० ५४)

पहाड़ों पर चढ़ने से प्राणायाम हुआ करता है, समुद्र में तैरने से नेती हुआ करती है; आँधी, पानी, और साधारण जीवन के ऊँच-नीच, गरमी-सरदी, गरीबी-अमीरी को झेलने से तप हुआ करता है। (आचरण की सभ्यता पृ० ७५)

मनुष्य पूजा ही ईश्वर पूजा है। अब तो यही इरादा है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा में ईश्वर के दर्शन करेंगे। यही आर्ट है—यही धर्म है।

(मजदूरी और प्रेम पृ० ८५)

(ग) मुहावरों और वाक्यांशों का प्रयोग चमत्कारिक ढंग से किया गया है। ऐसे स्थल बड़े ही मार्मिक और चमत्कारपूर्ण बन गए हैं। लक्षणात्मक वाक्यों की भी कमी नहीं है। उदाहरण—

पहाड़ों की पसलियाँ तोड़ कर ये लोग हवा के बगोले की तरह निकल जाते हैं।

(सच्ची वीरता पृ० २६)

इस छोटे से सन्यासी ने वह तूफान योरप में पैदा कर दिया जिसकी एक लहर से पोप का सारा जंगी बेड़ा चकनाचूर हो गया। (सच्ची वीरता पृ० ३०)

चिड़ियों और जानवरों की कचहरियों के फैसलों से जो डरते या मरते हैं वे मनुष्य नहीं हो सकते। (सच्ची वीरता पृ० ३६)

सदियों नीचे आग जलती रहे तो भी शायद ही वीर गरम हो और हजारों वर्ष बर्फ उस पर जमती रहे तो भी क्या मजाल जो उसकी वाणी तक ठंडी हो।

(सच्ची वीरता पृ० ३६)

प्यारे, अन्दर के केन्द्र की ओर अपनी चाल उलटो और इस दिखावटी और बनावटी जीवन की चंचलता में अपने आप को न खो दो।······टीन के बरतन का स्वभाव छोड़कर अपने जीवन के केन्द्र में निवास करो और सचाई की चट्टान पर दृढ़ता से खड़े हो जाओ। (सच्ची वीरता पृ० ४०)

हृदयस्थली में पवित्र भावों के पौधे उगते-चढ़ते और फलते हैं। वर्षा और नदी के जल से तो अन्न पैदा होता है परन्तु नयनों की गंगा से प्रेम और वैराग्य के द्वारा मनुष्य जीवन को आग और बर्फ से बपतिस्मा मिलता है।

(कन्यादान पृ० ४१)

प्रेम की बूंदों में यह असार संसार मिथ्या रूप होकर घुल जाता है और हम पृथ्वी से उठकर आत्मा के पवित्र तमोमंडल में उड़ने लगते हैं।

(कन्यादान पृ० ४२)

जब साहित्य, संगीत और कला की अति ने रोम को घोड़े से उतार कर मखमल के गद्दों पर लिटा दिया। (आचरण की सभ्यता पृ० ७२)

आचरण केवल मन के स्वप्नों से कभी नहीं बना करता। उसका सिर तो शिलाओं के ऊपर घिस-घिस कर बनता है, उसके फूल तो सूर्य की गरमी और समुद्र के नमकीन पानी से बारम्बार भीग कर और सूख कर अपनी लाली पकड़ते हैं।

(आचरण की सभ्यता पृ० ७५)

ऐसा होने से कदाचित् इस वनवासी परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल

जायँ और मैं ईश्वरीय झलक देख सकूं तो चन्द्र और सूर्य की विस्तृत ज्योति में जो वेद गान हो रहा है। उसे इस गड़रिये की कन्याओं की तरह मैं सुन तो न सकूं पर कदाचित् प्रत्यक्ष देख सकूं। (मजदूरी और प्रेम पृ० ८२)

उसके सितार के तार टूट गए। नारद की वीणा चुप हो गई''''महात्मा पंडितजी जा रहे हैं। पुस्तकों से लदा छकड़ा साथ जा रहा है। परन्तु पंडितजी इन अमूल्य पुस्तकों को छकड़े समेत अपने सिर पर उठाए हुए हैं। (पवित्रता पृ० १०४)

(५) व्यंग्य

लेखक बीच-बीच में व्यंग्य की तीखी बौछारें करता जाता है। इन चुटीले तीरों के कारण कथनों में मार्मिकता, तीखापन, मनोरंजकता, सरसता और भावुकता भर गई है। सरदार साहब के व्यंग्य बान बड़े पैने और प्रहारक हैं और वे पूरी शब्द शक्ति के साथ आगे बढ़ते हैं। वह निबंधकार सफलता पाता है और निबंध को उत्तम बना लेता है जो अपने निबंधों में व्यंग्य की मार्मिक चोट दे पाता है। प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, पं० रामचन्द्र शुक्ल और सरदार पूर्णसिंह इसके पुष्ट उदाहरण हैं। व्यंग्य सदा लक्षणा या व्यंजना के बल पर बढ़ता है। फलतः उसमें मार्मिकता आ जाती है। उदाहरण—

पुस्तकों और अखबारों को पढ़ने से या विद्वानों के व्याख्यानों को सुनने से तो बस ड्राइंग हाल के वीर पैदा होते हैं। (सच्ची वीरता पृ० ३४)

"दुनिया किसी कूड़े के ढेर पर नहीं खड़ी कि जिस मुर्गे ने बांग दी वही सिद्ध हो गया।" (सच्ची वीरता पृ० ३६)

आजकल भारतवर्ष में परोपकार करने का बुखार फैल रहा है। जिसको १०५ डिग्री का यह बुखार चढ़ा वह आजकल के भारतवर्ष का ऋषि हो गया। आजकल भारतवर्ष में अखबारों की टकसाल में गढ़े हुए वीर दर्जनों मिलते हैं। जहाँ किसी ने एक दो काम किए और आगे बढ़कर छाती दिखाई नहीं कि हिन्दुस्तान के सारे अखबारों ने हीरो की पुकार मचाई। बस एक नया वीर तैयार हो गया। (सच्ची वीरता पृ० ४०)

पुस्तकों में लिखे हुए नुसखों से तो और भी अधिक बदहजमी हो जाती है। सारे वेद और शास्त्र भी यदि घोल कर पी लिये जायँ तो भी आदर्श आचरण की प्राप्ति नहीं होती। (आचरण की सभ्यता पृ० ६४)

वेद इस देश के रहने वालों के विश्वासानुसार ब्रह्म वाणी हैं परन्तु इतना काल व्यतीत हो जाने पर भी आज तक वे समस्त जगत की भिन्न-भिन्न जातियों को संस्कृति भाषा न बुला सके, न समझा सके, न सिखा सके। (आचरण की सभ्यता पृ० ६५)

किसस छिपाते हो ? ज्यों-ज्यों द्रोपदी को नग्न करने में लगे हो त्यों-त्यों तुम्हारा वैराग्य और त्याग गंगा में वह रहा है। गेरुए कपड़े के नीचे वैसे के वैसे न सजे हुए पत्थर की तरह तुम निकले। (पवित्रता पृ० ११६)

भगवन ! तीसरा नेत्र खोल कर जरा इस देश के गेरुआ रंगे उपदेशकों के अन्दर के अंधकार को क्यों नहीं देखते ? (पवित्रता पृ० १२१)

कहाँ हैं तुम्हारे साधु, जिनके हुकूमत से हाथ बाँधे वे कलकत्ते के सेठ या पेशावर के ठेकेदार गुलाम फिर रहे हैं। (पवित्रता पृ० १२४)

भारत निवासियों ने एक प्रकार की पुड़िया और गोली बनाई है जिसके खाते ही चन्द्रमा चढ़ जाता है……हृषीकेश में वह अनमोल गोली बिकती है और सिर्फ दो चपाती के दाम, जिस गोली के खाने से सारे जन्म कट जाते हैं, सब पाश टूट जाते हैं और जीवन मुक्त हो सारे संसार को अपनी उंगलियों पर नचा सकोगे और बिना नेत्र के, बिना बुद्धि के, बिना विद्या के, बिना हृदय के, बुद्ध वाले निर्वाण, पतंजलि वाली कैवल्य, वैशेषिकवाली विशेष, वेदान्त वाली विदेह मुक्ति मिलती है। बेचने वाले देखो वे जारहे हैं। तीन चार पुस्तकें हाथ में हैं और तीन चार पुस्तकें बगल में। (पवित्रता पृ० १२७)

कभी-कभी व्यंग्य अत्यन्त तीखा और आक्रामक हो जाता है और लेखक स्पष्टता पर उतर जाता है। वह सीधे लिख उठता है—

आपका नाम ही नाम रह गया है जिसके सहारे कई ईंट पत्थर रोड़े के मंदिर खड़े हो गए। बुत बन गए परन्तु मनुष्य डूब गया। इसके नीचे आ मर गया, मनुष्यता अपवित्रता की कीचड़ में फंस कर मर ही गई। (पवित्रता पृ० १२०)

गेरुआ रंग को न तो पवित्र धरा पर ही रहने दिया और न आपके शरीर पर। अब तो गेरुआ रंग मखमल के तकियों पर, चमड़े की बग्घियों पर, जागीरों और मठों के एकत्र किए हुए खज़ानों पर रखा है। दासत्व, कमजोरी, कमीनापन, कपट का पर्दा हो रहा है। (पवित्रता पृ० १२१)

लेखक सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों, कुप्रथाओं, और अंध विश्वासों के विरुद्ध व्यंग्यवान् का प्रहार करते-करते प्रायः उग्र हो उठता है। तब वह गर्म होकर अपना क्रोध प्रकट करता है और कभी-कभी गाली भी दे बैठता है। उदाहरण—

भारत निवासियों का राज्य तो आध्यात्मिक जगत पर है। अगर यह राज्य न हुआ तो मुर्दा भूमि के ऊपर राज्य किस काम का ? जल न जायँ वह महल जहाँ ब्रह्म कान्ति से रोशनी न हो। गोली न लग जाय उन दिलों को जहाँ प्रेम और पवित्रता के अटल दीपक नहीं जगमगाते। (पवित्रता पृ०. १०६)

द्रोपदी की साड़ियाँ उतार-उतार अपनी पवित्रता के साधन कर रहे हो ? फूँक क्यों नहीं डालते उन ग्रन्थों या हिस्सों को जहाँ तुमको ऐसा वहशी बनाकर पवित्र बनाने के झूठे वचन लिखे हैं। (पवित्रता ११६)

पंडितों की ऊटपटांग बातों से मेरा जी घबरा गया है।

(मजदूरी और प्रेम पृ० ८२)

निकम्मे पादड़ियों, मौलवियों, पण्डितों और साधुओं का दान के अन्न पर फला हुआ ईश्वर चिन्तन, अन्त में पाप, आलस्य और भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है। (मजदूरी और प्रेम पृ० ८६)

(६) वैयक्तिकता—

हमने ऊपर देखा कि सरदार पूर्ण सिंह की शैली में अलंकरण, भावुकता, लाक्षणिकता एवं व्यंग्य का प्रयोग प्राप्त होता है। निबन्ध की उत्तमता की एक प्रमुख कसौटी यह भी है कि उसमें लेखक का व्यक्तित्व सामने आ खड़ा हो। भाषा, विचार, भाव, वाक्य निर्माण एवं शैली के पीछे व्यक्तित्व छिपा ही रहता है किन्तु उसे उभर कर बार बार सामने, पर्दे के बाहर भी आना चाहिये। वैयक्तिकता का अर्थ है कि लेखक अपने विषय में, अपने व्यक्तिगत विचार, अपने जीवन-प्रसंग, अपने अनुभव भी कहता चले। सरदार साहब के निबन्धों में यह वैयक्तिकता पूरी तरह भरी पड़ी है। यह वैयक्तिकता दो रूपों में प्राप्त होती है।

(१) वह अपनी बात कहता है, अपने अनुभव व एवं मनोभावों को प्रकट करता है।

लेखक सरस्वती में लेख छपवाता था। सरस्वती के सम्पादक को वह नीली पेंसिल फेरने का अधिकार देता है।[1] भारतवर्ष की विकृत वैवाहिक रीतियों का पक्ष लेता हुआ वह अवशिष्ट वैवाहिक रीति रिवाजों को अपना शालिग्राम बताता है और उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखता है।[2] विवाह के अन्तिम दिन एक कन्या के हाथ पर जब भाई मेंहदी लगा रहा था तो लेखक का दिल भर आया और नेत्र बरसने लगे थे। लेखक ने इस करुण प्रसंग का वर्णन रोती लेखनी से किया है[3]। लेखक की भेंट जंगल में एक गड़रिये से हुई थी। उसका वर्णन लेखक बड़ी भावुकता से करता है।[4] लेखक जब कभी दुखी होता है तो मीरा बाई के चित्र को प्रणाम करता है और प्रेरणा पाता है।[5]

---

१. कन्यादान पृ० ४५
२. कन्यादान पृ० ५४
३. कन्यादान पृ० ५७
४. मजदूरी और प्रेम पृ० ८०
५. पवित्रतापृ० ११५

एक चित्र में स्वामी रामकृष्ण परम हंस एक वारांगना के पैरों पर गिर कर प्रणाम कर रहे हैं। लेखक भी उसे प्रणाम करता है। ऐसा देखकर कोई कह सकता है कि सरदार पूर्ण सिंह मूर्ति पूजक होगया है। इसका उत्तर देते हुए लेखक कहता है "कहोगे, पूर्ण तो मूर्ति पूजक होगया कुछ भी कहो।"[1]

(२) ऐसी बात नहीं है कि उत्तम पुरुष के वाचक सर्वनाम "मैं" द्वारा सर्वत्र ही लेखक अपने व्यक्तिगत जीवन के प्रसंगों को दे रहा है। नहीं अनेक स्थलों पर वह तुलसी और सूर के समान उत्तम पुरुष वाची सर्वनामों द्वारा सबकी बात कहता है। ऐसे स्थलों पर उत्तम पुरुष का प्रयोग लेखक के व्यक्तिगत जीवन प्रसंगों के लिए नहीं हुआ है वरन् यहाँ वह लिखने की शैली मात्र है। जब तुलसी कहते हैं "मैं हरिसाधन करै न जानी" तो यहाँ सभी जीवों के लिए कहा गया है। यहाँ 'मैं' में तुलसी भी छिपे बैठे हैं किन्तु सरदार साहब तो ऐसे स्थलों पर वैयक्तिकता की छाप मात्र दिखाने के ही लिए "मैं" का प्रयोग करते हैं। यहाँ मैं के पीछे उनकी शैली अधिक है उनका व्यक्तित्व कम। उदाहरण—

लेखक अपने को किसान मानकर कहता है इनसे आशीर्वाद लेकर हल चलाने जाता हूँ। (कन्यादान पृ० ५५)

पुनः वह कहता है "मैं तो अपनी खेती करता हूँ। अपने हल और बैलों को प्रातःकाल उठकर प्रणाम करता हूँ, मेरा जीवन जंगल के पेड़ों और पक्षियों की संगति में गुजरता है, आकाश के बादलों को देखते मेरा दिल निकला जाता है। मेरे खेत में अन्न उग रहा है, कमर के लिये लंगोटी और सिर के लिये एक टोपी बस है। हाथ पाँव मेरे बलवान है, शरीर मेरा अरोग्य है, भूख खूब लगती है।

(आचरण की सभ्यता पृ० ७१)

इसी प्रकार लेखक लोहार के रूप में अपने को उपस्थित करता हुआ कहता है। "यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो ऐसे ज्ञान ही से क्या प्रयोजन? जब तक मैं अपना हथौड़ा ठीक-ठीक चलाता हूँ और रूप हीन लोहे को तलवार के रूप में गढ़ देता हूँ तब तक यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो नहीं होने दो।

(आचरण की सभ्यता पृ० ७०)

भक्तों के समान लेखक अपने को अपवित्र और अधम मानता हुआ कहता है "ऐसे कैसे निर्भेगी हाय मुझमें यह अपवित्रता कहाँ से आगई? क्यों आ गई? ब्रह्म को भी कलंकित कर रही है"......"कौन सा कलियुग मेरे मन में भूत की तरह आ समाया है कि मुझे सब कुछ भुला दिया खुरा होकर जुआ खेलने लगा। अपनी आत्मा को भी हार बैठा। (पवित्रता पृ० १०५)

---

११. पवित्रता ४०११६

इसी प्रकार अन्यत्र वह शंकर भगवान से प्रार्थना करता है। हे शंकर भगवान ! आपसे विनय पूर्वक आज्ञा माँग कर आपकी सेवा में उपस्थित होता हूँ। परन्तु मैं तो अपने अपवित्र देशवासियों के विरुद्ध अपील लेकर आया हूँ।

(पवित्रता पृ० १२०)

सरदार पूर्णसिंह की शैली में ऊपर लिखी विशेषताओं के अतिरिक्त निम्न-लिखित प्रणालियाँ या रीतियाँ और प्राप्त होती हैं—

(i) निगमन रीति।

(ii) कथोपकथन रीति।

(iii) वर्णनात्मक कथात्मक रीति।

(iv) संबोधन, उपदेश रीति।

(i) **निगमनागमन रीति**—पं० रामचन्द्र शुक्ल निगमन रीति के लिए प्रसिद्ध हैं। इस रीति में पहिले एक सामान्य बात या किसी वस्तु के विषय में कहकर उसकी तर्कों द्वारा या उदाहरणों द्वारा पुष्टि की जाती है। निगमन रीति के लिखने में सरदार साहब ने तीन प्रणालियाँ अपनाई हैं (क) शुक्लजी वाली प्रणाली जिसमें एक सूत्र जैसी एक बात कह कर उसकी व्याख्या की गई है। उदाहरण—

सत्व गुण के समुद्र में जिनका अन्तःकरण निमग्न हो गया वही महात्मा, साधु और वीर है। ये लोग अपने क्षुद्र जीवन को परित्याग कर ऐसा ईश्वरीय जीवन पाते हैं कि उनके लिये संसार के कुल अगम्य मार्ग साफ हो जाते हैं। आकाश उनके ऊपर बादलों के छाते लगाता है। प्रकृति उनके मनोहर माथे पर राज तिलक लगाती है। हमारे असली और सच्चे राजा ये ही साधु पुरुष हैं। हीरे और लाल से जड़े हुए, सोने और चाँदी से जर्क वर्क सिंहासन पर बैठने वाले दुनिया के राजों को तो, जो गरीब किसानों की कमाई हुई दौलत पर पिंडोपजीवी होते हैं, लोगों ने अपनी मूर्खता से वीर बना रखा है। (सच्ची वीरता पृ० २६)

(ख) निगमन रीति की दूसरी प्रणाली वहाँ अपनाई गई है जहाँ लेखक एक सामान्य बात कह कर अनेक कथाओं एवं प्रसंगों से पुष्ट करता है। सच्चा वीर कौन है? सच्ची वीरता नामक निबंध में वह यह कह कर कि सच्चे वीर प्राणों तक का उत्सर्ग करने में नहीं हिचकते, कई उदाहरण देता है। ये उदाहरण हैं बाग्री गुलाम, मंसूर शम्स, तबरेज, भगवान, शंकर, अकबर के दर्बार में आए दो वीर पुरुष और बुद्धदेव[1]। इसी प्रकार कन्यादान में लेखक कन्या के गुप्त रूप से दिल देने की सामान्य बात कह कर लैलामजनूं, सोहनी महींवाल, रांझाहीर, शकुन्तला, नल दमयंती, सीता के

१. सच्ची वीरता पृ० २६,२७,२८

उदाहरणों से इस की पुष्टि करता है।[1] आचरण का प्रभाव मौन रूप से पड़ता है यह कह कर लेखक शिकारी राजा, बुद्ध, सूरदास, ईसा और ध्रुव के उदाहरण सामने रखता है।[2]

(ग) निगमन रीति की तीसरी प्रणाली लेखक ने वहाँ अपनाई है जहाँ वह एक बात कह कर उसी को भिन्न-भिन्न शब्दों में कहता है जैसे कि "जब कभी इसका विकास हुआ तभी एक नया कमाल नजर आया, एक नया जलाल पैदा हुआ, एक नई रौनक, एक नया रंग, एक नई बहार, एक नई प्रभुता संसार में छा गई।"[3] लेखक ने आगमन रीति का भी अपनी शैली में अनुगमन किया है। इस रीति में पहिले कुछ तथ्य देकर बाद में सिद्धात का प्रतिपादन किया जाता है अथवा किसी के विषय में कुछ कह कर बाद में उस व्यक्ति या विषय का नाम दिया जाता है। इसका सुन्दर उदाहरण है सरदार साहब का निबंध अमेरिका का मस्त जोगी वाल्ट ह्विट मैन। लेखक आरंभ करता है, "एक लम्बा, ऊँचा, बृद्ध युवक, मिट्टी गारे से लिप्त, मोटे वस्त्र का पतलून और कोट पहने, नंगे सिर, नंगे पैर और नंगे ही दिल अपनी तिनकों की टोपी मस्ती में उछालता, झूमता जा रहा है।" आगे कई अनुच्छेदों में इसी प्रकार कहकर अन्त में चौथे अनुच्छेद में लेखक व्यक्ति का नाम "मस्त फकीर वाल्ट ह्विट मैन" प्रकट करता है।[4]

(ii) लेखक ने अपनी शैली में कथोपकथन रीति का भी भरपूर प्रयोग किया है[5] उदाहरण—"एक बागी गुलाम और एक बादशाह की बातचीत हुई। वह क़ैदी गुलाम दिल से आजाद था। बादशाह ने कहा—"मैं तुमको अभी जान से मार डालूंगा।" "तुम क्या कर सकते हो?" गुलाम बोला—"हां, मैं फांसी पर तो चढ़ जाऊँगा पर तुम्हारा तिरस्कार तब भी कर सकता हूँ।"

(iii) वर्णनात्मक—कथात्मक रीति—लेखक ने वर्णनात्मक[6] और कथात्मक[7] शैली की दोनों रीतियों का प्रयोग अपने निबन्धों में किया है। उदाहरण—

वर्णनात्मक—ऐसे ही पवित्र भावों से भरे हुए महात्मा विवाह मंडप में जमा हैं। अग्नि प्रज्वलित है। हवन की सामग्री से सत्त्वगुणी सुगंध निकल निकल कर सबको शान्त और एकाग्र कर रही है। तारागण चमक रहे हैं। ध्रुव और सप्तर्षि पास

१. कन्यादान पृ० ४८।
२. आचरण की सभ्यता पृ० ६६, ६७, ६८।
३. सच्ची वीरता पृ० ३२।
४. अमेरिका का मस्त जोगी वाल्ट ह्विट मैन पृ० ६६, ६७, ६८।
५. सच्ची वीरता पृ० २७ व २८।
६. कन्यादान पृ० ५५, ५८, मजदूरी और प्रेम पृ० ८०।
७. आचरण की सभ्यता पृ० ६६, मजदूरी और प्रेम पृ० ८३।

ही आ खड़े हुए हैं। चन्द्रमा उपस्थित हुआ है। देवी और देवता इस देवलोक में विहार करने वाली आर्य पुत्री का विवाह देखने और उसे सौभाग्य शीला होने का आशीर्वाद देने आये हैं। समय पवित्र है। हृदय पवित्र है। वायु पवित्र है और देवी देवताओं की उपस्थिति ने सबको एकाग्र कर दिया है। (कन्यादान पृ० ५८-५६)

कथात्मक प्रणाली—गाढ़े की एक कमीज को एक अनाथ विधवा सारी रात बैठकर सीती है; साथ ही साथ वह अपने दुख पर रोती भी है—दिन को खाना न मिला। रात को भी कुछ मयस्सर न हुआ। अब वह एक टाँके पर आशा करती है कि कमीज कल तैयार हो जायगी; तब कुछ तो खाने को मिलेगा। जब वह थक जाती है तब ठहर जाती है। सुई हाथ में लिये हुए है, कमीज घुटने पर बिछी हुई है'' (मज़दूरी और प्रेम ८३)

(iv) लेखक बीच बीच में व्याख्यानात्मक रीति से संबोधन करता जाता है। वह पाठकों को "प्यारे[१], भाई,[२] पाठक[३] कहकर संबोधन करता है। कभी ऐसा कोई संबोधनात्मक शब्द नहीं रखता वरन् प्रार्थना करता है, और कहता है—"विचार करके देखो, मौन व्याख्यान किस तरह आपके हृदय की नाड़ी-नाड़ी में सुन्दरता को पिरो देता है।" (आचरण की सभ्यता पृ० ६३)

कभी आज्ञा देता हुआ कहता है—

'याद रखिए बिना शूद्र पूजा के मूर्ति पूजा किंवा कृष्ण और शालिग्राम की पूजा होना असंभव है।' (मज़दूरी और प्रेम पृ० ६२)

"आओ यदि हो सके तो, टोकरी उठाकर कुदाली हाथ में लें। (मज़दूरी और प्रेम पृ० ६४)

"उसने मुझे नहीं देखा और न आपको। बैठ जाइए''" (पवित्रता पृ० १११)

"हो सके तो इसको अपनी बहन जानकर अब अपने हृदय को भी आजमाना" (पवित्रता ११२)

आज्ञा, अनुरोध और प्रार्थना से ऊपर उठकर लेखक बीच बीच में उपदेश[४] भी देता है। उदाहरण "टीन के बरतन का स्वभाव छोड़कर अपने जीवन के केन्द्र में निवास करो और सच्चाई की चट्टान पर दृढ़ता से खड़े हो जाओ। आओ जिन्दगी किसी और के हवाले करो ताकि जिन्दगी के बचाने की कोशिशों में कुछ भी समय

---

१. सच्ची वीरता पृ० ४०, कन्यादान पृ० ६०।
२. आचरण की सभ्यता पृ० ७५।
३. पवित्रता ११४, ११७, १२७।
४. सच्ची वीरता पृ० ४०। कन्यादान पृ० ६१। आचरण की सभ्यता पृ० ७५। पवित्रता पृ० १११ ११२, १२७।

जाया न हो। इसलिए बाहर की सतह को छोड़कर जीवन की अंदर की तहों में घुस जावो।" (सच्ची वीरता पृ० ४०)

हे भारत वासियो! इस यज्ञ के महात्म्य का आध्यात्मिक पवित्रता से अनुभव करो। इस यज्ञ में देवी और देवताओं को निमंत्रित करने की शक्ति प्राप्त करो। विवाह को मखौल न जानो। यज्ञ का खेल न करो। झूठी खुदगरज़ी की खातिर इस आदर्श को मटिया मेट न करो। कुछ जगत के कल्याण की सोचो। (कन्यादान पृ० ६१)

इस प्रकार हम देखते हैं कि सरदार पूर्णसिंह की भाषा में संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी और पंजाबी के उद्धरण प्राप्त होते हैं, हिन्दी-उर्दू से मिली जुली भाषा का प्रयोग हुआ है, मुहावरों और लक्षणा का उसे बल प्राप्त है, अलंकारों ने उसे सजाया है। उनकी शैली में भावुकता, व्यंग्य और वैयक्तिकता का मिश्रण है एवं निगमन-रीति, कथोपकथन रीति, वर्णनात्मक-कथात्मक रीति, संबोधन-उपदेश रीति का पुट पाया जाता है। हिन्दी का वह परिपक्व काल न था। दूसरे सरदार पूर्णसिंह पंजाबी थे यद्यपि उत्तर प्रदेश में नौकर थे। फलतः उनकी भाषा में व्याकरण संबंधी कुछ दोष भी प्राप्त होते हैं। ये हैं लिंग, वचन और विभक्ति दोष।

लिंग दोष—

मीरा के सम्बन्ध में लेखक कहता है "वह शेर और हाथी के सामने किये गये।" (सच्ची वीरता ३६-११)

हृदय की ऋतु बदल जाते हैं। (आचरण की सभ्यता ६३-६)

इन उदाहरणों में कर्त्ता और क्रिया का लिंग एक नहीं है।

लिंग एवं वचन दोष—

ये किस्से कहानियाँ अपवित्र मालूम होता है।

कर्त्ता का वचन और लिंग क्रिया में नहीं है।

कारक-दोष—

उनके आत्मा। (सच्ची वीरता ३८-१६)
जिनके हुकूमत। (पवित्रता पृ० १२४)
चित्रकार सुन्दरता को अनुभव करता है। (कन्यादान ४२-१२)
मैंने रो दिया। (कन्यादान ५७-४)

भाव-पक्ष

सरदार पूर्णसिंह के निबंधों में आदर्श-एवं प्रगतिशीलता का गठबंधन है। आदर्शवादिता उनके निबंधों में प्रायः सर्वत्र छिपी पड़ी है। [illegible]

है" इसको वे एक स्थान[1] पर उद्घोषित करते हैं। तो दूसरे स्थान पर आदर्श युवक का चित्र खींच कर कहते हैं "मगर मेरीयस ने फौरन अपना मुँह परे को हटा लिया। वह तो देवी पूजा के लिये आया है, आँख ऊपर करके नहीं देख सकता।"[2] अन्य स्त्रियों को किस दृष्टि से देखा जाय इसके सम्बन्ध में लिखते हुए वे कहते हैं "कौन-सा मनुष्य-हृदय इतना नीच और पापी हो सकता है जो हवन हुई कन्या के सिवा किसी अन्य स्त्री को बुरी दृष्टि से देखे। उस कुरबान हुई कन्या की खातिर कुल जगत की स्त्री जाति से उस पुरुष का पवित्र सम्बन्ध हो जाता है। स्त्री जाति की रक्षा करना और उसे आदर देना उसके धर्म का अंग हो जाता है।"[3] इसी आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण वह हिन्दुओं में प्रचलित विवाह-परम्परा का पक्ष करता है और वैवाहिक प्रथा जो खंडहरों के रूप में खड़ी है, उसको भगवान् और इष्टदेव से बड़ा बना देता है। विवाह सम्बन्धी परम्परागत रूढ़ि प्रथाओं के पक्ष में वह लेखनी द्रुत गति से दौड़ाता है। भारत की कन्यादान की रीति को वह पश्चिम से बढ़कर मानता है और पश्चिमी विवाह प्रथा का विरोध करता है।[4] पश्चिम की यांत्रिक सभ्यता का भी वह घोर विरोधी है।[5] वह कहता है "इंजनों के पहिये के नीचे दबकर वहाँ वालों के भाई-बहन—नहीं-नहीं, उनकी सारी जाति पिस गई, उनके जीवन के धुरे टूट गये, उनका समस्त धन घरों से निकल कर एक ही दो स्थानों में एकत्र हो गया।"

(मजदूरी और प्रेम ९३)

इसका यह अर्थ नहीं है कि वह पश्चिम और पश्चिमी सभ्यता का विरोधी है। नहीं, वह पश्चिम का घोर प्रशंसक है। वह पश्चिम का प्रशंसक है क्योंकि वहाँ वाले साहसी और परिश्रमी हैं। वे निर्भीकता के साथ जहाजों पर चढ़कर अज्ञात दिशाओं में फैले, और परिश्रम को महत्त्व देते हैं।[6] पश्चिम वालों के ज्ञान-विज्ञान से संसार को लाभ पहुँचा है।[7] लेखक इस सीमा तक प्रशंसक बन जाता है कि अँगरेजों की नृशंसताओं उनके कमीनेपन एवं उनके अर्थ शोषण की पिशाच प्रवृत्ति की भी सराहना करने लगता है।[8]

इस पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि को पाकर लेखक प्रगतिवादी दृष्टिकोण भी

---

१. सच्ची वीरता पृ० ३९।
२. कन्यादान पृ० ४७।
३. कन्यादान पृ० ५०।
४. कन्यादान पृ० ५४, ५५, ५६।
५. मजदूरी और प्रेम पृ० ८५, ८६, ९३।
६. आचरण की सभ्यता पृ० ७२।
७. वही पृ० ७३।
८. वही पृ० ७३।

अपनाता है और भारतीय परम्परागत रूढ़ियों, सामाजिक प्रथाओं (जातिवाद, छूत-छात) अध्यात्म, धार्मिक पुस्तकों एवं कृत्यों की खिल्ली उड़ाता है, उन पर व्यंग्य कसता है, उनकी निन्दा करता है और अपना विरोध प्रकट करता है।[1] पश्चिम के परिश्रमी जीवन को वह बहुत बड़ा पद देता है। भारतीय किसानों और मजदूरों के परिश्रमी जीवन को ऊँचा उठाता हुआ आलसी पड़े रहने वाले साधु-संन्यासियों को वह कोसता भी है। वह भारतवर्ष की उन्नति का मूल मंत्र मानता है, शारीरिक परिश्रम को और जो इस परिश्रमी जीवन से दूर हैं, उसकी आँखों को वे नहीं भाते। परिश्रम ही उसका उपास्य देव है जिसकी विरदावलि बखानता वह अघाता नहीं।[2] इस सब निन्दा-स्तुति, दोष-गुण वर्णन, और निबन्धों के शब्दों के पीछे है लेखक का देश-प्रेम। यह देश प्रेम ही है जो उससे भारतवर्ष के आलसी पंडों-संन्यासियों की निन्दा कराता है, रूढ़ियों का विरोध कराता है, विवाह प्रथाओं का समर्थन कराता है, किसान-मजदूर के जीवन की प्रशंसा कराता है और भारतवर्ष की प्राचीन पवित्रता का बिगुल बजवाता है। वह कहता है "भारत निवासियों का राज्य तो आध्यात्मिक जगत पर है।"[3] किन्तु इसी अध्यात्म की विकृति को आलस्य के रूप में पाकर भारतीय आलसी बन गए, ईश्वर और नक्षत्र की ओर देखते-देखते भौतिक जगत की समस्याओं को भूल गए। ऐसी भारतीय दशा से लेखक को टीस पहुँचती है और वह कहता है "तारा-गणों को देखते-देखते भारतवर्ष अब समुद्र में गिरा कि गिरा।[4] वर्तमान भारत के तीर्थों को देखते हुए उसे विचार आता है कि क्या मैं वास्तविक भारत निवासी बन सकता हूँ जब कि मेरे तीर्थ अपवित्र हैं।[5] यह उसकी देश प्रेम की भावना ही है।

---

१. सच्ची वीरता पृ० २६। कन्यादान पृ० ५४,५५। आचरण की सभ्यता ७१, ७२, ७५। मजदूरी और प्रेम ८३, ८५, ८६, ८७, ८८। पवित्रता १०४, १२५।
२. मजदूरी और प्रेम पृ० ७८, ८६। पवित्रता पृ० १०८, ११२।
३. पवित्रता पृ० १०३।
४. आचरण की सभ्यता पृ० ७८।
५. पवित्रता पृ० १०५।

आचार्य प्रवर पं० रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी साहित्य के इतिहास में तीन व्यक्ति ऐसे हैं जिन्होंने साहित्य की प्रवाहित धारा को नवीन मोड़ दिया है और साहित्य पर अमिट प्रभाव छोड़ा है। फलतः ये युगान्तकारी व्यक्ति कहलाते हैं। ये तीन व्यक्ति हैं—प्रातः स्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास, भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और आचार्य प्रवर पं० रामचन्द्र शुक्ल। उत्तरी भारत के हम सभी हिन्दी भाषी आज राम को भगवान् मानते हैं और भक्ति मार्ग में शरणागति एवं नाम स्मरण को प्रधानता देते हैं। यह सब गोस्वामी तुलसीदासजी के कारण हुआ। हम वाल्मीकि राम को भूल गए हैं और उसी राम को जपते हैं, जानते हैं जो रामचरित मानस का नायक है और विनय पत्रिका का भगवान है। अकेले तुलसी ने जो किया है वह सैकड़ों राजनीतिक नेता और पचीसों सुधारक नहीं कर सकते एवं हिन्दू जगत पर सब से अधिक प्रभाव तुलसी का दिखाई देता है। कुछ आलोचकों ने महाकवि केशवदास को हृदयहीन कहा है। क्यों? कहीं कवि भी हृदय हीन हो सकता है? फिर केशव जैसा ऊँचा कवि कैसे हृदय हीन होगा? जो हृदय हीन है, वह कवि बन ही नहीं सकता। तब महाकवि केशव को हृदयहीन क्यों कहा गया है? केवल तुलसी की तुलना में। रामचन्द्रिका को रामचरितमानस के सामने रख कर परीक्षा करने के कारण ही कवि श्रेष्ठ केशव को यह उपाधि प्राप्त हुई है। नहीं तो कविवर केशव बड़े ही सहृदय एवं रसिक हैं। उनकी रसिकता का प्रमाण उनका वह दोहा है जिसमें वे दुख प्रकट करते हुए कहते हैं—

चन्द्र बदनि मृग लोचनि, बाबा कहि कहि जायँ।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने नाटक धारा को ऐसा मोड़ दिया कि उसकी गति आज तक उसी प्रकार चल रही है। पारसी कम्पनियों के नाटकों एवं इन्द्र सभा नाटकों को दुत्कारते हुए उन्होंने साहित्यिक नाटकों को ऊँचा बताया। उन्होंने नाटकों के तीन विभाजन करते हुए कहा—"नाटक शब्द की अर्थ ग्राहिता यदि रंग स्थल खेल ही में की जाय तो हम इसके तीन भेद करेंगे। काव्य मिश्र, शुद्ध कौतुक और भ्रष्ट। शुद्ध कौतुक यथा—कठ पुतली वा खिलौने आदि से सभा इत्यादि का दिखलाना, गूँगे बहिरे का नाटक, बाजीगरी वा घोड़े के तमाशे में संवाद, भूत प्रेतादि की नकल और सभ्यता की अन्यान्य दिल्लगियों को कहेंगे। भ्रष्ट अर्थात् जिनमें अब नाटकत्व नहीं शेष रहा है यथा भाँड़, इन्द्रसभा, रास, यात्रा, लीला और झाँकी

आदि। पारसियों के नाटक, महाराष्ट्रों के खेल आदि यद्यपि काव्य मिश्र हैं तथापि काव्य हीन होने के कारण वे भी भ्रष्ट ही समझे जाते हैं। काव्य मिश्र नाटकों को दो श्रेणी में विभक्त करना उचित है, प्राचीन और नवीन। (भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १ परिशिष्ट में नाटक नामक निबन्ध, पृ० ७१६)

कठपुतली इत्यादि को नाटक नहीं कहना चाहिए। अतः भारतेन्दुजी के अनुसार नाटक दो ही प्रकार के हो सकते हैं—काव्य मिश्र और भ्रष्ट। काव्य मिश्र से उनका अभिप्राय है, साहित्यिक नाटक और भ्रष्ट से उनका अर्थ है संगीत-नृत्य पूर्ण प्रचलित नाटक जैसे कि इन्द्र सभा, पारसी थियेट्रीकल नाटक, रास लीला, रामलीला। बड़ा आश्चर्य है कि मराठी खेलों को भी भारतेन्दुजी ने भ्रष्ट की संज्ञा दी है। संभवतः इसका कारण है कि वे खेल संगीत-नृत्य प्रधान थे, विदूषक खड़ा रहता था और उन पर शृङ्गारी प्रभाव था। इन भ्रष्ट नाटकों के विरोध में उन्होंने काव्य मिश्र या साहित्यिक नाटकों को श्रेष्ठ माना एवं स्वयं भी साहित्यिक नाटकों का निर्माण किया। इससे जन-नाटकों और साहित्यिक नाटकों के बीच एक दीवार खड़ी हो गई। इसी का परिणाम है कि हिन्दी में साहित्यिक नाटकों की रचना अबाध गति से होती रही और दूसरी ओर हिन्दी का रंगमंच मरता रहा और इसी का फल प्रसाद के रूप में उगा जिसने साहित्यिक नाटकों के निर्माण में ही कला की इति श्री समझी।

इसी प्रकार आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य में युग निर्माण किया और साहित्य की गति को नवीन मोड़ दिया। इतिहासकार के रूप में आचार्य शुक्ल अविस्मरणीय ही नहीं अभी तक अद्वितीय हैं। किन्तु आचार्य शुक्ल का प्रबलतम रूप दिखाई देता है, निबन्ध के क्षेत्र में। पश्चिम में निबन्ध के दो प्रधान लक्षण माने गए हैं—शैथिल्य एवं वैयक्तिकता। फलतः वहाँ के निबन्धों में लेखक अपने विषय में बहुत कहता था, अपने दृष्टिकोण एवं अनुभवों को बताता चलता था। साथ ही निबन्धों में उड़ने की पूरी छूट थी, उनमें कसावट न थी। भारतेन्दु काल के निबन्धों में ये दोनों विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। आचार्य शुक्ल ने निबन्ध के मंच पर आकर उद्घोष किया—"यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।" निबन्ध को इतना ऊँचा स्थान देते हुए उन्होंने कहा कि वैयक्तिकता का प्रयोग पश्चिमी निबन्धों में अनिवार्य माना गया है, वैयक्तिकता की व्याख्या उन्होंने अपने ढंग पर की और व्यक्तित्व की व्याख्या द्वारा निबन्धों में शृङ्खला एवं कसावट की स्थापना की। वे कहते हैं—"आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृङ्खला रखी ही न जाय या जान बूझकर जगह-जगह से तोड़ दी

जाय, भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ योजना की जाय जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोकमान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा में सरकस वालों की सी कसरतें या हठयोगियों के से आसन कराए जायँ जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो। (हिन्दी साहित्य का इतिहास, आठवाँ संस्करण, पृ० ५०५)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने शैथिल्य के स्थान पर शृङ्खला एवं कसावट को स्थान दिया। अपने इतिहास में पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के निबन्धों की विवेचना करते हुए वे कसावट को महत्व देते हुए लिखते हैं "शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर कसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार खण्ड के लिए हो" (वही पृ० ५०६)। इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी विचार-प्रधान उपन्यासों को श्रेष्ठ मानते हैं और ऐसे निबन्धों की प्रधान विशेषता वे 'कसावट' में स्वीकार करते हैं। स्वयं उन्होंने ऐसे ही निबन्ध लिखे हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि पश्चिमी शैली के निबन्ध, जिनका प्रचलन भारतेन्दु युग में हुआ था, रुक कर खड़े हो गये एवं कसे हुए विचारात्मक निबन्ध अबाध गति से हाथ-पैर मारते आगे बढ़ने लगे। यह प्रभाव आज तक व्याप्त है और हिन्दी में पश्चिमी शैली के सुन्दर निबन्धों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। आचार्य शुक्ल के प्रभाव के कारण ही हिन्दी के निबन्धों से शैथिल्य प्रायः बहिष्कृत सा हो गया था और आज तक है। हाँ, हिन्दी में विचारात्मक कसे हुए निबन्धों का कोश खूब बढ़ा है, यह लाभ हुआ है। तब भी ये निबन्ध नाम की वास्तविक सत्ता से अभिषिक्त होने में कतराते हैं।

आचार्य शुक्ल के निबन्ध दो प्रकार के हैं :—

(१) मनोभावात्मक और (२) आलोचनात्मक।

मनोभावात्मक निबन्ध

आचार्य शुक्ल जी से पूर्व भी मनोभावों पर कुछ निबन्ध लिखे गये थे जिनकी संख्या इनी गिनी है। ये हैं—पं० बालकृष्ण भट्ट का आत्म निर्भरता; पं० प्रतापनारायण मिश्र का मनोयोग; पं० माधवप्रसाद मिश्र का धृति और क्षमा। ये निबन्ध साधारण हैं, इनमें साहित्यिकता नहीं है; या तो धर्म की दुहाई है अथवा लाभ हानियों की गणना है। हाँ इनमें निबन्धकार के व्यक्तित्व का भरपूर प्रसार है। इसके विपरीत शुक्लजी के मनोभावात्मक निबन्धों में विषय की प्रधानता है, साहित्यिकता है और शैली का उदात्त रूप है। ये दस निबन्ध (भाव या मनोविकार, उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय, क्रोध) मनोवैज्ञानिक निबन्ध नहीं

हैं। वरन् मनोभावों से संबंधित साहित्यिक निबंध हैं। इन मनोभावात्मक निबन्धों में भाव की उत्पत्ति, भाव क्या है, उसका विकास कैसे होता है, उस भाव के साथ अन्य भावों का क्या सम्बन्ध है, उस भाव का मानवी जीवन या समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है इत्यादि बातों पर आचार्य शुक्ल ने पैनी दृष्टि गड़ाई है। हम 'क्रोध' का उदाहरण ले लें। यदि कोई मनोविज्ञान की दृष्टि से क्रोध पर लिखता तो वह क्रोध का विश्लेषण करता हुआ, यह बताता कि क्रोध की उत्पत्ति शरीर से होती है या मन से; क्रोध उठता क्यों है; क्रोध का स्वरूप क्या है; जब क्रोध उठता है तो शरीर या मन की क्या अवस्था हो जाती है। ऐसे मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर वह प्रकाश डालता। उधर आचार्य शुक्ल ने क्रोध को जीवन, समाज और साहित्य के दृष्टिकोण से निहारा है। वे बताते हैं क्रोध का स्थान दुःख में है या सुख में, क्रोध का जीवन और समाज में क्या उपयोग या दुरुपयोग होता है, क्रोध का सामाजिक मूल्य क्या है, क्रोध किस पर आता है, साहित्य में इसके क्या-क्या रूप हैं इत्यादि। शुक्लजी का ध्यान बराबर इस ओर रहा है कि ये मनोभाव साहित्य में स्थायी एवं संचारी रूप में किस प्रकार प्राप्त होते हैं ? उदाहरण—

"वीर रस की जैसी अच्छी और परिष्कृत अनुभूति उत्साहपूर्ण उक्तियों द्वारा होती है वैसी तत्परता के साथ हथियार चलाने और रण क्षेत्र में उछलने-कूदने के वर्णन में नहीं।" (भाव या मनोविकार)

"कष्ट या हानि के भेद के अनुसार उत्साह के भी भेद हो जाते हैं। साहित्य मीमांसकों ने इसी दृष्टि से युद्ध वीर, दानवीर इत्यादि भेद किए हैं।" (उत्साह)

करुणा अपना बीज अपने आलम्बन या पात्र में नहीं फेंकती है अर्थात् जिस पर करुणा की जाती है वह बदले में करुणा करने वाले पर भी करुणा नहीं करता—जैसा कि क्रोध और प्रेम में होता है। (करुणा)

ऊपर कहा जा चुका है कि स्मृति अनुमान आदि भावों या मनोविकारों के केवल सहायक हैं अर्थात् प्रकारान्तर से वे उनके लिए विषय उपस्थित करते हैं। (करुणा)

रसकोविद लोग मुग्धा और मध्या की लज्जा का वर्णन कान में डाल कर रसिकों को आनन्द से उन्मत्त करने लगे। (लज्जा और ग्लानि)

भारतीय प्रबन्ध काव्यों की मूल प्रवृत्ति लोक जीवन से संश्लिष्ट प्रेम के वर्णन की ओर ही रही। (लोभ और प्रीति)

दया या करुणा का भाव जाग्रत रखने की इस प्रवृत्ति का प्रकर्ष फारसी या उर्दू की शायरी में विशेष रूप से पाया जाता है। (लोभ और प्रीति)

द्वेष्य मनोवेग सजातीय संयोग पाकर बहुत जल्दी बढ़ते हैं। (घृणा)

ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे प्रकट होता है कि लेखक की मानसिक पृष्ठभूमि में साहित्य में प्रयुक्त मनोभाव सदा उपस्थित हैं। यही नहीं वह बीच-बीच में साहित्य से उदाहरण देता जाता है। शील के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है, इसको स्पष्ट करते हुए लेखक तुरन्त तुलसीदास को उद्धृत करता हुआ कहता है—

सुनि सीतापति सील सुभाऊ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाऊ।

करुणा में प्रिय के सुख का अनिश्चय भी रहता है, इसकी चर्चा करते हुए वे तुलसी की गीतावली से पंक्तियां उद्धृत करते हुए कहते हैं—

बन को निकरि गए दोउ भाई।
सावन गरजै, भादौं बरसै, पवन चले पुरवाई।
कौन बिरिछ तर भीजत ह्वै है राम लखन दोउ भाई।

लज्जा और ग्लानि नामक निबन्ध में वे ग्लानि के उस रूप का स्पष्टीकरण करते हैं जहाँ किसी बुरी बात में अपना नाम जुड़ जाने से अपनी हीनता का भाव उठता है। इसका उदाहरण वे रामचरित मानस से देते हैं और भरत की ग्लानि को उपस्थित करते हैं जिस पर भरत को समझाया गया—

तात जाय जनि करहु गलानी। ईस अधीन जीव गति जानी।
तीनि काल त्रिभुवन मत मोरे। पुण्य सलोक तात तर तोरे।

लोभ और प्रीति में प्रेमी की उस मानसिक अवस्था का दिग्दर्शन कराते हुए, जब वह प्रिय पर भी प्रभाव देखना चाहता, आचार्य शुक्ल ठाकुर के छन्द को सामने रखते हैं (पृ० ८७)। सभी निबन्धों में यह बात देखने को मिलेगी। यह द्रष्टव्य है कि ऐसे उद्धरणों में तुलसी को प्रधान स्थान प्राप्त है। आचार्य शुक्ल तुलसी से ओत-प्रोत हैं। फलत हम कह सकते हैं कि आचार्य शुक्ल के मनोभावात्मक निबन्ध साहित्यिक दृष्टि से लिखे गए हैं, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नहीं।

आलोचनात्मक निबन्ध

आचार्य शुक्ल ने दो प्रकार के आलोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं। वे हैं (१) सैद्धान्तिक—कविता क्या है, साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद, रसात्मक बोध के विविध रूप, काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था। (२) आलोचनात्मक व्याख्यात्मक—तुलसी का भक्ति मार्ग, मानस की धर्म भूमि, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।

विशेषताएँ

(१) सामाजिकता—

हमने ऊपर कहा है कि तुलसी का प्रभाव आचार्य शुक्ल की नस-नस में है जो अनेक रूपों में व्यक्त हुआ है। निबन्धों में तुलसी की कविताओं की प्रधानता इसी प्रभाव को द्योतित करती है। किन्तु इससे बड़ा प्रभाव दिखाई देता है, आचार्य शुक्ल के सामाजिक दृष्टिकोण में। तुलसी की लोक मंगल भावना और मर्यादा का प्रतिबिम्ब निबन्धों में आदि से अन्त तक प्रवाहित मिलता है। अपने सभी निबन्धों में आचार्य शुक्ल समाज को ध्यान में रखकर आगे बढ़ते हैं। उदाहरण—

जिस समाज में सदाचार पर श्रद्धा और अत्याचार पर क्रोध प्रकट करने के लिए जितने ही अधिक लोग तत्पर पाए जायेंगे उतना ही वह समाज जाग्रत समझा जायगा। (श्रद्धा-भक्ति)

सदाचारी के प्रति यदि हम श्रद्धा नहीं रखते तो समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते। यदि किसी को दूसरों के कल्याण के लिए भारी स्वार्थ त्याग करते देख हमारे मुँह से "धन्य धन्य" भी न निकला तो हम समाज में रहने योग्य नहीं। (श्रद्धा-भक्ति)

यदि कहीं पाप है, अन्याय है, अत्याचार है तो उनका आशु फल उत्पन्न करना और संसार के समक्ष रखना, लोक रक्षा का कार्य है। (श्रद्धा-भक्ति)

सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है (करुणा)।

"लोक मर्यादा की दृष्टि से हमको इतनी सामर्थ्य का सम्पादन करना चाहिए कि दूसरे अकारण हमारा अपमान करने का साहस न कर सकें। समाज में रहकर मान-मर्यादा का भाव हम छोड़ नहीं सकते" (लज्जा और ग्लानि)।

"जो किसी के लिए नहीं जीते, उनका जीना न जीना बराबर है।"

(लोभ और प्रीति)

"हम उस प्रेम का अधिक मान करते हैं जो एक संजीवन रस के रूप में प्रेमी के सारे जीवन-पथ को रमणीय और सुन्दर कर देता है, उसके सारे कर्म क्षेत्र को अपनी ज्योति से जगमगा देता है।" (लोभ और प्रीति)

दुःख पहुँचाने वाले से हमें फिर दुःख पहुँचने का डर न सही, पर समाज को तो है। इससे उसे उचित दंड दे देने से पहले तो उसी की शिक्षा या भलाई हो जाती है, फिर समाज के और लोगों के बचाव का बीज भी बो दिया जाता है।" (क्रोध)

कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर

उठाकर लोक सामान्य भावभूमि पर ले जाती है। जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक सत्ता में लीन किए रहता है।" (कविता क्या है)

गृह धर्म या कुल धर्म से समाज धर्म श्रेष्ठ है, समाज धर्म से लोक धर्म, लोक धर्म से विश्व धर्म, जिससे धर्म अपने शुद्ध और पूर्ण स्वरूप में दिखाई पड़ता है।

(मानस की धर्म भूमि)

आचार्य शुक्ल ने अपना यही दृष्टिकोण स्पष्ट करने के लिए "काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था" नामक निबन्ध लिखा।

(२) विषय प्रधानता—

शुक्लजी के निबन्ध विषय प्रधान हैं अथवा व्यक्ति प्रधान, यह प्रश्न बार-बार उठा है। स्वयं शुक्लजी के ध्यान में भी यह बात निरंतर थी जब वे अपने निबन्ध लिख रहे थे। निबन्ध लिखते समय यह सोच रहे थे, क्या निबन्धों में मेरा व्यक्तित्व प्रतिफलित है? तभी तो वे निवेदन में कहते हैं "इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ कि ये निबन्ध विषय प्रधान हैं या व्यक्ति प्रधान"। शुक्लजी ऐसा क्यों सोच रहे थे? उनकी दृष्टि व्यक्ति या विषय के चक्कर में क्यों अटकी थी? इसके पीछे है पश्चिमी निबन्धकारों की वैयक्तिकता जो पश्चिमी निबन्धों में प्रधान तत्त्व मानी गई है। पश्चिम में विषय को प्रधानता प्राप्त नहीं हुई। विषय कुछ भी क्यों न हो, खरिया का टुकड़ा (A piece of chalk), बिल्लियाँ (Cats), हत्यारा (Murderer) इत्यादि, वहाँ प्रधानता मिली निबन्ध में खुली वैयक्तिकता को। पश्चिम में निबन्ध आत्म-परक अधिक थे। निबन्धकार अपने सम्बन्ध की अनेक घटनाएँ निबन्ध में भरता था। विषय का स्पर्श कर वह कहीं से कहीं पहुँच जाता था। निबन्धकार अपने जीवन से संबद्ध घटनाओं, व्यक्तियों इत्यादि को प्रमुखता देता था। वहाँ उसे ही वास्तविक निबन्ध स्वीकार किया जाता था जिसमें वैयक्तिकता का भरपूर समावेश हो और शैथिल्य भरा हो। इसी वैयक्तिकता की प्रमुखता देखकर आचार्य शुक्ल को बराबर ध्यान लगा था कि मेरे निबन्धों में पश्चिमी वैयक्तिकता कहाँ है?

शुक्लजी ने सोचा—निबन्धों में वैयक्तिकता होनी ही चाहिए। नहीं तो निबन्ध नाम की संज्ञा उन्हें प्राप्त न होगी। आचार्य शुक्ल ने वैयक्तिकता को व्यक्तित्व बनाकर उसकी व्याख्या बदल दी। उन्होंने व्यक्तित्व को भिन्न रूप दे दिया है। वे कहते हैं— आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए, जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बातें तो ठीक हैं, यदि ठीक तरह से समझी जायँ। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों

की शृङ्खला रखी ही न जाय या जान बूझकर जगह-जगह तोड़ दी जाय, भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ योजना की जाय जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोक सामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा से सरकस वालों की सी कसरतें या हठयोगियों के से आसन कराए जायँ जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।

संसार की हर एक बात और सब बातों से सम्बद्ध है। अपने-अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी सम्बन्ध सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। ये सम्बन्ध सूत्र एक दूसरे से नथे हुए पत्तों के भीतर की नसों के समान, चारों ओर एक जाल के रूप में फैले हैं। तत्त्व चिन्तक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिये उपयोगी कुछ सम्बन्ध सूत्रों को पकड़कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरों में कहीं नहीं फँसता। पर निबन्ध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ सम्बन्धी सूत्रों की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न-भिन्न लेखकों की दृष्टि पथनिर्दिष्ट करती हैं। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी सम्बन्ध सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास)

इस कथन द्वारा आचार्य शुक्ल अपने मत को स्पष्ट कर देते हैं। उनका अभिप्राय है कि वैयक्तिकता या व्यक्तित्व का प्रकाशन दो भाँति से निबन्धों में होता है—शैली द्वारा एवं लेखक के भाव-विचारों के रूप में। इन्दौर वाले भाषण से भी यही निष्कर्ष निकलता है। भाषण में उन्होंने कहा था—"काव्य समीक्षा के अतिरिक्त और प्रकार के विचारात्मक निबन्ध साहित्य कोटि में वे ही आते हैं जिनमें बुद्धि के अनुसंधान क्रम या विचार परम्परा द्वारा गृहीत अर्थों या तथ्यों के साथ लेखक के व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भाव या प्रवृत्तियाँ पूरी-पूरी झलकती हों।" उक्त दोनों बातें यहाँ भी उपस्थित हैं। व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य और कुछ नहीं लेखक की शैली है जो अपनी होती है। 'विचार परम्परा, भाव, प्रवृत्तियों' से लेखक स्पष्ट करता है कि व्यक्तित्व प्रकाशन का यह दूसरा ढंग है।

किन्तु शैली और भाव विचार तो प्रत्येक लेखक या कवि अपने रूप में देता ही है और प्रत्येक लेखक की शैली अपनी तथा दूसरों से भिन्न होती ही है। इसी प्रकार वह अपने विचार देता ही है। पश्चिमी निबंधकारों में भी बेकन और लैम्ब की शैली भिन्न है और दोनों की विचार प्रणाली भी भिन्न है। किन्तु वैयक्तिकता से पश्चिमी निबन्धकारों का अभिप्राय शैली और विचार परम्परा से न था। आचार्य

शुक्ल ने इस प्रकार वैयक्तिकता की व्याख्या बदल दी। शैली और विचार परम्परा द्वारा वैयक्तिकता का विशेष प्रकाशन नहीं माना जा सकता है। वह तो सब में है। हाँ, शुक्लजी ने कुछ स्थानों पर अपने सम्बन्ध के कुछ प्रसंगों का उल्लेख किया है। उदाहरण—

(क) एक दिन मैं काशी की एक गली से जा रहा था। एक ठठेरे की दूकान पर कुछ परदेसी यात्री किसी बरतन का मोल भाव कर रहे थे कि इतना नहीं इतना लो, तो लें। इतने ही में सौभाग्यवश दूकानदार जी को ब्रह्मज्ञानियों के वाक्य याद आ गये और उन्होंने चट कहा—"माया छोड़ो और इसे ले लो।"

(श्रद्धा और भक्ति)

(ख) लोभ और प्रीति नामक निबन्ध में आचार्य शुक्ल अपने एक लखनवी मित्र के साथ अपनी यात्रा की चर्चा करते हुए कहते हैं—"मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत सुन्दर एक छोटी-सी पहाड़ी के ऊपर है। नीचे एक छोटा-सा जंगल है जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत से हैं। संयोग से उन दिनों पुरातत्त्व विभाग का कैंप पड़ा हुआ था। रात हो जाने से हम लोग उस दिन स्तूप नहीं देख सके। सवेरे देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे। वसन्त का समय था। महुए चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—"महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है।" इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोक कर कहा—"यहाँ महुए-सहुए का नाम न लीजिए। लोग देहाती समझेंगे।" मैं चुप हो गया, समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।

ऐसे दो चार आत्म-परक प्रसंग हैं। किन्तु इन इने-गिने प्रसंगों से हम यह सिद्ध नहीं कर सकते कि निबन्धों में वैयक्तिकता की प्रधानता है। हाँ व्यक्ति परक कुछ उल्लेख अवश्य हैं। इसी प्रकार शुक्ल जी ने बीच-बीच में रुककर यह कहा है कि मेरा विचार यह है। उदाहरण—

(क) प्रतिभा से मेरा अभिप्राय अन्तःकरण की उस उद्भाविक क्रिया से है जिसके द्वारा कला, विज्ञान आदि नाना क्षेत्रों में नई-नई बातें या कृतियाँ उपस्थित की जाती हैं। (श्रद्धा और भक्ति)

(ख) मेरे विचार के अनुसार सदा सत्य बोलना, बड़ों का कहना मानना आदि नियम के अन्तर्गत हैं, शील या सद्भाव के अन्तर्गत नहीं। (करुणा)

(ग) मेरा यह कहना नहीं है कि परस्पर की सहायता का परिणाम प्रत्येक का कल्याण नहीं है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि संसार में एक दूसरे की भी सहायता विवेचना द्वारा निश्चित इस प्रकार के दूरस्थ परिणाम पर दृष्टि रख कर नहीं की जाती, बल्कि मन की स्वतः प्रवृत्त करने वाली प्रेरणा से की जाती है। (करुणा)

(घ) पर मुझे तो यहाँ यह देखना है कि बात-बात में लज्जा करने वालों की मनोवृत्ति कैसी होती है, उनके चित्त में समाई क्या है। (लज्जा और ग्लानि)

ऐसे कथनों से प्रकट होता है कि लेखक अपने विचार दे रहा है। इन उद्धरणों के बल पर हम यह नहीं कह सकते कि इनसे निबन्धों में वैयक्तिकता का प्रकाश हुआ। विचार प्रधान निबन्धों में आदि से अन्त तक विचारों का ताँता बंधा रहता है। शुक्लजी के निबन्ध ऐसे ही हैं। ऊपर उद्धृत इन्दौर वाले भाषण, हिन्दी साहित्य के इतिहास एवं चिन्तामणि के निबन्धों से स्पष्ट है कि शुक्लजी विचारात्मक निबंधों को उत्तम मानते हैं। विचारात्मक निबन्धों में आरम्भ से अन्त तक विचार श्रृंखला कसी रहती है। जब विचारों का समावेश निबन्धों में आरम्भ से अन्त तक है तो उन विचारों को चाहे लेखक प्रत्यक्ष रूप से कह कर प्रकट करे और चाहे परोक्ष रूप से कहता चला जाये। यह भी शुक्लजी की शैली है कि वे बीच-बीच में कहते चलते हैं कि मेरा विचार यह है। विचार तो सर्वत्र भरे हैं, कहीं वे स्पष्टतया प्रकट कर देते हैं कि मैं अपना विचार दे रहा हूँ। आत्म परक इने गिने प्रसंगों एवं स्वकीय विचार व्यक्त करने वाली शैली के कुछ उदाहरणों में लेखक का व्यक्तित्व मान भी लें, तब भी इससे यह सिद्ध नहीं होता कि चिन्तामणि के निबन्ध व्यक्ति-प्रधान हैं। नहीं, वे विषय प्रधान ही हैं।

(३) कसावट—

आचार्य शुक्ल निबन्ध को गद्य की कसौटी मानते हैं तो निबन्धों में विचारात्मक निबन्धों को उत्तम समझते हैं। विषय प्रधान निबन्ध, विचारात्मक बन ही जाते हैं। विचारात्मक निबन्धों में 'कसावट' होनी चाहिए, आचार्य शुक्ल का यह भी मत है। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के विचारात्मक निबन्धों की आलोचना करते हुए वे कहते हैं—"शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबदबाकर कसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खंड को लिए हो।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, २००६ पृ० ५०६)

आचार्य शुक्ल ने अपने निबन्धों में अद्भुत कसावट दिखाई है। उन्होंने समास शैली को अपनाया है। समास शैली में थोड़े शब्दों द्वारा बहुत कुछ कह दिया जाता है। ऐसी शैली का उत्पादन सरल नहीं है। बिहारी की शैली यही है। आचार्य शुक्ल भी थोड़े पर सबल शब्दों में अपने विचार व्यक्त करते चलते हैं। यह संक्षेप यहाँ तक बढ़ गया है कि वाक्यों ने सूत्रों का रूप ग्रहण कर लिया है। उदाहरण—

"श्रद्धा का व्यापार स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकान्त।"

"प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार।"

"यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण।"

"प्रत्येक प्राणी के लिए उससे भिन्न प्राणी संसार है।"

"गुण प्रत्यक्ष नहीं होता, उसके आश्रय और परिणाम प्रत्यक्ष होते हैं।

"मनोवेग वर्जित सदाचार दम्भ या झूठी कवायद है।"

"लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख।"

इन सूत्र-वाक्यों में अर्थ-गौरव भरा पड़ा है।

इसी शैली की हैं आचार्य शुक्ल की परिभाषाएँ जिनकी व्याख्या करने में पृष्ठ के पृष्ठ रंगे जा सकते हैं। कुछ उदाहरण—

(क) विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। (लोभ और प्रीति)

(ख) किसी मनुष्य में जन साधारण से विशेष गुण वा शक्ति का विकास देख उसके सम्बन्ध में जो एक स्थायी आनन्द पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है, उसे श्रद्धा कहते हैं। (श्रद्धा और प्रीति)

(ग) जब बच्चे को सम्बन्ध ज्ञान कुछ-कुछ होने लगता है तभी दुःख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं। (करुणा)

(घ) दूसरों के चित्त में अपने विषय में बुरी यह तुच्छ धारणा होने के निश्चय या आशंका मात्र से वृत्तियों का जो संकोच होता है—उनकी स्वच्छन्दता के विधान का जो अनुभव होता है—उसे लज्जा कहते हैं। (लज्जा और ग्लानि)

वाक्य निर्माण की इसी शैली से आचार्य शुक्ल वाक्य शृंखला का निर्माण करते हैं। उनके वाक्य एक दूसरे का हाथ दृढ़ता से पकड़े हुए आते और जाते हैं। परिणाम है कि प्रत्येक पैरा कस गया है। कोई भी पैरा उठा कर इस कथन का निरीक्षण किया जा सकता है।

(४) निगमन शैली—

पैरा बनाने की दो शैलियाँ हैं—आगमन शैली और निगमन शैली। आगमन शैली का अर्थ है कि निष्कर्ष का आगमन कराया जाय। इस शैली के अन्तर्गत लेखक कुछ उदाहरण रखता है या कुछ विचार देता है और फिर अन्त में निष्कर्ष निकालता है, सिद्धान्त प्रतिपादित करता है अथवा पैरे के केन्द्रीय विचार उपस्थित करता है। एक उदाहरण लें। एक लेखक लिखता है—क्या हम उसे पशु मात्र कहेंगे? नहीं, नहीं। भारतीय जीवन का आर्थिक ढाँचा उसी पर खड़ा था। उसे मां का स्थान दिया गया है। प्रत्येक हिन्दू प्रातः काल उठकर उसका दर्शन करता है। उसके गोबर से घर लीपे जाते हैं और गोमूत्र का महत्त्व वैद्यक ग्रंथों में भरा है। उसके चार थनों में चार सुधा कलश रक्खे हैं। उसकी पूँछ साधारण पशुओं की पूँछ नहीं है, वह तो मरने के बाद वैतरणी नदी की नाव बनती है। जानते हैं वह श्रद्धा और भक्ति का

पात्र कौन है ? वह है गाय। इसमें पैरे का केन्द्रीय विचार या निष्कर्ष अन्त में आया है। यही है आगमन शैली।

निगमन शैली में पैरे के आरम्भ में सूत्र वाक्य या परिभाषा या केन्द्रीय-विचार दिया जाता है और तब उसकी व्याख्या की जाती है। अनेक उदाहरणों से वस्तु, व्यक्ति, विचार या परिभाषा को स्पष्ट किया जाता है। गाय वाले उदाहरण में यदि हम पहिले गाय का नाम लेकर या गाय की परिभाषा देकर उसके हानि लाभ गिनाएँ, श्रद्धा के उदाहरण रक्खें तो यह निगमन शैली कही जायगी। आचार्य शुक्ल ने इसी शैली को प्रधानतया अपनाया है। किसी भी पैरे को उठाकर इस शैली के दर्शन किये जा सकते हैं। उदाहरण—

(क) किसी मनुष्य में जन साधारण से विशेष गुण या शक्ति का विकास देख उसके सम्बन्ध में जो एक स्थायी आनन्द पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा महत्त्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य बुद्धि का संचार है। यदि हमें निश्चय हो जायगा कि कोई मनुष्य बड़ा वीर, बड़ा सज्जन, बड़ा गुणी, बड़ा दानी, बड़ा विद्वान्, बड़ा परोपकारी वा बड़ा धर्मात्मा है तो वह हमारे आनन्द का एक विषय हो जायगा। हम उसका नाम आने पर प्रशंसा करने लगेंगे, उसे सामने देख आदर से सिर नवा लेंगे, किसी प्रकार का स्वार्थ न रहने पर भी हम सदा उसका भला चाहेंगे, उसकी बढ़ती से प्रसन्न होंगे और अपनी पोषित आनन्द-पद्धति में व्याघात पहुँचने के कारण उसकी निंदा न सह सकेंगे। (श्रद्धा और भक्ति)

उक्त पैरे में पहिले श्रद्धा की परिभाषा दी है और फिर उसकी व्याख्या की है एवं उदाहरण दिये गये हैं।

(ख) मनुष्य लोक बद्ध प्राणी है इससे वह अपने को उनके कर्मों के गुण दोष का भी भागी समझता है जिनसे उसका सम्बन्ध होता है, जिसके साथ में वह देखा जाता है। पुत्र की अयोग्यता और दुराचार, भाई के दुर्गुण और असभ्य व्यवहार आदि का ध्यान करके भी दस आदमियों के सामने सिर नीचा होता है। यदि हमारा साथी हमारे सामने किसी तीसरे आदमी से बातचीत करने में भारी मूर्खता का प्रमाण देता है, भद्दी और ग्राम्य भाषा का प्रयोग करता है, तो हमें भी लज्जा आती है। मैंने कुत्ते के कई शौकीनों को अपने कुत्ते की बदतमीजी पर शरमाते देखा है। जिसे लोग कुमार्गी जानते हैं, उसके साथ यदि हम कभी देव मंदिर के मार्ग पर भी देखे जाते हैं तो सिर झुका लेते हैं या बगलें झाँकते हैं। बात यह है कि जिसके साथ हम देखे जाते हैं उसका हमारा कितनी बातों में कहाँ तक साथ है, दूसरों को इसके अनुमान की पूरी स्वच्छन्दता रहती है, उनकी कल्पना की कोई सीमा हम तत्काल बाँध नहीं सकते। (लज्जा और ग्लानि)

उक्त पैरे के आरंभ में एक सिद्धान्त-वाक्य देकर फिर अनेक उदाहरणों से उसकी पुष्टि की गई है।

(५) तत्सम प्रधानता—

आचार्य शुक्ल के निबन्धों में संस्कृत शब्दों की बहुलता है। ऊपर जितने भी उद्धरण लिखे गए हैं उन सबसे प्रमाणित होता है कि तत्सम अर्थात् संस्कृत शब्दों की अधिकता है। गंभीर चिन्तन और बौद्धिकता में संस्कृत-प्रधानता स्वतः ही आ जाती है। तत्सम शब्दों की प्रधानता होते हुए भी आचार्य शुक्ल ने डा० श्याम सुन्दर दास की नाईं उर्दू शब्दों का बहिष्कार नहीं किया है और मुहावरों का प्रयोग भी यत्र-तत्र किया है। हाँ, उन्होंने उन्हीं उर्दू फ़ारसी शब्दों का प्रयोग किया है जो सरल और सुबोध हैं। उदाहरण—

उर्दू-फ़ारसी शब्द—

बाजार खुशामद इमारत, मिहनत, बल्कि, नमूना, बारीकी, हद, तारीफ़, सनकी, जवाब, चीज, नक़ल, सफ़ाई, ख़ूब, क़ानून, हासिल, हरदम, जोर, ख़ूब, दुरुस्त लत, ख़ैर, क़लई, मात, इत्यादि।

मुहावरे—

लत पड़ जाती है, बाँह पकड़ना, हाथ फेरना, फूलने लगता है, मात करें, अंग में नहीं लगता, घड़ों पानी पड़ना, चुल्लूभर पानी में डूबना, छोटा मुँह बड़ी बात, इत्यादि।

(६) व्यंग्य-विनोद—

कसावट, बौद्धिकता और तत्समता के प्रयोग से यह अनुमान किया जा सकता है कि निबंधों में नीरसता आ गई होगी। किन्तु ऐसी बात नहीं है। आचार्य शुक्ल ने इस नीरसता को दो प्रकार से दूर किया है; (१) व्यंग्य-विनोद की बौछारों से एवं (२) काव्यात्मक उक्तियों के प्रवाह से। शुक्लजी के व्यंग्य बड़े मार्मिक हैं और गहरी चोट करते हैं एवं उनके विनोद-छींटे गुदगुदाते हैं।

व्यंग्य—

(क) थोड़े दिन हुए किसी लेखक ने कहीं पढ़ा कि प्रतिभाशाली लोग कुछ उग्रता और पागलपन लिये होते हैं। तबसे वे बराबर अपने में इन दोनों शुभ लक्षणों की स्थापना के यत्न में लगे रहते हैं। सुनते हैं कि पहले में वे कुछ कृतकार्य्य भी हुए हैं पर पागलपन की नकल करना कुछ हँसी खेल नहीं, भूल-चूक से कुछ समझदारी की बात मुँह से निकल जाती है।

(ख) ये अनेक रूपों में दिखाई पड़ते हैं। कोई गेरुआ वस्त्र लपेटे धर्म का

डंका पीटता दिखाई देता है; कोई देश हितैषिता का लम्बा चोंगा पहने देशोद्धार की पुकार करता पाया जाता है।

(ग) लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता। लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं; सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान-अपमान में समान भाव रखते हैं। अब और चाहिए क्या ? जिससे वे कुछ पाने की आशा रखते हैं; वह यदि उन्हें दस गालियाँ भी देता है तो उनकी आकृति पर न रोष का कोई चिह्न प्रकट होता है न मन में ग्लानि होती है। न उन्हें मक्खी चूसने में घृणा होती है और न रक्त चूसने में।

(६) हास्य-विनोद—

(क) श्रीकृष्ण ने कर्म मार्ग से फलासक्ति की प्रबलता हटाने का बहुत ही स्पष्ट उपदेश दिया; पर उनके समझाने पर भी भारतवासी इस वासना से ग्रस्त होकर कर्म से तो उदासीन हो बैठे और फल के इतने पीछे पड़े कि गर्मी में ब्राह्मण को एक पेठा देकर पुत्र की आशा करने लगे; चार आने रोज का अनुष्ठान कराके व्यापार में लाभ, शत्रु पर विजय, रोग से मुक्ति, धनधान्य की वृद्धि तथा और भी न जाने क्या-क्या चाहने लगे। (उत्साह)

(ख) संगीत के दाँव-पेंच देखकर हठयोग की याद आती है। जिस समय कोई कलावन्त पक्का गाना गाने के लिए आठ अंगुल मुँह फैलाता है और "आ-आ" विकल होता है, उस समय बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है। (श्रद्धाभक्ति)

(ग) इसी बात का विचार करके सलाम-साधक लोग हाकिमों से मुलाकात करने के पहले अर्दलियों से उनका मिजाज पूछ लिया करते हैं। (उत्साह)

(घ) मोटे आदमियो ! तुम जरा-सा दुबले हो जाते—अपने अंदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता। (लोभ और प्रीति)

(७) सरसता या काव्यात्मकता—

बौद्धिक कसी शैली की नीरसता को दूर करने में शुक्लजी के "हृदय" ने बड़ा हाथ बँटाया है। 'निवेदन' में आचार्य शुक्ल ने लिखा है "इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ-कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँचती है, वहाँ हृदय थोड़ा बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धि पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है।" इस कथन से स्पष्ट है कि शुक्लजी निबन्ध के क्षेत्र में यथावसर भावात्मक या हास्यात्मक कथन करते रहे हैं।

ये सरस पंक्तियाँ हैं रेगिस्तान के मध्य नखलिस्तान, ऊसर भूमि में गुलाब की क्यारियां या सागर के बीच स्वर्ण-द्वीप। इनसे निबन्धों में सरसता और मोहकता आ गई है। उदाहरण—

(क) जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है; जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो आँख भर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणय-सौरभ-पूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोंपड़ों के भीतर क्या हो रहा है वे यदि दस बने ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बता कर देश प्रेम का दावा करें, तो उनसे पूछना चाहिए कि "भाइयो! बिना परिचय का यह प्रेम कैसा? जिनके सुख दुख के तुम कभी साथी न हुए उन्हें तुम सुखी देखा चाहते हो, यह समझते नहीं बनता। (लोभ और प्रीति)

(ख) कोमलांगी सीता, अपने प्रिय पति की विशाल भुजाओं और कन्धे के ऊपर निकली हुई धनुष की वक्रकोटि पर मुग्ध निविड़ और निर्जन काननों में निःशंक विचर रही हैं। खर-दूषण की राक्षसी सेना कोलाहल करती आ रही है। राम कुछ मुसकराकर एक बार प्रेम भरी दृष्टि से सीता की ओर देखते हैं; फिर वीर दर्प से राक्षसों की ओर दृष्टि फेर कर अपना धनुष चढ़ाते हैं। उस वीर दर्प में कितनी उमंग, कितना उत्साह, कितना माधुर्य्य रहा होगा। (लोभ और प्रीति)

(ग) "यदि अपने भावों को समेट कर मनुष्य अपने हृदय को शेष सृष्टि से किनारे कर ले या स्वार्थ की पशुवृत्ति में ही लिप्त रखे तो उसकी मनुष्यता कहाँ रहेगी? यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के बीच घूम-घूम कर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनों, मंजरियों से लदी हुई अमराइयों और पट पर के बीच खड़ी झाड़ियों को देख क्षण भर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनन्दोत्सव में उसने योग न दिया; यदि खिले हुए फूलों को देख वह न खिला, यदि सुन्दर रूप सामने पाकर अपनी भीतरी कुरूपता का उसने विसर्जन न किया; यदि दीन दुखी का आर्तनाद सुन वह न पसीजा, यदि अनाथों अबलाओं पर अत्याचार होते देख क्रोध में न तिलमिलाया, यदि किसी वेढब और विनोद-पूर्ण दृश्य या उक्ति पर न हँसा, तो उसके जीवन में रह क्या गया?" (कविता क्या है)

काव्यात्मक सरसता लाने के ही लिए लेखक ने बीच-बीच में कविताओं का प्रयोग किया है। श्रद्धा-भक्ति नामक निबन्ध में भक्त भगवान् से दाक्षिण्य चाहता है। इसके उदाहरण में रसखान का प्रसिद्ध सवैय्या "मानुष हौं तो वही रसखान" उद्धृत किया गया है। इसी प्रकार आगे शील का प्रभाव दिखाते हुए तुलसी की पंक्तियों को उद्धृत किया गया है—

सुनि सीता पति सील सुभाऊ।

मोद न मन, तन पुलक, नयन जल, सो नर खेहर खाऊ। (श्रद्धा भक्ति)

'करुणा' नामक निबन्ध में लेखक प्रिय के सुख के अनिश्चय की चर्चा करते हुए उदाहरण रूप में तुलसी की गीतावली से निम्न पंक्तियाँ उद्धृत करता है—

बँन को निकरि गये दोउ भाई

सावन गरजै, भादों बरसै, पवन चलै पुरवाई।

कौन विरिछ तर भींजत ह्वै हैं राम लखन दोउ भाई॥

प्रायः सभी निबन्धों में काव्यात्मक पंक्तियाँ ढूँढ़ी जा सकती हैं।[1] इनमें भी तुलसी की कविता-पंक्तियों के प्रति लेखक का अधिक मोह है, यह स्पष्टतया देखा जा सकता है।

(८) भाषणात्मक शैली—

आचार्य शुक्ल ने अपने निबन्धों के मध्य भाषणात्मक शैली का भी प्रयोग किया है। यह दो रूपों में प्राप्त होती है (१) सम्बोधन रूप में और (२) उत्तेजनात्मक वाक्यों के रूप में।

सम्बोधन—स्थान-स्थान पर आचार्य शुक्ल सम्बोधनात्मक शब्दों और वाक्यों का प्रयोग करते चलते हैं। उदाहरण—

(क) सामाजिक महत्त्व के लिए आवश्यक है कि या तो आकर्षित करो या आकर्षित हो।

(ख) मोटे आदमियों! तुम जरा दुबला हो जाते—अपने अंदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता।

(ग) लोभियो! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय निग्रह, तुम्हारी मानापमान समता, तुम्हारा तप, अनुकरणीय है।

(घ) सोचिए तो! काशी ऐसा पुण्य क्षेत्र! यहाँ न माया छोड़ी जायगी तो कहाँ छोड़ी जायगी।

उत्तेजनात्मक वाक्य—

व्याख्यानदाता कभी-कभी प्रभाव डालने के लिए ऐसे वाक्यों का प्रयोग करता है जो उत्तेजना पैदा करें। वह कहता सुना जाता है—यदि सरकार चीन पर

---

१. चिन्तामणि भाग १, (१९५१) पृ० ४८, ४९, ५०, ६२, ६४, ७२, ७७, ८४, ८७, ९२, ९५, १०१, ११७, १४८, १५२, १५३, १५४, १५५, १६४, १६९, १७०, १७२, १७३, १७५, १७८, १९०, १९३, १९४, १९५, १९६, १९८, १९९, २०२, २०३, २०४, २०५, २०६, २१०, २१९, २४५, २५६, २७० ।

आक्रमण कर दे, यदि वह भारत को दृढ़ कर दे, यदि वह गद्दारों का दमनकर दे, यदि वह भ्रष्टाचार और लाल फीते का उन्मूलन कर दे तो मैं साष्टांग प्रणाम करूँगा। आचार्य शुक्ल ने भी इस प्रकार की शैली अपनाई है। उदाहरण :—

(क) यदि मनुष्य समाज में सबके लक्ष्य भिन्न-भिन्न होते तो लोभ को बुरा कहने वाले कहीं न मिलते। यदि एक साथ रहने वाले दस आदमियों में से कोई गाय बहुत चाहता, कोई घोड़ा, कोई कपड़ा, कोई ईंट, कोई पत्थर, कोई सोना, कोई चाँदी, कोई ताँबा, और इन वस्तुओं में से किसी को शेष सब वस्तुओं को प्राप्त कराने की कृत्रिम शक्ति न दी जाती, तो एक के लोभ से दूसरे को कोई कष्ट न पहुँचता।

(लोभ और प्रीति)

(ख) जो लोभ और मान अपमान के भाव को, करुणा और दया के भाव को, न्याय-अन्याय के भाव को, यहाँ तक कि अपने कष्ट निवारण या सुख भोग की इच्छा तक को दबा दे, वह मनुष्यता कहाँ तक रहने देगा ? जो अनाथ विधवा का सर्वस्व हरण करने के लिये कुर्क अमीन लेकर चढ़ाई करते हैं, जो अभिमानी धनिकों की दुतकार सुनकर त्योरी पर बल नहीं आने देते, जो मिट्टी में रुपया गाढ़ कर न आप खाते हैं न दूसरों को खाने देते हैं, जो अपने परिजनों का करुण क्रन्दन सुनकर भी रुपये गिनने में लगे रहते हैं वे अधमरे होकर जीते हैं। (लोभ और प्रीति।

(६) अध्यापकीय शैली—

आचार्य शुक्ल अध्यापक थे। उस पर वे बुद्धि प्रधान कसे निबन्ध लिख रहे थे। अतः बीच-बीच में वे अपने भाव को अध्यापकों की नाईं प्रकारान्तर से स्पष्ट करते चलते हैं। लिखते-लिखते उन्हें ध्यान आता है कि स्यात् भाव या विचार स्पष्ट न हुआ हो। वे तुरन्त कह देते हैं—सारांश यह है, मेरा अभिप्राय यह है, ऊपर के अवतरण से स्पष्ट है, जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे स्पष्ट है इत्यादि। सभी निबन्धों में ऐसे स्थल प्राप्त हो जायेंगे।[1] कुछ उदाहरण हैं—

(क) सारांश यह कि श्रद्धा से दृष्टि पहले कर्मों पर से होती हुई श्रद्धेय तक पहुँचती है। (श्रद्धा और प्रीति)

(ख) सारांश यह कि करुणा की प्राप्ति के लिए पात्र में दुःख के अतिरिक्त और किसी विशेषता की अपेक्षा नहीं। (करुणा)

१. चिन्तामणि, प्रथम भाग (१९५१) पृ० ७, १०, ३३, ४५, ४८, ५२, ५७, ६१, ६२, ६५, ८६, १४२, १५८, १८८, २०३, २११, २२४, २५३.

(ग) मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि संसार में एक दूसरे की भी सहायना विवेचना द्वारा निश्चित इस प्रकार के दूरस्थ परिणाम पर दृष्टि रखकर नहीं की जाती। (करुणा)

(घ) जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे यह स्पष्ट है कि काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेम भाव की कोमल व्यंजना में ही नहीं माना जा सकता जैसा कि टाल्सटाय के अनुयायी या कुछ कलावादी कहते हैं। *(काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था)*

इस विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शुक्ल हिन्दी के निबन्ध जगत में एक शक्ति के रूप में प्रकट हुए और उन्होंने निबन्ध सरिता को बल पूर्वक विशेष दिशा में मोड़ दिया। उनकी शैली आज तक निबन्ध जगत में अद्वितीय और अनुकरणीय बनी हुई है। इसी कारण आज भी अत्यंत ऊँचे आसन पर बैठे हुए वे निर्देश या संकेत दे रहे हैं।
